University of Mysore.

[Orien]tal Library Publications.

[S]ANSKRIT SERIES No. 71.

# सरस्वतीविलासः

## व्यवहारकाण्डः

श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराजविरचितः.



THE

# SARASVATIVILASA

OF

SRI PRATAPARUDRAMAHADEVA MAHARAJA

## VYAVAHARAKANDA

EDITED BY

ARTHASASTRA-VISARADA, VIDYALANKARA

DR. R. SHAMA SASTRY, B.A., PH.D., M.R.A.S.,

*Curator, Government Oriental Library, Mysore; Director of Archæological Researches in Mysore; Periodical Lecturer to the Post-Graduates' Classes of the Calcutta University, and B.B.R.A.S.' Campbell Memorial Medalist.*

MYSORE

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS

1927

Rs. 2-8-0

# University of Mysore.

Oriental Library Publications.
SANSKRIT SERIES No. 71.

# सरस्वतीविलासः

## व्यवहारकाण्डः

श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराजविरचितः.

University of Mysore.

Oriental Library Publications.
SANSKRIT SERIES No. 71.

# सरस्वतीविलासः

## व्यवहारकाण्डः

श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराजविरचितः.

THE

# SARASVATIVILASA

OF

SRI PRATAPARUDRAMAHADEVA MAHARAJA

## VYAVAHARAKANDA

EDITED BY

ARTHASASTRA-VISARADA, VIDYALANKARA
DR. R. SHAMA SASTRY, B.A., PH.D., M.R.A.S.,
*Curator, Government Oriental Library, Mysore; Director of Archæological Researches in Mysore; Periodical Lecturer to the Post-Graduates' Classes of the Calcutta University, and B.B.R.A.S. Campbell Memorial Medalist.*

MYSORE
PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS
1927

सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डस्य



# विषयसूचनी.

---

विषयाः—　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठसङ्ख्याः,

विषयाः— पृष्ठसङ्ख्याः

# सरस्वतीविलासस्य शोधनपत्रम्.

| पृ. | प. | अशुद्धं | शुद्धं |
|---|---|---|---|
| 2 | 12 | शाक | शोक |
| 4 | 18 | रामकवि | कामगवी (पा) |
| ,, | 21 | कल्प | तल्प |
| 5 | 1 | मख | सख |
| ,, | 2 | ससादि | समिति (पा) |
| ,, | 4 | धामा | वक्रः (पा) |
| ,, | 7 | सनः | ननः |
| 6 | 10 | वती | मदा |
| 7 | 4 | ग्रणीं | ग्रणीः |
| 8 | 7 | द्वै | द्वै |
| ,, | 13 | रुद्र प्र | रुद्रः प्र |
| ,, | 15 | धेनु क | धेनुः क |
| ,, | 18 | रातरो | रितरो |
| 11 | 16 | कुलन्मा | कुलसन्मा |
| ,, | 19 | कटिक | कटक |
| 12 | 1 | विलासः | ल्लासः |
| ,, | 4 | अमा | अमी |
| ,, | 6 | वी | वा |
| 13 | 15 | वो | बो |
| ,, | 16 | जाबा | जाबालि |
| ,, | 17 | काष्ण | कार्ष्ण |
| ,, | 17 | शतं नु | शंतनु |
| 15 | 11 | प्रथमं व्यवहार | व्यवहार |
| 19 | 13 | शोण | शेषेण |
| 21 | 3 | शन्त्यादि | शान्त्यादि |

| पृ. | पं. | अशुद्धं | शुद्धं |
|---|---|---|---|
| 21 | 6 | तत्वाज्ञयो | ताज्ञयो |
| 22 | 5 | पूर्वापर | न पूर्वापर |
| ,, | 18 | मौल्या | मौला |
| ,, | 19 | मौल्या | मौला |
| 23 | 1 | ,, | ,, |
| ,, | 3 | ,, | ,, |
| ,, | 9 | ,, | ,, |
| ,, | 16 | सिद्धय | सिद्धये |
| 26 | 6 | धन | दान |
| 27 | 5 | नवैतेर | नैवेतर |
| 28 | 17 | तत्र | तत्रतत्र |
| 29 | 6 | निहन्या | नहन्या |
| 30 | | 29 | 30 |
| ,, | 11 | प्रातकाल | प्रातःकाल |
| ,, | 19 | वाणवेष | वणिग्वेष |
| 32 | 21 | प्रातिर्वि | प्रतिवि |
| 33 | 20 | श्योऽअधिकं | श्योऽधिकं |
| 37 | 18 | विजगीष्वरि | विजिगीष्वरि |
| 39 | 20 | विजिगीषेस्तु | विजिगीषोस्तु |
| 40 | 1 | पञ्ञ | पञ्च |
| 41 | 2 | विंशत्त्यु | विंशत्यु |
| ,, | 10 | वल्यादि | वल्कयादि |
| ,, | 12 | उशनाः | उशना |
| 44 | 19 | मर्माणिः | मर्माणि |
| 45 | 8 | मध्यान्हे | मध्याह्ने |
| ,, | 13 | परीक्षिता | परीक्षिताः |
| ,, | 16 | प्रसादने | प्रसाधने |
| 46 | 13 | त्वान् | त्वात् |
| 47 | 15 | वशाद्धि | वशाद्धि |

| पृ. | पं. | अशुद्धं | शुद्धं |
|---|---|---|---|
| 47 | 23 | विक्रया | विक्रयविक्रीया |
| 48 | 5 | सङ्ग | संग्र |
| ,, | 13 | नादाने उप | णादानं--उप |
| 50 | 14 | विपारिवृत्ति | परिवृत्ति |
| ,, | 18 | अधिः | आधिः |
| ,, | 21 | त्येवपरं | त्येवम्परं |
| 51 | 22 | निबन्धनसा | निबन्धनत्वं ; सा |
| 52 | 17 | तथवा | तथैवा |
| 53 | 1 | अतस्तद्वाक्यस्यापि | अतस्तद्व्याख्येयस्यापि |
| ,, | 19 | भृत | भूत |
| 57 | 1 | ध्वजनी | ध्वजिनी |
| ,, | 21 | समाख्यं | समाह्वयाख्यं |
| 59 | 3 | विद्धो | विरुद्धो |
| ,, | 6 | सरणने | सरणेन |
| 60 | 5 | ततो | ततः |
| ,, | 12 | लेख्यं | लेख्यस्य |
| 61 | 18 | क्रियापादो भेदोनाम | क्रियापादोनाम |
| 62 | विलासः | | ल्लासः |
| ,, | 20 | त्वात् । चतुष्पा | त्वात् चतुष्पा |
| ,, | ,, | पक्षे । प्रत्या | पक्षे प्रत्या |
| ,, | 21 | वादः | पादः |
| 71 | 13 | द्विगतिसमु | द्विगतिस्समु |
| 77 | 6 | अत्रायमाक्रोश आसेधानन्तरं. इतिपङ्क्तिः [तुरीयोल्लासस्यादौ निवेशनीया. | |
| ,, | 77 | क्षणादे | क्षणादेः |
| 81 | 12 | षारु | पारु |
| 83 | 21 | पीडाऽवेऽक्षणं | पीडावेक्षणं |
| 84 | 12 | पूर्ववेदना | पूर्वावेदना |
| 97 | 7 | र्वेण | वर्ण |

| पृ. | पं. | अशुद्धं | शुद्धं. |
|---|---|---|---|
| 98 | 11 | शेषः | विशेषः |
| 108 | 2 | तत्र | न तत्र |
| 112 | 1 | धरणावि | धरणीव |
| 125 | 13 | गमेषु—ब्रा | गमेषु ब्रा |
| 126 | 21 | रनुपन्नैव | रनुपपन्नैव |
| 130 | 21 | भोगाऽऽख्य | भोगाख्य |
| 131 | 7 | मवाऽऽप्नु | मवाप्नु |
| 137 | 12 | इति । अत एव | अतएव |
| ,, | 17 | प्रतिषेधस्या | प्रतिषेधस्स्या |
| 143 | 17 | अन्यत्रेथेत्या | अन्यत्रेत्या |
| 148 | 4 | दौराम्यात् | दौरात्म्यात् |
| 157 | 4 | जीबिनः | जीविनः |
| 163 | 11 | क्रम | क्रय |
| 163 | 17 | यो भु बहू | यो भुङ्क्ते बहू |
| 166 | 14 | यागः | त्यागः |
| 167 | 15 | अभियुक्त | अभियोक्ता |
| ,, | 22 | लक्षणाम् | लक्षणम् |
| ,, | 24 | मासकम् | माषकम् |
| 168 | 18 | शर्षिक | शीर्षक |
| 169 | 11 | धानादि | दानादि |
| 170 | 24 | आग्ने | अग्ने |
| 171 | 15 | जात्यापेक्षया | जात्याद्यपेक्षया |
| 181 | 21 | कोरण | कारेण |
| 185 | 18 | हस्तौ | हस्तो |
| 186 | 13 | निकटं | विकटं |
| 192 | 11 | रोपण | रोपणं |
| 193 | 18 | त्वैन्द्र | त्विन्द्र |
| 195 | 10 | विमुदित | विमृदित |
| ,, | 13 | संप्त | सप्त |

| पृ. | पं. | अशुद्धं | शुद्धं |
|---|---|---|---|
| 197 | 23 | सन्दशैः | सन्दंशैः |
| 204 | 15 | चक्षण | भक्षण |
| 206 | 13 | कान्तं | कोक्तं |
| ,, | 14 | कृस्वा | कृत्वा |
| 207 | 19 | कुत्सिकम् | कुत्सितम् |
| 210 | 2 | पितस्महः | पितामहः |
| 212 | 3 | मिश्रेतु | मिश्रेच |
| ,, | 22 | तत्रत्येत्या | तत्रेत्या |
| 214 | 3 | सुवर्णे | सौवर्णे |
| 215 | 14 | शोध्यशिरीस | शोध्याशिरसि |
| 216 | 7 | उप्तलिप्ते | उपलिप्ते |
| 217 | 8 | भेदकैः | पातकैः |
| 218 | 20–21 | तुमशक्या | तुं शक्या |
| ,, | 23 | कारे | कारे |
| ,, | 24 | र्निर्णेतृ | निर्णेतृ |
| 220 | 23 | लासः | ह्लासः |
| 221 | 17 | याङ्ग | याज्ञ |
| ,, | 20 | यदाधीयते । तदाधि | यदाधीयते तदाधि |
| ,, | 23 | भवति | भैवति |
| 227 | 9 | दश | शदे |
| 228 | 2 | रचित | रजत |
| ,, | 3 | त्रिष्ठति | तिष्ठति |
| 235 | 12 | डण्ड | दण्ड |
| ,, | 14 | पूर्वध्रा | पूर्वमाध्रा |
| 236 | 5 | अधि | आधि |
| ,, | 14 | मप्नुवा | मवाप्नु |
| 237 | 7 | भोग्यादौ | भोग्याधौ |
| ,, | 22 | तद्धपरीत | तद्विपरीत |
| 238 | 20 | प्रतिग्नह | प्रतिग्रह |

| पृ. | प. | अशुद्धं | शुद्धं |
| --- | --- | --- | --- |
| 239 | 1 | द्मर्यं | धर्म्यं |
| ,, | 17 | त्वात्पूर्व | त्वात्पूर्वं |
| 240 | 7 | मार्णकः | मर्णकः |
| ,, | 11 | यायात् | यात् |
| 245 | 22 | रोडा | शेषा |
| 246 | 6 | यद्रा | यदा |
| ,, | 7 | मवर्णौ | मर्णौ |
| 247 | 5 | प्रत्ययः प्रति | प्रत्ययप्रति |
| 248 | 13 | कूर्वति | कुर्वति |
| 249 | 11 | प्रतिभ | प्रतिभू |
| ,, | 23 | प्रवृत्ते | प्रदत्ते |
| 250 | 6 | बन्धुत्वेन | बन्धत्वेन |
| 251 | 13 | तद्ज्ञा | तज्ञा |
| 254 | 8 | प्राप्तं | प्राप्तः |
| ,, | 18 | प्रवशे | प्रवेशे |
| ,, | 19 | परीक्षीणं | परिक्षीणं |
| ,, | 20 | ब्रह्मण | ब्राह्मण |
| ,, | ,, | परीक्षीणो | परिक्षीणो |
| 255 | 1 | ननः | यनः |
| ,, | 7 | वैश्ययौः | वैश्ययोः |
| ,, | ,, | शूद्रयोंवा | शूद्रयोर्वा |
| ,, | 9 | परीक्षीण | परिक्षीण |
| 256 | 22 | र्दयं | देयं |
| ,, | 23 | एय | एव |
| 257 | 20 | पूर्वोदितो | पूर्वचोदितो |
| 258 | 17 | ऋणं । धना | ऋणं देयं । धना |
| ,, | 20 | नाशः | नातः |
| 260 | 11 | प्राप्तिसशे | प्राप्तिवशेन |
| ,, | 13 | स्वैरिणानां | स्वैरिणीनां |

| पृ. | पं. | अशुद्धं | शुद्धं |
|---|---|---|---|
| 260 | 15 | स्त्वान्या | स्त्वन्या |
| 261 | 2 | वा | या |
| ,, | 8 | सप्तदिनैनैव | सप्रथनैव स्त्री |
| ,, | 11 | नैव | सैव |
| ,, | 12 | अत्र धनेति | अत्र सप्रथनेति |
| ,, | ,, | प्रकृत्र | प्रकृष्ट |
| ,, | 16 | योग्यं | योग्यः |
| ,, | ,, | ग्रहा | ग्राहा |
| ,, | 17 | अन्या | अनन्या |
| ,, | 18 | एय | एव |
| ,, | 22 | चान्य | चास्य |
| 262 | 2 | पूतिका | पूतीका |
| ,, | 9 | पुत्रोऽसुत | पुत्रोऽसतोः |
| ,, | ,, | हारि | हारी |
| ,, | ,, | धन | धनि |
| 262 | 19 | यतु | यत्तु |
| 263 | 3 | दिकर्ता | दिराता (इति स्यात्) |
| ,, | ,, | श्रिताः | श्रिता |
| ,, | 6 | धिकारश्चेति | धिकाराच्चेति |
| ,, | 8 | तद्ग्राही | तद्गृही |
| ,, | 15 | विद्या | दद्या |
| 264 | 6 | अत्रो | अतीतो |
| 266 | 5 | हैमारूप्या | हैमकुप्या |
| 269 | 5 | विविधैः | विविधैरिति |
| 270 | 1 | स्वामिनो | स्वामिने |
| 271 | 3 | वणिकप्र | वणिक्प्र |
| ,, | 13 | समे | समो |
| 275 | 13 | शंह्व | शङ्ख |
| ,, | 21 | मंन्य | मन्य |

| पृ. | पं. | अशुद्धं | शुद्धं |
|---|---|---|---|
| 276 | 20 | त्येवं परं | त्येवम्परं |
| 278 | 19 | मानसिका क्रिया सकल्प] | मानासिकीक्रियासंकल्प |
| 279 | 9 | न्यसस्तु | न्यासस्तु |
| ,, | 16 | सर्वस्य | सर्वस्व |
| 281 | 1 | निमपि | नामपि |
| 282 | 1 | निर्वत्य | निवर्त्य |
| ,, | 5 | भाव | र्भाव |
| 283 | 2 | ऋणाप | ऋणापा |
| ,, | 8 | धर्मार्थ | धर्मार्थे |
| ,, | ,, | द्व्यं | द्रव्यं |
| 285 | 3 | णयार्थ | यार्थे |
| ,, | 8 | र्मित्रे | मित्रे |
| 290 | 12 | यास्व | यात्स्व |
| 291 | 16 | उत्तमा | उत्तमो |
| 292 | 6 | तवाहंश्चचः । दास | तवाहं दास |
| 294 | 2 | ऋणा | ऋण |
| 297 | 14 | तत्रेधा | तत्रधा |
| 298 | 10 | दाप्यतु | दाप्यस्तु |
| ,, | 13 | गृह्णीया(द्धा)त्सीर | गृह्णीयात्सी(द्धार) |
| 300 | 24 | माव्य | मव्य |
| 301 | 7 | पुराणेषु | पुराणे तु |
| 302 | 18 | दशातः | दशतः |
| 305 | 12 | स्वाम्यन । | स्वाम्यनु |
| 307 | 14 | वलकयः | वल्कयः |
| ,, | 22 | शङ्कय | शङ्कया |
| 308 | 3 | यदित्या | यादित्या |
| ,, | 13 | चाद्रि | चन्द्रि |
| ,, | 15 | क्रुर्या | कुर्या |

| पृ. | पं. | अशुद्धं | शुद्धं |
|---|---|---|---|
| 309 | 8 | कत्व | कत्वं |
| 310 | 7 | सोदयस्य | सोदर्यं तस्य |
| ,, | 16 | स्थावरसं | स्थावरस्य |
| 311 | 14 | रजदैवोपघातन | राजदैवोपघातेन |
| ,, | 18 | स्थावरश्च | स्थावरस्य |
| ,, | 20 | दीयामानं | दीयमानं |
| ,, | 24 | मण्यं | पण्यं |
| 312 | 1 | राध्नुयात् | राध्नुयात् |
| ,, | 22 | क्रयः | क्रयः |
| 313 | 1 | वणिर्धं | वणिगर्धं |
| 315 | 4 | सिर्धं | सिद्धं |
| ,, | 6 | र्वाचीनक | र्वाचीनिक |
| ,, | 22 | गृहात्वा | गृहीत्वा |
| 319 | 19 | व याति | वायाति |
| ,, | 21 | मय(?) पव | ममेव |
| ,, | 23 | सान्ध | सन्धि |
| 321 | 16 | नन्वर्थं | नन्वर्धं |
| ,, | 18 | अर्थं | अर्धं |
| 323 | 6 | दशहो | दशाहो |
| ,, | 15 | सप्तैत | सप्तैते |
| 329 | 16 | भद्क्त | भेदक्त |
| 332 | 9 | अप्रकाशै | अप्रकाशैः |
| ,, | 12 | लिङ्गैः | लिङ्गैः |
| ,, | 17 | कलाहो | कलहो |
| 335 | 10 | कुकुल | कुकूल |
| ,, | 11 | सम्यक | सम्यक् |
| ,, | 21 | लिंङ्गै | लिङ्गै |
| 336 | 1 | स्संपूज्य | संपूज्ज |
| ,, | ,, | दूर्वा | दूर्वा |

| पृ. | पं. | अशुद्धं | शुद्धं |
|---|---|---|---|
| ,, | 3 | बहूना | बहूनां |
| ,, | 5 | य्यतया | यतया |
| ,, | ,, | दीना | दिना |
| ,, | 6 | क्रमाणा | क्रमणा |
| ,, | 12 | आमु | आम |
| ,, | ,, | नायकस्यं | नायकस्य |
| ,, | 15 | यात | घात |
| ,, | ,, | क्षण | क्षण |
| ,, | 16 | (2)सद्यपि | साद्यस्की |
| ,, | ,, | (1)स्वात् | स्वात् |
| ,, | 18 | घातेच | घातो |
| ,, | 19 | नास्तीयत्रात्ते तत्रत्रि-पक्षप्रतीक्षण | नास्ति यत्रास्ते तत्रत्रि-पक्षप्रतीक्षण |
| ,, | 20 | एत्तु | एतत्तु |
| 336 | 22 | मनुलिखित | मनुल्लिखित |
| ,, | 23 | मूधनि | मूर्धनि |
| ,, | ,, | वन्त | वन्तः |
| 337 | 10 | योध्य | योर्मध्य |
| ,, | 22 | ग्राम | ग्राम |
| 342 | 20 | तृतीयं त | तृतीयं तु |
| 345 | 14 | मारुचिः | भारुचिः |
| ,, | 15 | मागे | भागे |
| 346 | 4 | मधित | मथित |
| 347 | 4 | वाच्यः | वाच्य |
| 348 | 13 | द्रंव्या | द्रव्या |
| ,, | 14 | दायादानान्न | दायादानां न |
| 349 | 9 | इत्यादिकं | इत्यादिके |
| ,, | 10 | चतुर्थेति | चतुर्धेति |
| ,, | 22 | हारतः | हारीतः |
| 350 | 9 | अस्वाम्ये | अस्वाम्यं |

| पृ. | पं | अशुद्धं | शुद्धं |
|---|---|---|---|
| 350 | 9 | स्थितं | स्थिते |
| 353 | 3 | विद्यते | न विद्यते |
| ,, | 15 | प्रवासे । नैमि | प्रवासे नैमि |
| 358 | 1 | अत्रादौ पतितः इतिशब्दः हरेत् इत्यतःपरं-[योज्यः | |
| ,, | 3 | मंशहरे | मंशं हरे |
| ,, | 13 | ससमिति | सममिति |
| ,, | 14 | योगात् ; असमां | योगादसमां |
| 358 | 23 | मातुस्वत्व | मातुः स्वत्व |
| ,, | 24 | व्यवरस्था | व्यवस्था |
| 359 | 3-4 | कित्व | किन्त्व |
| ,, | 7 | त्येवंपर | त्यवम्पर |
| ,, | 12 | हारिण्या | हारिण्य |
| ,, | 22 | रूध्वर्मशं | रूर्ध्वभंश |
| 360 | 11 | विषिमेषु | विषमेषु |
| ,, | 18 | वषम्ये | वैषम्ये |
| 362 | 5 | इत्यर्थकयव | इत्यर्थकमव |
| ,, | 24 | इति स्त्रचवयवानां | इति स्त्रचत्रयवानां |

# उपोद्घातः.

विदितमेवेदं यदाङ्ग्लेयराजधान्यां लण्डननगर्यां 1881 तमे क्रिस्ताब्दे तूब्नर्ग्रन्थमालायां प्रतापरुद्रमहाराजप्रणीतसरस्वतीविलासान्तर्गतः दायभागात्मकोभागः मुद्राप्य प्रख्यापितस्समभवदिति । सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः नाद्याप्युपलब्धो मुद्रितो दृश्यते । सरस्वतीविलासप्रणेता प्रतापरुद्राख्योऽयं महाराजः कदा कुत्र वा राज्यं चकारेत्येतदपि न निरणायि । सम्पूर्णेऽस्मिन् सरस्वतीविलासे किं केवलं व्यवहारपदान्येव जिज्ञासितान्युत वर्णाश्रमाचारप्रायश्चित्तकाण्डावपि विवृतावित्येतदपि नाद्यापि ज्ञातम् । सैषा संशीतिः प्राच्यकोशागारेऽस्मिन् सङ्गृह्य संरक्षितान् सरस्वतीविलासकोशानुपजीव्य मुद्रापितेनानेन सम्पूर्णेन ग्रन्थेन दूरीकृता भवेत् ।

महानदीस्रोतोवातपूतां कटकनगरीं कपिलेन्द्रो नाम सूर्यवंशजो राजा क्रिस्ताब्दानां पञ्चदशशतकस्यादिभागेऽध्यवसत् । तस्य पुत्रः पुरुषोत्तमो नाम राजा समासीत् । तस्य च पुत्रः श्रीवरिरुद्रदेवः वीरप्रतापरुद्रदेव इत्यपि विख्यातो राजाऽभवत् । सोऽयं राजा ग्रन्थस्यास्य प्रणेतेति अवतरणिकायां प्रस्तूयमानो दृश्यते । तथाच काकतीयवंश्यादेकशिलानगराधिपतेः प्रतापरुद्रदेवादन्य एवायं वीररुद्रदेव इति स्पष्टमवगम्यते ।

धावकः श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीं नागानन्दं चेव कश्चन वीररुद्रदेवसभास्थः पण्डितः सरस्वतीविलासं विरच्य वीररुद्रनाम्ना प्रख्यापितवानुत वीररुद्र एव ग्रन्थमेनं प्रणिनायेत्ययमपरस्सन्देहो जागर्ति । अवतरणिका-

गतराजप्रशस्तिपरिशीलनायां कृतायां राजा नास्य ग्रन्थस्य प्रणेतेति भाति; यतो न कश्चिदप्यत्रावतरणिकायां परिदृश्यमानया विधया स्वप्रशस्तिं कुर्यात् । अतः राजानुग्रहमाकाङ्क्षमाणः कश्चन पण्डितः राज्ञोऽतिशयोक्तिभूयिष्ठां स्तुतिमेनां कुर्वाणो ग्रन्थं व्यरचयदिति वक्तुं शक्यते । सोऽयं पण्डितः व्यवहारकाण्डमीमांसकेभ्यो निबन्धग्रन्थप्रणेतृभ्योऽन्यादृश एवासीदित्यपि ज्ञायते । यतः—

धर्मेण व्यवहारेण चरित्रेण नृपाज्ञया ।
चतुष्पाद्व्यवहारोऽयमुत्तरः पूर्वबाधकः ॥

इति कौटलीयार्थशास्त्रे हारीतस्मृतौ च परिदृश्यमानं श्लोकं व्याकुर्वाणो ग्रन्थप्रणेता व्यवहारपरीक्षणे क्वचित्साक्षिणामनृतवादवशाद्व्यवह्रियमाणविषयस्य नैजात्सत्यस्वरूपात्प्रच्यावनं, क्वचित्साक्षिभिस्सत्ये स्थिरीकृतेऽपि वादिप्रतिवाद्यन्यतमाचारवशात्सत्यत्यागः, क्वचिच्च राजाज्ञावशात्सत्यस्यापि चरित्रस्य त्यागो भवतीति वदन् स्वस्य न्यायविचारपरिश्रमं विलक्षणं द्योतयति । न्यायस्थानेषु हि व्यवह्रियमाणविषयविचारः चिरात् स्थापितं विचारक्रममनुसृत्यैव क्रियमाणः प्रायेण विचारक्रमगतदोषेण दूषितस्सत्याद्गाढं प्रच्यावितो भवतीति विदितमेव ।

अतश्चायं सरस्वतीविलासनिबन्धः अधुनातनानामपि न्यायधर्मविशारदानामुपकाराय प्रभवतीति वक्तुं शक्यते ।

"धर्ममात्रं वा विभजेत्" इति । अत्यन्तनिस्वानामिति शेषः ।

अनेन ज्ञायते परिभाषां विना सङ्कल्पमात्रेणापि विभागसिद्धिः" इति दायभागप्रकरणे ग्रन्थकृता स्पष्टमुक्तः सङ्कल्पमात्रेण विभागः अधुनातनेषु न्यायस्थानेषु चिरादनुष्ठितो दृश्यते ।

किं च स्त्रीणां दायविभागमधिकृत्य त्रयः पक्षा ग्रन्थकृता दर्शिता वर्तन्ते ।

"भारुचिमते पत्नीनां बहुत्वसद्भावे तासामेव विभागः। विज्ञानयोगिमते पत्न्येकनियतो विभागो नास्ति, किंतु पुत्रैस्समविभागः पत्नीनाम्। अपरार्कमते पत्नीविभागः पुत्रसमविभागश्च नास्ति" इति मतत्रयं स्पष्टमत्र परामृष्टं स्त्रीणामपि दायभागार्हतां स्थापयितुं प्रवृत्तानामधुनातनानामुपकाराय प्रभवेत्।

किंच अर्थिना प्रत्यर्थिना वा उभाभ्यां वा स्वस्वाभिमतः पुरुषः स्वीये निवेदनादिकर्मणि नियुज्यमानः अर्थिनः प्रत्यर्थिनो वा स्थाने स एवेति परिगृह्य प्राड्विवाकादिभिः तथातथा व्यवहारः प्रस्थापनीयः नियुज्यमानेन यथायथा वादः फलिष्यति स एव मूलपुरुषस्येति च स्वीकार्यम्। एवंच निवेदनादौ स्वयमनधिकारिणोऽनुगृहीता भवन्तीति साम्प्रतिकी व्यवहारपथस्थितिः।

एषैव च पद्धतिः सरस्वतीविलासे **उत्तराधिकारिणः** इति प्रघट्टके (पृ४०) प्रदर्शिता मुनिवचनोदाहरणैः।

इतरोऽप्यभियुक्तेन प्रतिरोधीकृतो मतः।
समर्पितोऽर्थिना योऽन्यः परो धर्माधिकारिणि।
प्रतिवादी स विज्ञेयः प्रतिपन्नश्च यस्स्वयम्॥

अत्र अन्यः परः प्रतिवादीति अकल्पादेरुपलक्षणम्। तथाच हारीतः—

"अकल्पबालस्थविरविषमस्थक्रियाकुलकार्यातिपातिव्यसनिनृपकार्योत्सवाकुलमत्तोन्मत्तप्रमत्तार्तभृत्यानामाह्वानमकार्यम्" इति।

यद्यपि इहत्ये उत्तराधिकारिणः इति प्रकरणे अनधिकारिणः प्रति उत्तराधिकारिणो दर्शिताः। ततश्च यस्य स्वयं निवेदनप्रत्युत्तरदानप्रभृतिष्वस्ति शक्तिः न च प्रतिबन्धः न तस्य स्वीये कर्मणि परस्य नियोजनाभ्यनुज्ञेत्यायाति। महाभियोगेषु तु अकल्पादेरप्याह्वानमस्त्येव। महाभियोगश्च—मनुष्यमारणस्तेयपरदाराभिमर्शनापेयपानानि।

असभ्यवादेष्वप्याह्वानमस्त्येव । ते च—अभक्ष्यभक्षणकन्यादूषणपारुष्य-कूटकरणनृपद्रोहादयः, तथापि न केवलानधिकारिण एव स्वव्यवहारप्रवर्तनाय परप्रेषणाधिकारिण इति निर्णेतुं युक्तम् । वादिप्रतिवादिभ्यां निवेदितानंशान् पृथगुपादाय तयोः वाक्यार्थं पारिशोध्य सप्रमाणं परीक्ष्य विमृशता प्राड्विवाकेन अन्यतरस्य जयः स्थापनीयः इति सत्यामपि धर्मतो व्यवहारनिर्णयसरणौ अज्ञजडबधिरमूकमत्तपङ्ग्वन्धादीनां व्यवहारस्थानमागत्य स्वस्वाभीष्टवादप्रस्थापनसामर्थ्यविरहात् तेषां संभवन्त्योऽप्यापदः राज्ञा न परिहृतास्स्युः ॥

किंच सत्यपि करणपाटवे सत्यामपि वादनिर्वाहशक्तौ बहुतरक्रियाकलापसंरुद्धनिखिलकालस्य पुंसो न धर्माधिकरणमुपागत्य निवेदनपूर्वकं व्यवस्थापनान्तक्षमोऽवसरः, तादृग्विधस्यापि तापसादेः सैवानुपपत्तिः ॥

तथाच एवंविधव्यवहारेषु जनताविपत्परिहाराय यथायथमनुगुणः पुमानेव तत्र तैर्नियुज्यमानः कार्याणि साधयेदिति स्थिते आधुनिकानां प्राड्विवाकपरिषदि वादिप्रतिवादिसहकारपराणां (लायर्—अड्वोकेट्) इति च राज्याज्ञव्यपदिष्टानां प्राड्विवाकीयवादतत्वनिर्णयक्रमसहायकार्यक्रमाणां उपप्राड्विवाकव्यपदेशार्हाणां व्यवहारदर्शनपथे राजपरिकरतया परिग्रहः सनातनधर्मशास्त्रसिद्ध इति सिद्धम् । सत्यानृतविपरीतकरणपाटवधुर्यनियोज्यपुरुषसौलभ्यमात्रमवलम्ब्य तु जनाः शीर्षच्छेदाद्यपि कुर्वाणाः प्रश्नोक्तचातुरीधोरणीभिर्विमोचयन्त्यापद्भ्योऽप्यात्मानं पापिन एवंविधान् राजकीयव्यवहारमार्गानासाद्येति तु न न्यायापराधः, किंतु कलेरेवेत्यन्यदेतत् ॥

इदन्त्विह सारतश्चिन्तनीयं—प्रतिज्ञापादादिभिश्चतुर्भिः पादैः प्रस्थापितोऽयं व्यवहारमार्गः ऋज्वाशयप्रजाबहुळे निष्कारणवैरप्रचार-

विकले धर्मभीरुजनतापरिभूषिते देशे यथाश्रुतमेव जनबृन्दैरनुस्रियमाणः पारिरक्षन्नास्त विवादपरिहारक्रमम् । को हि नाम स्वंस्वं नियतं कर्म निर्विचिकित्समाचरन् यथाक्रमविनियुक्तकालः वेलामुल्लङ्घ्य व्याप्रियेत । क्रमेण च स्वस्वसुखसंसाधनपाटवासादनप्रवणे लोके मनागिव शिथिलितायां पापभीतौ मिथ्यावादमपि नातीव परिजिहीर्षत्सु जनेषु सत्यधर्मयोरेव कथञ्चन रक्षणाय धर्मव्यवहारादिपादवती प्रावर्तत व्यवहरपद्धतिः । यदा तु प्रत्यन्तपरिवासिजनतानां सकौतूहलास्सकिल्बिषास्सासूयाश्चाटाट्याः प्रावर्तन्त तदा किल प्राचीनव्यवहारव्यवस्थालतिका आकस्मिकेन सुसुलभेन हृदयहारिणा केनापि दोहदेनापूरितालवाला अक्षयेण पयसा पर्यसिच्यत ; येन निर्विघ्नं निरुपद्रवं च प्ररोहन्तीभिश्शाखाभिराक्रम्येव रोदसी अतिलङ्घ्येव सागरान् कृतास्कन्दनेव अङ्गुल्यग्रमिव गृह्णती सुतरामाचूषणमारभत जनताद्रविणगणस्य ।

यद्यपि मा भविष्यत् प्रत्यन्तजनतासंमेळनसंपदुल्लासः कामं सनातनधर्मशास्त्रवेत्तार एव निर्णयं व्यवहारस्योररीकुर्युः तथाऽप्यनुक्षणविचित्रभावरचने युगसार्वभौमे विनैव परकीयसंवासं भारतीयव्यवहारव्यवस्थामार्गः एतावतीं सरणिमियता कालेन नैवालप्स्यतेति वक्तुं कथं पारयामः । दृष्टं त्वित्थमुपह्रियते चोपसंह्रियते च यत् सत्यं सरस्वतीविलासकृता खल्विदानीन्तन्यपि न्यायनिर्णयसरणिरनुशीलिता परिपालिता चोपकृतवती करिष्यति च महान्तमुपकारं लोकानामिति विश्वसिम इति ।

निबन्धस्यास्य मुद्रणे संवाचनायावलम्बिताः कोशाः—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| २१४४ | संख्याकः | नागराक्षरमयः | एतत्कोशागारस्थः | नातिशुद्धः |
| २२०४ | ,, | आन्ध्राक्षरमयः | ,, | ,, |
| ३१३० | ,, | ,, | ,, | ,, |
| B १५४४ | ,, | ,, | ,, | ,, |
| ७८४ | ,, | ,, | सरस्वतीभण्डारस्थः | प्रायश्शुद्धः |

बेंगळूरुनगरमध्युषितैः महाशयैः रामाचार्याभिधैः पुस्तकशालामेतां स्वकीयताततचरणहस्ताक्षरमयेन कागदबद्धेन समग्रप्रायेण प्रायश्शुद्धेन सरस्वतीविलासकोशेन सभाजयद्भिः समर्पितश्चापरः, लण्डन् नगरमुद्रितः A ११३२ संख्याकः दायभागमात्रात्मकः एतत्कोशागारस्थश्चापरः, इति इदं कोशषट्कमवलम्ब्य मुद्रणमिदं निरवर्त्यत। तदत्र दुर्वारप्रसरेण पुरुषदोषेण सीसकाक्षरयोजकदोषेण वा संभवन्तः प्रमादाः हृदयङ्गम-ग्रन्थश्रद्धादरैः क्षन्तव्या इत्यर्थयामः ॥

# श्रीसरस्वतीविलासः.

## व्यवहारकाण्डः.

[1]वन्दामहे महीयांसमंसलम्बिजटाधरम् ।
यत्कङ्कण[2]क्वणत्काररूपं शब्दानुशासनम् ॥ १ ॥

आचन्द्रार्कमसौ तनोतु कुशलं वश्शङ्करस्यात्मजो
यस्यानर्गळदानवारिसुरभेः कण्ठोपकण्ठं मुदा ।
खेलन्तः परितो द्विरेफकलभाः श्रेणीभवन्तो मुहुः
शुम्भज्जम्भभिदश्शरासलहरीश्रृङ्गारमातन्वते ॥ २ ॥

. . . . . . . . . .

. . . . . ब्रह्मविदो वदन्ति ।
वाणि ! त्वदायत्तमिदं स्वयं चेत्
का वा स्तुतिस्स्यादयमञ्जलिस्ते ॥ ३ ॥

हनूमन्तं शान्तं स्वयमुपदिशन्तं रघुवरा-
दुपाध्यायादाद्याद्यदिह समुदायाय यमिनाम् ।
नमस्यामो हेमोपममनुपमामोदियशसं
प्रतापाङ्के[3] लङ्केश्वरविजयिनं केसरिसुतम् ॥ ४ ॥

---

[1] वन्देमही—A; वन्दे महा—C. [2] झणत्काररवः—B. क्वणत्काररवः—A.

[3] 'प्रतापाङ्कम्' इति तु स्यात्.

निर्भिन्ननीलमणिगर्भनिकायकायं
नीलाद्रिशेखरमणिं नितरां स्मरामि ।
ज्योतिर्मये वपुषि यस्य सितेतरत्वं
कंजेक्षणस्य गगनात्मतयैव नूनम् ॥ ५ ॥

शिशुं कपटयादवं श्रितजनस्य मायादवं
निषिद्धवृषभासुरं निगमदर्पणं भासुरम् ।
रमाकलितमानसं रयाविभग्नभीमानसं
स्मरामि नळिनेक्षणं सरससंविधाने क्षणम् ॥ ६ ॥

पदानतशचीपतिं पशुपतिं दिशा चीवरं
सुरालयशरासनं सुकृति[1]हृद्विहारासनम् ।
विमुक्तविविधामयं विमलचित्तमेधामयं
पुरां समधिकद्विषं पुनरुपैमि शाकद्विषम् ॥ ७ ॥

श्रीवीररुद्रनृपतेः श्रियमातनोतु
नीलाद्रिनाथनिजपादसरोजयुग्मम् ।
यद्योगिभि[2]र्हृदयपङ्कजमध्यभाग
संरोधनादिव समुद्गतरक्तभावम् ॥ ८ ॥

प्रतापश्रीरुद्रं नृपमवतु दुर्गापदयुगं
सरक्तं रक्तौघैः महिषदनुजोरस्स्थलभवैः ।
शुभान्यस्मै दिश्याच्छ्रुतियुवतिसीमन्तसरणि
प्रतोळीसिन्दूरैः परिचयवशेनाऽऽ[3]रुणचणम् ॥ ९ ॥

[1] हृद्विहारालयम्. [2] निजहृदम्बुजमध्य. [3] रुणमिदम्.

अथ कृतिप्रणेतृवंशावलीरोऽवतार्यते.

न ह्यत्र तत्रभवतो वंशावतारनिबन्धनमनुपपन्नमिति मम मनीषायाः समुन्मेषः, यतः खलु, अनुगुणगुणरचितरुचिरतरतारहारावळेरपि नायकमणिनिगुम्भनवशेनैव विजृम्भणम् । यथा वा लोकोत्तरचमत्कारभुवोऽपि नायिकायाः स्वानुगुणनायकसंबन्धेनैव चरितार्थता—यथावा नयनानन्दकरस्यापि तारागणस्य निशाकर[1]परिचयादेव सौभाग्यातिशयः—यथावा कूलङ्कषाणां कूलङ्कषजलानामपि नदीनां पाथःपरिसरप्रसरेणैव शोभातिशयित्वं—यथावा तमोनिवारणनिपुणानामपि किरणानां किरणमालिना सङ्कलनयैव सकलजगदानन्दहेतुता—यथावा भगवतो वासुदेवस्य गुणगणा अपि लीलापरिगृहीतविग्रहावतारसम्बन्धादेव गरिमाणमावहन्तो मनो हरन्तितराम्. तथैव महानायकवंशावतारनिबन्धेनैव कृतयः सुकृतिसमाकल्पमाकल्पयन्ति. किमु वक्तव्यं प्रबन्धप्रबन्धृवंशावतारवर्णनम्. सुवर्णकुसुमस्य सौरभाविर्भावः अथवा चन्दनतरोः प्रसवसमुद्गमः. अथवा अशोकतरोः फलाभिसम्बन्धः ।

अपि च—

मङ्गलाचारयुक्तानां विनिपातो न विद्यते ।

इति स्मृति[2]गतमपि विनिपातनिवृत्तिफलकमवश्यं मङ्गलाचरणमाचरणीयम् । तदेव मङ्गलाचरणं यत्पुण्यपुरुषपौरुषानुव-

[1] निशाकरकरपरिच. [2] स्मृतिगतमविनिपातफलक.

र्णनम् । पुण्यपुरुषः परमपुरुषादन्यो नास्तीति खलु स एव वर्णनीयो लीलारसपरिगृहीतविग्रहः, तस्यानन्ता एवावताराः। अतीता वर्तमाना वर्तिष्यमाणा इति तेषामानन्त्यं । अतीतानामवताराणामतीतत्वं न शक्नोति मन्मनः प्रवेष्टुं, एवमेव वर्तिष्यमाणत्वमपि. वर्तमानेषु पुराणपुरुषावतारविशेषेषु भूकान्तासन्तत[1]समार्जितनिखिलसुकृतपरिपाकविशेषे भूपविशेषे विद्विषत्क्रूररुद्रे प्रतापगजपतिवीररुद्रे गाम्भीर्ये समुद्रे सति मम मनो न रोचयते तमतिक्रान्तुम् । अतस्तमेव मृगयते वाचश्चरितार्थयितुम्. अतो लक्ष्मीमहीमहिळाकतया वीररुद्रस्साक्षात्पुराणपुरुषावतारविशेष एवेति तदनुवर्णनमस्माकमनुवर्णनीयमेवं तद्वंशाग्रणिनभोमणिरगणनीयभासा विकासतेतराम्—

अस्तीश्वरस्याष्टममूर्तिरेष स्वस्तिप्रदस्सम्प्रति दीप्तयोषः ।
अस्तोदयाद्रीश्वरमस्तकाग्रविस्तारितैकाश्वरणत्खुराग्रः ॥ १ ॥

प्रतापिनां द्वारमसौ प्रतापी प्रतापवस्तु प्रतिमानभूमिः ।
प्रतापरुद्रस्य कुलाग्रगण्यः प्रतापभानुः प्रथमो ग्रहाणाम् ॥ २ ॥

कुलेऽभवन्नंशुमतो नृपालास्तले भुवो दिक्पतितुल्यलीलाः।
बिलेशयाधीशभुजान्तराळाबलेनलब्धक्षितिचक्रवाळाः ॥ ३ ॥

तदन्वये रामकविप्रसादाल्लब्धप्रभावो रघुनायकोऽभूत् ।
तदात्मजो बाहुजमौळिरत्नमणिस्त्रिलोकीविनुतप्रतापः ॥ ४ ॥

तस्मादसूत सुतमिन्दुमतीन्दुकल्पं
कल्पद्रुमप्रसवकाल्पितकल्पभाजम् ।

---

[1] समृर्जित—A.

जम्भारियुद्धमखमिद्धयशोनिधानं
सम्भावितं सदसि पङ्क्तिरथाभिधानम् ॥ ५ ॥

परः पुमान् पङ्क्तिरथादथासीत् आसीमवासीकृतकीर्तिपूरः ।
रामाभिधः सोमसमानधामा धीमानसौ धीरवराग्रगण्यः ॥६॥

श्रियः पतिस्त्वावतरप्रयोजनं प्रतापलङ्केश्वरसूदनात्मकम् ।
गुरूक्तिचर्यामिषतोऽनुषङ्गतः चकारनूनं कृतिनामियं विधा॥७॥

ततः कुशोऽभूदरिमस्तकाङ्कुशः कुशावतीशः सकुशेशयासनः ।
ततोऽतिथिर्नाम समिद्धविक्रमःसपर्ययाऽऽवर्जितनिर्जितातिथिः

वंशे रघूणामुदपादि राजा भूजानिरादित्यसमिद्धतेजाः ।
रामाकृति[1]श्श्रीकपिलेन्द्रनामा सीमातिशायीश्वरतुल्यधामा॥९

अनस्तमितभानुमाननृतशून्य[2]धर्मात्मजो
विशोकरघुनायको विगतलाञ्छनश्चन्द्रमाः ।
[3]अशोषणमहार्णवस्सततदानराधासुतः
प्रतापकपिलेश्वरो गजपतिः कथं वर्ण्यते ॥ १० ॥

सौजन्यस्य खनी वनीपकवनीदैन्यस्य विच्छेदिनी
सौभाग्यस्य धुनी धुनी च यशसां धर्मेण तत्साधिनी ।
सौन्दर्यस्य झरी सरीसृपदरी विद्रेषिणां चातुरी
माहात्म्यैकमहामहेश्वरमही जागर्ति जागेश्वरी ॥ ११ ॥

---

[1] श्रीकलितेन्द्र—A. [2] वाग्धर्मजः—B.

[3] अशोषमकराकरो ह्यमितदान—B.

जम्भद्विट्कुम्भिकुम्भद्वयसचिवशचीचारुवक्षोजकुम्भ
व्यक्तव्यक्तानुषक्तप्रसृमरमसृणक्षोदकर्पूरगौरः ।
यत्कीर्तेः कार्तिकीन्दुप्रहसनरसिकप्रौढकर्णाटकान्ता
कान्ता कान्ताननेन्दुस्फुरितरातिकलाहासभासां विलासः॥१२

चोळ[1]द्राविडनेपाळपाण्ड्य[2]मालवकेरळाः ।
कपिलेन्द्रनृपे क्रुद्धे युद्धे कर्णाट[3]कीर्तयः ॥ १३ ॥

सा पार्वती नाम यथार्थनाम्नी
याऽवाप सापत्न्यमिळारमाभ्याम् ।
करं गृहीत्वा कपिलेश्वरस्य
सा गामसापत्न्यवतीमतानीत् ॥ १४ ॥

सा पार्वती सकलगण्यगुणातिरेकं
भूपालमौळिमणिरञ्जितपादपीठम् ।
तस्मादसूत पुरुषोत्तमनामधेयं
विस्मारितारिधरणीश्वरभागधेयम् ॥ १५ ॥

वीरश्रीपुरुषोत्तमो गजपतिः विद्वत्सभाभ्यन्तरे
[4]शेषो विक्रमिणां कथासु नितरां शेषाहिभूषो विभुः ।
शत्रूणां गणनेऽहिकङ्कणसखः सौन्दर्यसीमा स्वयं
तत्पुत्रोयमिति प्रगल्भवचसामुत्प्रेक्षणीयोऽन्वहम् ॥ १६ ॥

---

[1] द्रविळ—B.   [2] मागध—A.   [3] कर्णादि—B.

[4] शेषश्शेषविभूषणस्स्वयमयं वीराग्रणीस्संसदि ।
मित्रं शेषधरस्य दातृपरिषद्यस्यैव सूनोस्समा
सौन्दर्यातिशयांशकीर्तिसमितौ सत्ये तु नैवापरः ॥—B.

रूपाम्बिका रूपितरम्यशीला भूपालमौळेः पुरुषोत्तमस्य ।
कळत्रमासीत् कमलायताक्षी समोमया सा रमया च वाचा॥१७

जपैस्तपोभिस्स्वयमार्जितैरसा
वसूत सावित्रकुलाधिपाग्रणीम् ।
सुरूपया सामजयानयाऽनया
नयाधिकश्श्रीवरवीरभूपतिः ॥ १८ ॥

वीरश्रीरुद्रदेवो गजपतिरभवत्तत्प्रतापाग्निरुच्चै-
रुच्चैर्मत्तेभकर्णव्यजनपवनसंवीजनेन प्रवृद्धः ।
हैमं ब्रह्माण्डभाण्डं विलयमरिवधूहेमताटङ्कहारी
नेष्यत्येवं विचिन्त्य व्यधित जलमयीं प्रावृषं तत्र वेधाः॥१९

श्रीवीररुद्रगजराजयशस्समुद्रो
लोकांश्चतुर्दश समश्नुत एव नूनम् ।
नोचेत्तरण्युडुपसञ्चरणं कथं वा
नक्तं दिवं नविरतं नभसः प्रदेशे ॥ २० ॥

उद्गच्छत्युडुनायके जलनिधेः वाराशिसम्पूर्णतां
प्रत्येमि प्रकटं प्रतापगजराड्विद्वेषि वामभ्रुवाम्।
नेत्राम्बुस्रवणप्रवाहतटिनीसङ्गेन नूनं न चेत्
मेघैरावृतपाथसोऽस्य लवणाम्भोधेः कथं पूर्णता ॥२१ ॥

---

जीवग्राहमतिप्रगृह्य समरे कर्णाटभूमाधवं ।
दीनोक्तेः प्रवणं नृसिंहमनुजाधीशं पुनस्त्यक्तवान्
यो हम्मीरमहारिपुं समतनोत्पादाब्जपीठानतं ।
सोऽयं श्रीपुरुषोत्तमो गजपतिर्मद्वाग्विलासास्पदम् ॥ २२ ॥

—B. कोश एव.

कर्णोऽयं यदि वासरार्धमभवत् तत्त्यागलीला न चेत्
सूर्योऽयं यदि वासरं समभवत्तथ्यं प्रतापाकृतेः।
चन्द्रोऽयं यदि रात्रिमात्रमभवत् तत्कीर्तिकेळीनुतेः
किं कुर्मः पुरुषायुषैः कविनुतश्श्रीवीररुद्रो नृपः ॥ २३ ॥

श्रीवीररुद्रनृपतेर्जयति प्रताप
वह्निः परीत्य जलधीन् बडबाग्निदम्भान् ।
तद्वैरिणो जलनिधीनभिचक्रवाळं
गन्तॄन्निरोद्धु . . . . . . . . ॥ २४ ॥

[1] कल्पान्तानल्पकल्पज्वलदनलपरीहाससब्रह्मचारी
वैरीशप्रौढनारीविलपनलपनस्थेमसीमासमानः ।
गर्वाखर्वोर्वराधीश्वरगळगिळनप्रस्फुरद्बाहुदण्डैः
रथ्याडिल्लीकलम्बाकलुषगजपतिष्वश्वपत्युक्तिरेका ॥ २५ ॥

प्रतापरुद्रप्रथितप्रतापभानुस्त्रिलोकेऽपि तुलाविहीनः ।
चित्रार्धकस्वाति विशाखगत्या तुलां समारोहति तिग्मभानोः ॥
कान्तानां कामदेवः कुलगिरिरवनेः कामधेनु कवीनां ॥२६॥

प्रह्वानां पारिजातः प्रपदकमलयोः पङ्कजाक्षः प्रजानाम् ।
दीनान्धानां निधानं दिनकरकिरणोद्वेषितामिस्रराशेः ।
सोयं श्री वीररुद्रो गजपतिरातिरोभूतभूतेशमूर्तिः ॥ २८ ॥

---

[2] लोकाभूपालमात्रं नरपतिमनिशं संस्तुवन्ति प्रकामं
आलोकालोकमेकं गजपतिबिरुदं स्तुत्यमाबालगोपम् ।
किं चित्रं वीररुद्रो गजपतिरतुलस्तुल्यकीर्तिः कवीनाम्॥

1-2 B—कोशे नदृश्यते.

अपि च—श्रीवीररुद्रो गजपतिरैरावण इव वृषारूढः, पुण्डरीक इव कपिलाऽऽयत्तदर्शनासक्तः; वामन इव पिङ्गळानुसरणच्छन्दस्स्फुरणः, कुमुद इव अनुपमैश्वर्यविश्रान्तिः, अञ्जन इव ताम्रपर्णीप्रभूतविलासविहारनिपुणः, पुष्पदन्त इव सुदतीकरपरिचयानुरक्तः,

अपि च—सार्वभौम इव सार्वभौमः, सुप्रतीक इव सुप्रतीकः, कुमार इव कुमारः, मार इव मारः, चतुरानन इव चतुराननः, विष्वक्सेन इव विष्वक्सेनः, रुद्र इव रुद्रः, कमलाकर इव कमलाकरो, नृसिंह इव नृसिंहः, राम इव रामः,

अपि च—नृसिंह इव करजाऽऽहित वीरलक्ष्मीकिः, दाशरथिरिव जगदवननिपुणकरपल्लवः, परशुराम इव एकवीराऽऽकृतिधरो, हिमाचल इव कुलाचलो, वाराकर इव सत्वसमाविष्टो, हिमांशुरिव कुमुदोल्लासी, दिवाकर इव समुल्लसिततनुविभावो, निखिलहरिदन्तरजेगीयमानयशश्चन्द्रिकाप्रसरण हरशिरश्चन्द्रकरार्द्रीकरणो लोकाऽऽलोकोपभोगालोकायमाननिज प्रतापो दिक्करिसदृशो धिक्कृतवाक्पतिविभवः ।

अपि च —पुरुहूत इव वृद्धश्रवाश्श्लाघ्यघनकीर्तिरपि सहस्रनेत्रादृतोऽपि विष्णुरपि न दुश्च्यवनः किन्त्वति सुस्थितः, वीतिहोत्र इव जातवेदस्स्फुरणोऽपि जगत्प्राणसखः, शुचिरपि नाऽऽश्रयाशः किन्तु आश्रितसंरक्षकः, धर्मराज इव समवर्त्यपि दण्डधरोऽपि वैवस्वतोऽपि न पितृपतिः अपि तु पितृसेवारतः निखिलभूमण्डलाधीश्वरः, वरुण इव प्रचेता अपि भुवनाधी-

श्वरोऽपि नव्यपाशोपि नोदकाऽऽसक्तः किन्तु निष्कल्मष जनानुरक्तः, श्वसन इव अनिलाकृतिरपि पुराणनेतृविभवोऽपि सदागतिरपि न भुजङ्गसहितः किन्तु दुष्टजनाविनेता, किन्न रेश्वर इव राजाधिराजोऽपि धनदोऽपि [1]पदासक्तवरकच्छि लोऽपि न कुबेरः किन्तु सिंहसंहननः, शम्भुरिव महागजाधीश्व रोऽपि सर्वज्ञोऽपि न खण्डपरशुः किन्तु अप्रतिहतशस्त्रकलापः।

यस्य खलु रिपुराजकुञ्जरा विन्ध्याटवीमध्यमध्यासीनाः सिंहशरभशार्दूलगण्डकादिसमालोकनेऽपि न बिभ्यति किन्तु पताकिनीपताकाङ्काग्रयितशरभशार्दूलगण्डभेरुण्डादिस्मरणजनितरणजनितभ्रान्तिमन्तो भयविह्वलतया गह्वरान्तरेषु निलीयन्ते, स हि विचित्रम् वीररुद्रोऽपि पद्माश्लिष्टतनुः, समाश्रितजनहरिचन्दनोऽपि परिजनीकृतहरिचन्दनः, सुरभितरगुणगणैश्श्रीचन्दनोऽपि दासीकृतश्रीचन्दनः, स्वयं विद्याधरसदृशोऽपि किङ्करीकृतविद्याधरः, स्वयं पुरुषोत्तमोऽपि पुरुषोत्तमतनयः, स्वयं पुरुषोत्तमतनयोऽपि पुरुषोत्तमजनकः, स्वयं पुरुषोत्तमजनकोऽपि पुरुषोत्तमप्रियसेवकः,

अपि च—त्रिनेत्रकुमारसदृशोऽपि अत्रिनेत्रकुमारसदृशः, नलप्रतिमोऽप्यनलप्रतिमः, लङ्कारातिसुभगोऽप्यलङ्कारातिसुभगः, धरासक्तानुरागोऽप्यधरासक्तानुरागः, बलायत्तचित्तोऽप्यबलायत्तचित्तः, वनीपकरक्षणोऽप्यवनीपकरक्षणः।

अपि च—वक्ता वक्तॄणां, श्रोता श्रोतॄणां, प्रबन्धा प्रबन्धॄणां, नेता सन्मार्गस्य, विनेताऽप्यसन्मार्गवर्तिनां, प्रणेताऽऽ-

[1] सदा.

ख्यायिकानां, अभिनेता नाटिकानां, अपनेता दुष्कृतानां, निर्णेता धर्मसन्देहस्य, परिणेता पद्मापद्मालयेळामहिळामहिळानां, अधिनेता सकलोर्वीचक्रवाळस्य,

अपि च प्रतिरूपकं विवस्वतः, वीप्सा मनुवैन्ययोः, अध्याहार इक्ष्वाकोः, समस्याः दिलीपस्य, संवादो रघोः, पण बन्धो रघुकुमारस्य, प्रतिनिधिः पङ्क्तिरथस्य, विग्रहान्तरं रामभद्रस्य, सकलजनतानन्दनजनार्दनो गौडेन्द्रमानमर्दनो विजय सुरभिसुरभितरसमधिकोदारो 'वीरकेदारः सञ्चरणकुलशैलभ्रम जनकमदवारणधिक्कृतदिक्कुञ्जरः, शरणागतहुशनशाहिसुरत्राण वज्रपञ्जरो, राजाधिराजपरमेश्वरः प्रतापरुद्रो गजपतिर्नाम.

अत्र वर्णयितृवर्ण्ययोरभेदैकनियतयोरपि अवस्थाभेदेन भेदकथनं एकस्यैव कवेः कविसहृदयत्ववत् न विरुध्यते। स चायं वीररुद्रो गजपतिरयोध्यामिवायोध्यां, मधुरामिव मधुरां, द्वारावतीमिव द्वारावतीं अवन्तीमिवावन्तीं, माया मिव मायां, वारणासिकामिव वारणासिकां, अपि च काशी मिव विश्वेश्वराधिष्ठितां, अयोध्यामिव इक्ष्वाकुसन्मार्गां, काञ्ची मिव कामकोटिपुण्यकोटिसमेतां, मधुरामिवोग्रसेनापरिपालितां, द्वारवतीमिवानकदुन्दुभिघोषसमेतां, महानदीजलमध्यमध्यासीनां, अमरनदीप्रतिबिम्बामिव भूकान्ताकटिकङ्कटकनगरीं, पद्मापद्मालयेळामहिळाभिस्समं सम्मानयन् प्रतिदिवसानियतराजकनियतव्यवहाररूपधर्माचरणमाचरन् यथाविहितसभामण्डपान्तरे सभ्यप्राड्विवाकामात्यपुरोहितज्योतिर्विदादिभिः सहितः विज्ञानयोगिभारुच्यपरार्कमेधातिथ्यसहायचन्द्रिकादि बहुग्रन्थै-

कवाक्यतापर्यालोचनवशायातत्क्लेशो माभूदिति सकलस्मृति समुच्चयमतिगम्भीरं नातिविस्तृतं प्रबन्धं प्रस्तौति—

अत्रेत्थं गमनिका—

अमा ननु मुनीश्वरा मनुवसिष्ठयोगीश्वरा
निबन्धनकृतोऽपि भारुचिकुलार्कयोगीश्वराः ।
गता विगतमत्सरा भवतु वी भवानीपतिः
स तुष्यतुतरां मम स्मृतिनिबन्धवाग्वैखरीम् ॥

हीने गर्वमहो नैव नैव गर्वमहोऽधिके ।
समे तु गर्वं शङ्केत न समस्ति समस्तु नः ॥

इति वीरश्री गजपतिगौडेश्वर नवकोटिकर्णाटकलुबरिगेश्वर
शरणागतयमुनापुराधीश्वर हुशनसाहिसुरत्राणशरणरक्षण
श्रीदुर्गावरपुत्र पवित्र चरित्र राजाधिराजराजपर-
मेश्वर श्री प्रतापरुद्रदेव महाराजविरचिते
स्मृतिसङ्ग्रहे सरस्वतीविलासे
प्रबन्धवंशावतरणं नाम
प्रथमो विलासः

## अथ द्वितीयोविलासः.

मनुस्मृतेस्तदविरुद्धानामन्यासां स्मृतीनामितरासामुपस्मृतीनां पुराणेतिहासादीनां वेदमूलकत्वेन प्रामाण्यमङ्गीकृतं न्यायविद्भिः। कचिदत्र तासां स्मृतीनां न्यायमूलकत्वेऽपि न्यायस्य वेदमूलकत्वात् तत्स्मृतीनामपि वेदतुल्यत्वमिति केचित्।

अन्ये त्वाहुः। न्यायानां वेदार्थेतिकर्तव्यतावेदकत्वात् तत्तत्स्मृतीनां वेदमूलकत्वमिति। अपरे तु "व्यवहारान्नृपः पश्येत्" इत्यत्र विधेयस्य दर्शनस्य कथमंशपूरकत्वेन प्रमाणकोटिनिवेशात्प्रामाण्यमित्याहुः। अतश्च तदुक्तो धर्मोऽनुष्ठेयः सर्वेषां वर्णानां तत्प्रतिपाद्यश्चाधर्मो नानुष्ठेय इत्यविवादम्।

एतच्च मन्वादिस्वरूपाऽपरिज्ञाने तु न शक्यमिति[1] तन्निरूप्यते—

धर्मशास्त्रकर्तारः;

मन्वङ्गिरोव्यासगौतमात्रेययमवासिष्ठदक्षसंवर्तशातातपपराशरविष्ण्वापस्तम्बहारीतशङ्खकात्यायनगुरुप्रचेतोनारदयोगीश्वरबोधायनपितामहसुमन्तुकश्यपबभ्रुपैठीनसिव्याघ्रपादसत्यव्रतभरद्वाजगार्ग्यकार्ष्णाजिनिजाबालिजमदग्निलौगाक्षिवत्समरीचिदेवलपारस्करलिखितछागलेयात्रिभिः प्रणीताः[2] स्मृतयः॥ जाबालिनाचिकेतस्कन्दलौगाक्षिकश्यपव्याससनत्कुमारशंतनुजनकव्याघ्रकात्यायनजातूकर्णिकपिञ्जलबोधायनकणादविश्वामित्र (पैठीनसिगोभिल)[3] प्रणीता उपस्मृतयः। जाबालिलौगाक्षिव्यासादयः पूर्वोक्ता न भवन्ति॥

---

[1] ज्ञाने ज्ञातुं दुश्शकमिति—B. [2] छागलेयप्रणीताः स्मृतयः.

[3] B. कोशे नास्ति.

## पुराणानि.

पुराणानि तु —ब्राह्मपाद्मवैष्णवशैवभागवतनारदीयमार्कण्डेयाग्नेयभविष्यत्ब्रह्मवैवर्तलैङ्गवाराहस्कान्दवामनकौर्ममात्स्यगारुडब्रह्माण्डानि एतान्यष्टादशपुराणानि ॥

## इति हासनामानि.

इतिहासाः—सत्यतप उपाख्यानसोमोत्पत्तिप्रभृतयः । अत एव "मानवो धर्मस्साङ्गो वेदः । पुराणं चिकित्सितमित्येतानि चत्वार्याज्ञासिद्धानि" इत्युक्तं विष्णुना । मानवो धर्म इत्यनेन मनुस्मृत्यविरुद्धास्सर्वास्स्मृतयश्च सङ्गृहीताः । पुराणशब्दश्चेतिहासादीनामुपलक्षकः । एवञ्च गृह्यकारप्रणीतानामपि प्रामाण्यमविरुद्धम् । तेषामपि मन्त्रादिप्रणीतसंस्कारकलापस्यैव मन्त्रविनियोगद्वारेण प्रयोजकत्वात् ॥

"गृह्यकाराः स्वतन्त्रतः तत्प्रयुक्तप्रयोक्तारः" इति देवलस्मृतेः एवं स्थिते टीकाकारैः विज्ञानयोगिप्रभृतिभिः निबन्धनकारैः कुलार्कलक्ष्मीधरप्रभृतिभिः लोकानुजिघृक्षया स्मृतिव्याख्यानव्याजेन सर्वाः स्मृतयो व्याख्याताः शिष्टाऽनुगृहीतसर्वानुष्ठापकपूर्वनिबन्धृनिर्मितनिबन्धेषु विद्यमानेषु ।

एकेन चरितार्थत्वात् इतराऽनर्थतानयः ।
पूर्वप्रबन्धैर्विषयी भवेदिति ममोद्यमः ।

मदीयग्रन्थे जाग्रति पूर्वनिबन्धृनिर्मितनिबन्धेषु आनर्थक्यनयविश्रान्तिरिति । यद्वा पूर्वनिबन्धेषु विषयैक्ये तद्विपरीतलक्षणया विज्ञानयोगिभारुचिमेधातिथ्यसहायापरार्कचन्द्रिकाकारकुलार्कलक्ष्मीपतिप्रभृतिभिः प्रबन्धृभिः निर्मितेषु प्रबन्धेषु

प्रतिगृहं विद्यमानेषु प्रत्येकं स्मार्तकर्मानुष्ठापकेषु जाग्रत्सु एकेन चरितार्थत्वादितरानर्थक्यमिति न्यायो नात्रावतरतीति वक्तव्यम्। तथैवास्मद्ग्रन्थे न प्रसरत्येवेतरानर्थक्यन्याय इति ममोद्यम इति कारिकार्थः ॥

### व्यवहारस्य आचारोपजीव्यत्वम्.

अत्र व्यवहारस्य आचारोपजीव्यत्वं व्यवहारदर्शन निबन्धनत्वादाचारस्य । तथा हि व्यवहारदर्शनाद्धि दुष्ट निग्रहः । दुष्टनिग्रहे सति वर्णाश्रमधर्मावस्थितिः । तदवस्थितौ सत्यामेव तद्विहितधर्मानुष्ठानमित्याचारस्य व्यवहारोपजीव्यता ॥

### प्रथमं व्यवहारकाण्डप्राथम्यम्.

ततश्चाचारकाण्डाद्व्यवहारकाण्डः प्रथममारब्धः । यद्यपि मन्वादिस्मृतिषु आचारकाण्डः पूर्वं प्रतिपादितः तदनन्तरं व्यवहारकाण्डः तदनन्तरं प्रायश्चित्तकाण्ड इत्येवं क्रमेण निरूपितम्। अस्मिन् स्मृतिसङ्ग्रहरूपे ग्रन्थे तत्तत्स्मृत्यनुसारेण तदुक्तक्रमेण आचारकाण्डनिरूपणानन्तरं व्यवहारकाण्डनिरूपणं युक्तम् । तथापि वीररुद्रगजपतिमहाराजस्याकाङ्क्षानुसारेण प्रथमं व्यवहारकाण्डः प्रक्रम्यते । तत्र व्यवहारदर्शने राज्ञ एवाधिकारः । वर्णाश्रमधर्मनिर्वाहकस्य प्रजापरिपालनस्य दुष्टनिग्रहशीलस्य राजैकनियतधर्मत्वात् । तथा च याज्ञवल्क्यः---

यो दण्ड्यान् दण्डयेद्राजा सम्यक् दण्ड्यांश्च घातयेत् ।
इष्टं स्यात् क्रतुभिस्तेन समाप्तवरदक्षिणैः ॥

---

1 स्मृतिपुराणकर्तारः

दण्डः धनदण्डः शारीरदण्डश्च वधस्स्पष्टः। तेन राज्ञा भूरिदक्षिणैः क्रतुभिरिष्टं स्यात्। बहुदक्षिणक्रतुफलं स राजा प्राप्नोतीत्यर्थः। न च यच्छब्दस्य विध्युपघातकत्वे निश्चिते यच्छब्दो यदाग्नेयवन्नेय इति पुरस्तात् स्वत्वनिरूपणाव सरे निरूप्यते नच फलश्रवणाद्दण्डप्रणयनं काम्यमिति मन्त व्यम्। अकरणे प्रत्यवायश्रवणात्। तथा च मनुः—

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाऽप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥

दण्डविधाने नृपत्यादीनां प्रायश्चित्तम्.

वसिष्ठेन—दण्डोत्सर्गे राजा एकरात्रमुपवसेत्, त्रिरात्रं पुरोहितः, कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने, पुरोहितस्त्रिरात्रं चेति। अतश्च दुष्टे सम्यग्दण्डः प्रयोक्तव्य इत्युक्तम् ॥

दुष्टपरिज्ञानं व्यवहारदर्शनमन्तरेण न सिद्ध्यति। त त्परिज्ञानाय राज्ञा व्यवहारदर्शनमहरहः कर्तव्यम्—अत एव विष्णुः—

'प्रजापरिपालनमेव राज्ञां स्वधर्मः अन्यथा स्वधर्मा-त्प्रच्यवेत' इति व्यवहारदर्शनं प्रजापालनार्थत्वात्सन्ध्यावन्दना-दितुल्यमित्यभिप्रायः। अत एव याज्ञवल्क्यः—

इति सञ्चिन्त्य नृपतिः क्रतुतुल्यफलान् पृथक्।
व्यवहारान् स्वयं पश्येत् सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम् ॥

इति। अस्यार्थः इत्युक्तेन प्रकारेण "इष्टं स्यात्क्रतुभिः" इत्यादिना पृथगिति वर्णादिक्रमेणेत्यर्थः। वर्णादिक्रमं तु स एवाऽऽह—

स्वधर्माच्चलितानां कृत्यानुसारेण दण्डः.

कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जनपदानि च ।
स्वधर्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥

कुलानि ब्राह्मणादीनां, जातयो मूर्धावसिक्तादयः, श्रेणयः ताम्बूलिकादीनां, गणः पार्षण्डनां, जनपदा नापितकारुकादयः, विनीय दण्डयित्वा । अत एव बृहस्पतिः—

धर्मशास्त्रानुसारेण सामात्यस्सपुरोहितः ।
व्यवहारान्नृपः पश्येत्प्रजासंरक्षणाय च ॥
क्रोधलोभविहीनस्तु सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ इति ॥

धर्मशास्त्रानुसारेणेत्यनेन क्रोधलोभविसर्जनस्य सिद्धत्वात्क्रोधलोभविसर्जनं राज्ञस्स्वभावगुण इति प्रदर्शितम् । अत एव याज्ञवल्क्यः—

महोत्साहस्स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः ।
विनीतस्सत्वसंपन्नः कुलीनस्सत्यवाक् शुचिः ॥
अदीर्घसूत्रस्स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा ।
धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञश्शूरो रहस्यवित् ॥
स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च ।
विदितस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः ॥ इति ॥

उत्साहः पौरुषं महानुत्साहो यस्य स महोत्साहः । स्थूल लक्षः स्थूलमनेकद्रव्यं ददातीति स्थूललक्षो बहुप्रदः, कृतज्ञः कृतमुपकारमपकारं वा जानाति स्मरतीति कृतज्ञः । वृद्धानां

सेवको वृद्धसेवकः। विनीतो गर्वरहितः। सत्वसंपन्नः परैः दुर्धर्षः। कुलीनो महाकुले जातः। सत्यवाक् प्राणात्ययेऽपि सत्यं वदतीति सत्यवाक्। शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचवान्। अदीर्घसूत्रः शीघ्रकारी। स्मृतिमान् अधीतवेदधारणशीलः। अक्षुद्रो गम्भीराऽशयः। अपरुषः परदोषानाविष्करणशीलः। धार्मिकः नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठानपरः। वर्णाश्रमधर्मान्वितः इति विज्ञानेश्वरः। अव्यसनः अष्टादशव्यसनशून्यः। तथा च मनुः—

मृगयाऽक्षो दिवास्वापः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथा त्यागः कामजो दशको गणः॥

मृगयादीनां काममूलकत्वात्कामजं गणदशकमिति वाक्यार्थः क्रोधजं गणाष्टकमित्याह स एव—

पैशुन्यं साहसं द्रोहमीर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणाष्टकः॥ इति॥

अष्टसङ्ख्यासङ्ख्यातः। एतस्मिन् वर्गद्वये काममूलकानां दशानां पानाक्षमृगयाः कष्टतमाः इत्याह स एव—

पानमक्षाःस्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विन्द्याच्चतुष्कं कामजे गणे॥

अत्र यथाक्रममिति कामक्रोधावलम्बनेनैव क्रमविवक्षा न तु पानाक्षस्त्रीमृगयाणां परस्परवैषम्यविवक्षया क्रमपदप्रयोगः। तेषां पानाक्षस्त्रीमृगयारूपाणां कष्टतमत्वेनैव तुल्यतया चतु-

ष्कपदेन ज्ञापितत्वात् । क्रोधजे गणे त्रयाणां कष्टतरत्वमाह स एव ।

दण्डस्य पालनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।

क्रोधजे गणे त्रयाणां कष्टतमत्वमाह स एव—

क्रोधजेऽपि गणे विन्द्यात् कष्टमेतात्त्रिकं सदा ॥ इति ।

प्राज्ञः शास्त्रार्थसूक्ष्मदर्शी गम्भीरार्थावधारणक्षम इति विज्ञानेश्वरः, शूरः निर्भयः, रहस्यवित् गोपनीयार्थवेदनशीलः । पररहस्यवेदनशील इति भारुचिः । स्वरन्ध्रगोप्ता परप्रवेश द्वाररक्षकः । आन्वीक्षिक्यामात्मविद्यायां, दण्डनीत्यां अर्थयोग क्षेमोपयोगिन्यां, वार्तायां कृषिवाणिज्यपशुपाल्यायां धनोपचयहेतुभूतायां, त्रय्यां ऋग्यजुस्सामाख्यायां च विदितः प्रसिद्धः । विनीत इति पाठं कृत्वा व्याचष्टे विज्ञानेश्वरः । विशेषेण प्रावीण्यमपि नीत इति तत्तदभिज्ञैरिति शेषः । यथाऽऽह मनुः—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विन्द्यात् दण्डनीतिं च तद्विदः ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविदः वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ इति॥

तत्परिज्ञानं किमर्थमित्यपेक्षिते हारीतः—

आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ इति ॥

आन्वीक्षिक्यादिषु विज्ञानादिकं ज्ञातव्यमित्यर्थः नराधिपः अभिषिक्तस्स्यादिति सर्वत्र सम्बन्धः । अत्र अभिषेकयुक्तस्य नृपतेरन्तरङ्गधर्मकथनावसरे प्रासाङ्गिकं तत्रैव बहिर-

ङ्गनिरूपणं क्रियते—तत्र कात्यायनः—

राजा पुरोहितं कुर्यादुदितं ब्राह्मणं हितम् ।
कृताध्ययनसम्पन्नमलुब्धं सत्यवादिनम् ॥ इति ॥

अत्रैकत्वं विवक्षितं यूपं छिनत्तीतिवदुत्पाद्यत्वात् । तथा च याज्ञवल्क्यः—

पुरोहितं च कुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम् ।
दण्डनीत्यां तु कुशलमथर्वाङ्गिरसे तथा ॥

उदितोदितमिति—उदितैर्विद्याभिजननानुष्ठानादिभिरुदितं समृद्धमिति विज्ञानेश्वरः—

भारुचिस्तु—

उदिते राज्ञः पट्टबन्धसमये उदितस्सम्पाद्यः तथा च हारीतः—

पट्टबन्धोदये कार्य एक एव पुरोहितः ।
तेनैव कार्यास्सर्वास्तु राज्ञस्तस्यौर्ध्वदैहिकाः ॥
अल्पायुष्ट्वात् कलियुगे तथा कुर्यात् द्विकं सदा ॥ इति ॥

अत्र और्ध्वदैहिकग्रहणं सर्वक्रियोपलक्षणार्थम् । ऐहिकक्रिया राज्ञस्स्वशक्त्या पुरोहितेनैव कार्याः । तदा पट्टबन्धसमय एव द्विकं द्वौ कुर्यात् । एकः प्राधान्येन, अपरस्तूपसर्जनतया, प्रधानस्य नाशे उपसर्जनस्य प्राधान्यं । तस्योपसर्जनपुरोहितस्य प्राधान्यस्वीकारसमये उपसर्जनं पुरोहितान्तरं सम्पाद्यम् । "अल्पायुष्ट्वात्कलियुग" इति न्यायस्यात्रापि समा-

नत्वात्। यद्यप्यत्र सङ्ख्याऽविवक्षिता। तथाप्युपसर्जनस्य तत्रैवान्तर्भावादेक एव पुरोहित इति अनेन द्वित्वसङ्ख्या न विरुध्यते। अथर्वाङ्गिरसे चेति शन्त्यादिकर्मसु कुशलमित्यर्थः शेषमतिरोहितार्थम्। एक एव पुरोहित इति नियमः। पुरोहितान्तरनिवृत्तिपरः न तु ज्योतिर्विन्निवृत्तिपरः। पुरोहितत्वाज्ज्योतिर्विदः पृथक्सम्पाद्यात्वात्। अत एव विष्णुः— "ज्योतिर्वित्पुरोहितौ कार्यौ" इति।

तथाच राजलासके—

"ज्योतिर्वित्पुरोहितमन्त्रिणः कार्याः" इति।

मन्त्रिण इति मन्त्रणं राजकार्यविचारः। यद्यपि याज्ञवल्क्येनोक्तम्—

"पुरोहितं च कुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम्" इति।

पुरोहित एव दैवज्ञश्चेत् दैवज्ञान्तरं न कर्तव्यम्। इत्येवं परमिति केचिद्व्याचक्षते।

"पुरोहितं च कुर्वीत दैवज्ञं च कुर्वीत" तौ कदेत्याकाङ्क्षायामाह "उदितोदितमिति"। उदितमुदयं भावे निष्ठा उदयसमयात् उदितमिति पञ्चमीसमासः। उदयात् पट्टबन्धात् पूर्वमेव ज्योतिर्विद्वरणम्। पट्टबन्धनानन्तरं पुरोहितवरणमिति। अत एवोक्तं राजलासके—

"वृतोपदिष्टमुहूर्तेऽभिषेकं कुर्यात्" इति

वृतेन ज्योतिर्विदा उपदिष्ट इति वृतोपदिष्टः।

यत्तूक्तं विष्णुना—

"आथर्वणिकं पौराणिकं धर्मशास्त्रकुशलं पुरोहितं वृत्वा ततो ज्योतिर्विदं वृणुयात्" इति।

तत्तु ज्योतिर्विद्वरणाऽऽवश्यकत्वप्रतिपादनपरम्।

वरणस्य पूर्वापरभावप्रतिपादनं क्त्वाप्रत्ययस्य समानकर्तृकत्वमात्र एव विहितत्वेन न पूर्वकालनिबन्धनत्वात् समान कर्तृकत्वमात्रानियतत्वं मुखं व्यादाय स्वपितीत्यादौ दृष्टम्। एतच्च समानकर्तृकयोः पूर्वकाल इत्यत्र हरिणा प्रपञ्चितम्। अतश्च ज्योतिर्वित्कर्तव्यताप्रतिपादनपरमिति युक्तमुत्पश्यामः। ततश्च राजलासकोक्तं—"वृतोपादिष्टमुहूर्तेऽभिषेकं कुर्यात्" इति समञ्जसं स्यात्। अत एव राजकार्यविचारे—

तैस्सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ स्वयं ततः।

इति याज्ञवल्क्यवचने विप्रपदं ज्योतिर्वित्परम्।

मन्त्रिपुरोहितादिवरणम्.

राजकार्यकुशलमन्त्रिविचारानन्तरं दैवज्ञविचार एव युज्यते। न तु पुरोहित विचारः। विज्ञानयोगिना तु विप्रपदं पुरोहितपरमित्युक्तम्। यदि पुरोहित एव ज्योतिर्वित्तत्परमित्यनुसंधेयम्। तथाच मन्त्रिणोऽपि कार्या इत्याह विष्णुः—"मौल्यानर्थविदो मन्त्रिणः कुर्वीत स्वराष्ट्रस्य गुप्तये" इति मौल्यान् स्ववंशपरम्परायातान्, अर्थविदः धनार्जनोपायविदश्च एतेषामभावे राज्यस्य गुप्तिर्न विद्यत इत्यवश्यं संपाद्या इत्यर्थः।

मौल्यानिति बहुवचनं सप्त वाऽष्टौ वा कार्या मन्त्रिण इति। तथाच मनुः।

मौल्यान् शास्त्रविदश्शूरान् लब्धरक्षान कुलोद्भवान्।
सचिवान् सप्त वाऽष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षतान्॥ इति।

अत्र विशेषमाह याज्ञवक्ल्यः—

स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत मौलान्प्राज्ञान्शुचीन्स्थिरान्।
तैस्सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततस्स्वयम्॥ इति।

स राजा महोत्साहादिगुणयुक्तः प्राज्ञः हिताहितविवेककुशलः, मौल्या व्याख्याताः, स्थिराः महत्यापि हर्षविषादस्थाने विकाररहिता इति विज्ञानेश्वरः। भारुचिस्तु स्थैर्यं नाम मित्र भेदेऽपि स्वभावतोऽवस्थानं स्वामिहितैषणमित्यर्थः। शुचयो निष्कळङ्काः एवं मन्त्रिभिस्सार्धं राजा राज्यं सन्धिविग्रहादिकार्यं चिन्तयेत्। ततः सर्वशास्त्रार्थकुशलेन ज्योतिर्विदा ब्राह्मणेन सह कार्यं सञ्चिन्त्य ततः स्वयं स्वबुद्ध्या चिन्तयेत्। अत्र विशेषमाह विष्णुः—

"चत्वार ऋत्विजो वृणुयात् सदस्यं पञ्चमं श्रौतस्मार्तक्रियासिद्ध्य" इति। चत्वार ऋत्विज इति ब्रह्मा होता अध्वर्युरग्निरिति केचित्। केचिद्ब्रह्माऽध्वर्युर्होतोद्गातेति महर्त्विजश्चत्वार इत्याहुः। श्रौतस्मार्तक्रियानुष्ठानासिद्ध्यर्थं सदस्यपञ्चमान् ऋत्विजो वृणुयादित्यर्थः।

गौतमस्तु विशेषमाह—

"उपद्रष्टापि सम्पाद्य" इति। अत एव अविशेषेणोक्तं याज्ञवल्क्येन।

"श्रौतस्मार्तक्रियाहेतोर्वृणुयादेव चर्त्विजः ।
यज्ञांश्चैव प्रकुर्वीत विधिवद्भूरिदक्षिणान् ॥

यज्ञानग्निष्टोमादीन् चकाराद्राजसूयादीन्। तदनन्तरमाह वसिष्ठः।

योगक्षेमलक्षणम्.

"योगक्षेमार्थयोर्यत्नः कर्तव्य" इति

अस्यार्थः अलब्धस्य लाभो योगः। लब्धस्य परिपालनं क्षेमः उभयमपि धर्मानुसारेणैव। अत एवाह याज्ञवल्क्यः—

अलब्धमीहेद्धर्मेण लब्धं यत्नेन पालयेत् ।
पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ इति ।

अलब्धलाभाय धर्माविरोधेन यत्नः कर्तव्यः। लब्धं तु स्वयमपेक्षया रक्षेत्। नीतिः वणिक्पथादिका। वृद्धं पात्रेषु त्रिषु धर्मार्थकामेषु निक्षिपेत्। अत्र पात्रेष्विति बहुवचनं त्रित्व एव पर्यवसितम्। कपिञ्जलाधिकरणन्यायेनेति भारुचिः। एतद्भारुचिव्याख्यानं पात्रत्रैविध्यप्रतिपादनपरम्। न तु पात्रसङ्कोचप्रतिपादनपरम्। अत एवोक्तं हारीतेन—

"आयव्ययौ परिज्ञायेति" पालितं वर्धयेन्नीत्येति" याज्ञवल्कीय वचनसमानार्थं वेदितव्यम्। आयव्ययपरिज्ञानानन्तरं आयव्यययोः साम्ये व्ययस्याधिक्ये वा दातुमनुचितत्वात् कोशाभावे राज्ञः स्वराष्ट्रस्य स्थापनं परराष्ट्रस्य साधनं दुश्शकमिति वक्ष्यमाणत्वात्। यत्तु विष्णुनोक्तं—

"योगक्षेमसाधितं द्रव्यं ब्राह्मणेभ्योऽतिथिभ्यः सत्त्रिभ्यः इष्टापूर्तार्थं कुशीलवेभ्यो नर्तकादिभ्यो बलिने राज्ञे करं सौदायिकं पारितोषिकं दद्यात्" इति ।

योगक्षेमौ व्याख्यातौ । ब्राह्मणेभ्यः पात्रभूतेभ्यः तुलापुरुषादिदानरूपेण देयम् । अतिथिभ्यः पञ्चमहायज्ञावसाने स्वयमागतेभ्यः, सत्त्रिभ्यः यज्ञदक्षिणार्थमागतेभ्यः, एतत्सत्त्रिपदं धर्मजनकक्रियासाधनार्थं द्रव्ययाचकानामुपलक्षकं । अतश्च तटाकादिनिर्मातॄणां यत्किञ्चिद्देयम् । इष्टापूर्तार्थं । इष्टं यागः, पूर्तं तटाकादि । यागशब्देन यागदक्षिणा । पूर्तशब्देन पूर्तनिर्मातृभृतिरुपलक्ष्यते । एतद्द्वयं स्वकृतमित्यवगन्तव्यम् । अन्यथा सत्त्रिपदपौनरुक्त्यात् । अयं च धर्ममूलव्ययप्रकारः । बलिने राज्ञे करमिति अर्थपुरुषार्थमूलव्ययः । शेषस्तु कामपुरुषार्थमूलव्ययः । कृषिकाणां भृतिः त्रिवर्गसाधारणव्ययः । सौदायिकं स्त्रीधनं पारितोषिकं स्त्रीणां तोषवशाद्दत्तम् । तच्च पारितोषिकपदं सामान्यतः परितोषमूलकदाने विशेषनिष्ठतां विहाय प्रवर्तते क्वचित् ।

यथा—

"राजा भटानां पारितोषिकं दत्ते" ॥ इति ।

तदपि आयव्ययपरिशीलनानन्तरं यथाशक्ति देयमित्येवं परम् । आयव्ययपरिशीलनानन्तरं यथाशक्ति किं कर्तव्यमित्यपेक्षिते याज्ञवल्क्यः—

"भोगांश्च दद्याद्विप्रेभ्यो वसूनि विविधानि च ।
अक्षयोऽयं निधीराज्ञां यद्विप्रेषूपपादितम् ॥

ब्राह्मणेभ्यः पात्रभूतेभ्यः भोगान् सुखानि तत्साधनद्वारेण दद्यात् । सुखसाधनानि दद्यादित्यर्थः । वसूनि सुवर्णरूप्य प्रभृतीनि नानाप्रकाराणि दद्यात् । शेषं व्यक्तार्थम् ।

साधारणधर्मत्वेन दानविधौ प्राप्ते राज्ञां धनमावश्यकमिति पुनर्वचनं याज्ञवल्क्यस्य । स च तदेव प्रस्तौति—

"अस्कन्नमव्यथं चैव प्रायश्चित्तैरदूषितम् ।
अग्नेस्सकाशाद्विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते ॥

अस्यार्थः—अग्नेस्सकाशादग्निसाध्याद्भूरिदक्षिणात् राजसूयाश्वमेधादेरपि विप्राग्नेर्हुतं श्रेष्ठमुच्यते । यत एतदस्कन्नं क्षयरहितं अव्यथं पशुहिंसादिरहितं प्रायश्चित्तादिरहितं च यद्ब्राह्मणेभ्यो दीयते । तथा च मनुः—

"नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मे निधीयते ।
न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति ॥
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ।
न स्कन्दति न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित् ।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ इति ।

तत्र विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

"दत्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं तु कारयेत् ।
आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः ॥" इति ।

निबन्धो वाणिज्याधिकारिभिः प्रतिवर्षं प्रतिमासं वा स्ववाणिज्यात् द्रव्यात् यत्किञ्चिद्धनमस्मै ब्राह्मणाय अस्यै देवतायै वा देयमिति प्रभुसमये लभ्योऽर्थः ।

यद्यप्यत्र धनदातृत्वं वाणिज्याधिकारिणामेव । तथापि निबन्धकर्तुरेव पुण्यं तदुद्देशेनैवेतरस्य प्रवृत्तेः । भूमिं दत्वेत्यत्र भूमिशब्दः आरामादीनामुपलक्षकः । अतएव बृहस्पतिः—

शासनप्रकरणम्.

"दत्वा भूम्यादिकं राजा ताम्रपट्टेऽथवा पटे ।
शासनं कारयेद्धर्म्यं स्थानवंशादिसंयुतम्" ॥

अत्र याज्ञवल्क्यः—

"अभिलेख्यात्मनो वंश्यान् आत्मानं च महीपतिः ।
प्रतिग्रहपरीमाणं दानच्छेदोपवर्णनम् ॥
स्वहस्तकालसम्पन्नं शासनं कारयेत् स्थिरम् ।
पट्टे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम्" ॥

एतच्च लेख्यप्रकरणे प्रतिपाद्यते ।

दुर्गम्

इदानीं राज्ञो निवासस्थानमाह ।

जाङ्गलं तु प्रकुर्वीत दुर्गं कोशस्य गुप्तये ।

जाङ्गलं जाङ्गलदेशस्थितं न तु दुर्गं जाङ्गलम् ।

यदाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

"रम्यं पशव्यमाजीव्यं जाङ्गलं देशमाविशेत् ।
तत्र दुर्गाणि कुर्वीत जनकोशात्मगुप्तये" ॥

रम्यमुपवनादिभिः, पशव्यं पशुभ्यो हितं, आजीव्यं कन्द मूलफलपुष्पादिभिः । यद्यप्यल्पोदकतरुपल्लवदेशो जाङ्गलः, तथाप्यत्र समृद्धजलतरुपर्वतदेशो जाङ्गल इति विज्ञानेश्वरः।

दुर्गं षड्विधम्—

"धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव च ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं च समाश्रित्य वसेत्पुरम्" ॥

इति मनुस्मरणात् । अत्र विशेषः स्मृत्यन्तरे—

"धर्मकृत्येषु धर्मज्ञानर्थकृत्येषु पण्डितान् ।
स्त्रीषु क्लीबान्नियुञ्जीत नीचान्नीचेषु कर्मसु ॥ इति ।

अनेनैवाभिप्रायेणोक्तं याज्ञवल्क्येन—

"तत्र तत्र च निष्णातान् अध्यक्षान् कुशलान् शुचीन् ।
प्रकुर्यादायकर्मान्तव्ययकर्मसु चोदितान्" ॥ इति ।

तत्र धर्मादिस्थानेष्विति शेषः । अस्यार्थः स्पष्टीकृतो वृद्धैः--

"प्राज्ञत्वमुपधाशुद्धिरप्रमादोऽभियुक्तता ।
कार्येषु व्यसनाभावः स्वामिभक्तिश्च योग्यता" ॥ इति।

राज्ञां प्रतापार्जितस्य दाने फलाधिक्यमाह याज्ञवल्क्यः—

"नाऽतः परतरो धर्मो नृपाणां यत् रणार्जितम् ।
विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा ॥ इति ।

रणार्जितद्रव्याभावेऽपि तद्द्रव्यदानात् तत्र मरणमेव श्रेय इत्याह स एव—

"य आहवेषु युध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः ।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥
पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वविनिवर्तिनाम् ।
राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम् ॥
तवाहंवादिनं क्लीबं निर्हेतिं परसङ्गतम् ।
निहन्याद्विनिवृत्तं च वृद्धप्रेक्षणकारिकम्" ॥

तवाहमिति यो वदति त्वदीयोऽहमिति वदेदित्यर्थः । शेषं सुगमम् । आदिग्रहणात् विरथविसारथ्यादयो गृह्यन्ते । यथाऽऽह गौतमः—

"न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः" इति । शङ्खोऽपि विशेषमाह—

"न पानीयं पिबन्तं न भुञ्जानं नोपानहौ मुञ्चन्तं नापवर्माणं नाक्करेणुं न स्त्रियं न वाजिनं न राजानं हन्यादिति"

विष्णुस्तु—"दीक्षितं कान्तापरिवृतं कान्तावेषं कृताञ्जलिं प्रपलायितं त्यक्तास्त्रं न हन्यादिति"

मनुस्तु विशेषमाह—

"न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैः नाग्निज्वलिततेजनैः ॥
न च हन्यात्स्थलाऽऽरूढान् न क्लीबान्न कृताञ्जलीन् ।
न मुक्तकेशं नाऽऽसीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नाऽयुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥
नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ इति ।

व्यवहारदर्शनम्.

अत्र विशेषमाह विष्णुः—

"प्रतिदिनमायव्ययपरिशीलनं कर्तव्यं व्यवहारदर्शनवदिति" अनेनाभिप्रायेणाह याज्ञवल्क्यः—

"कृतरक्षस्समुत्थाय पश्येदायव्ययौ स्वयम् ।
व्यवहारान् ततो दृष्ट्वा स्नात्वा भुञ्जीत कामतः" ॥ इति ।

कृतरक्षः पुरस्यात्मनश्च रक्षां विधाय प्रतिदिनं प्रातकाल उत्थाय स्वयमेवायव्ययौ पश्येत् । ततो व्यवहारान् दृष्ट्वा मध्याह्नकाले कामतो यथारुचि भुञ्जीतेति क्रमविवक्षामाह विज्ञानेश्वरः । अत्र क्रमो न विवक्षित इति भारुचिः । अतः प्रातःकाल एव स्नात्वा भुक्त्वा व्यवहारदर्शनं कर्तव्यमिति। भोजनानन्तरकृत्यमाह वसिष्ठः—

"भाण्डागारनिरीक्षणं, चारदूतप्रेषणं, उपायनादिस्वीकारः, मन्त्रविचारो मन्त्रिभिः" इति ।

उपायनं सामन्तभूपालैः प्रेषितः करः। चारा वाणवेषधारिणो गूढाः । दूतास्तु प्रकाशाः यथाऽऽह योगीश्वरः—

"हिरण्यं व्यावृतानीतं भाण्डागारे विनिक्षिपेत् ।
पश्येच्चारान् ततो दूतान् प्रेषयेन्मन्त्रिसङ्गतः" ॥ इति ।

अत्र विज्ञानेश्वरः—

"चारास्तु त्रिविधाः—निसृष्टार्थाः, सन्दिष्टार्थाः, शासनहस्ताश्चेति । तत्र निसृष्टार्थाः राजकार्याणि देशकालोचितानि स्वयमेव कथयितुं क्षमाः । सन्दिष्टार्थास्तु उक्तमात्रं परस्मै निवेदयन्ति । शासनहस्तास्तु राजलेख्यहारिण इत्याह"।

तदनन्तरकर्तव्यमाह विष्णुः—

"अपराह्णे यथेच्छमन्तःपुरविहारी स्यादिति"

अत एवाह मनुः—

"भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सदा ।
विहरेच्च यथाकामं पुनः कार्याणि चिन्तयेत्" ।

इत्यत्र केन सहेत्याकाङ्क्षायामाह याज्ञवल्क्यः—

"ततः स्वैरविहारी स्यान्मन्त्रिभिर्वा समाहितः ।
बलानां दर्शनं कृत्वा सेनान्या सह चिन्तयेत्" ॥ इति ।

ततः अपराह्ण इत्यर्थः । ततः किं कुर्यादित्युक्तं हारीतेन—

"सन्ध्यामुपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्यस्थायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम्॥ इति ।

तथाच विष्णुः—

"सायंकाले शस्त्रपाणिः क्वचित् स्थापितचारानाहूय रहस्यं शृणुयात्" इति । अनेनैवाभिप्रायेणोक्तं योगीश्वरेण—

"सन्ध्यामुपास्य शृणुयाच्चाराणां गूढभाषितम् ।
नृत्तगीतैश्च भुञ्जीत पठेत्स्वाध्यायमेव च" ॥ इति ।

सन्ध्योपासनस्य सामान्यतः प्राप्तस्यापि पुनर्वचनं कार्यानुकूलत्वादविस्मरणार्थम्" इति विज्ञानेश्वरः । भारुचिस्तु—"कार्थ्व्यासङ्गेऽपि शक्तौ सत्यां न पुरोहितकृत्यं सन्ध्योपासनमिति ज्ञापनार्थम्" इत्याह । तदनन्तरं किं कर्तव्यमित्यपेक्षिते योगीश्वरः—

"संविशेत्तूर्यघोषेण प्रबुध्येच्च तथैव च ।
शास्त्राणि चिन्तयेद्बुध्या सर्वकर्तव्यतां तथा" ॥ इति ।

अत एवाह वसिष्ठः—

"ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय त्रिचतुरैः त्रिद्वद्भिस्सह शास्त्राणि चिन्तयेत्" इति । सर्वकर्तव्यतां तु स्वयमेव चिन्तयेत् । एतत् स्पष्टविषयम् । यथाऽऽह हारीतः—

एतद्वृत्तं समातिष्ठेत् स्वस्थस्सन् पृथिवीपतिः ।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु मन्त्रिमुख्ये निवेदयेत्" ॥ इति ।

तदनन्तरकृत्यमाहतुः शङ्खलिखितौ—

"विश्वासिनश्चारान् समानयेत् तानन्यत्र प्रेषयेत्" ॥ इति

तदनन्तरकृत्यमाह विष्णुः—

"सन्ध्योपासनमग्निहोत्रर्त्विक्पुरोहिताशीर्वादस्वीकारो ज्योतिर्विद्दर्शनसम्भाषणरहस्यकथनपूर्वकं स्वशरीरस्थितिं निवेद्य प्रतिविधानं चादिश्य श्रोत्रियेभ्यः कनकतिलादिदानानि दद्यात्" ॥ इति ।

स्वशरीरनिवेदनं वैद्यानाम्। अतएवाह याज्ञवल्क्यः—

"प्रेषयेच्च ततश्चारान् स्वेष्वन्येषु च सादरान्।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैराशीर्भिरभिनन्दितः॥
दृष्ट्वा ज्योतिर्विदो वैद्यान् दद्याद्गां काञ्चनं महीम्।
नैवेशिकानि च तथा श्रोत्रियाणां गृहाणि च॥
ब्राह्मणेषु क्षमा स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु।
स्याद्राजा भृत्यवर्गे च प्रजासु च पिता यथा"॥ इति॥

ब्राह्मणेष्वधिक्षिपत्स्विति शेषः।

राज्ञः प्रजापरिपालने फलविशेषमाह विष्णुः—

षड्भाग हारित्वम्

"तपसः षड्भागं गृह्णाति प्रजारञ्जनात् राजा" इति।

अस्यार्थः—प्रजारञ्जनादेव राजशब्दवाच्यः। न तु पुण्यात्। षड्भागमादत्ते इति। अत एवाह वसिष्ठः—

"न्याय्यो राजा षड्भागहारी" इति।

न्याय्यो न्यायादनपेतः षष्ठं भागं तपस इति शेषः।

राज्ञः प्रजापरिपालन फलम्.

अतएवाह याज्ञवल्क्यः—

"पुण्यात् षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्।
सर्वदानाधिकं यस्मात् प्रजानां परिपालनम्"॥ इति॥

सर्वदानेभ्योऽआधिकं तस्मादवश्यं कर्तव्यमित्यर्थः। विज्ञानेश्वरस्तु,

"यस्मादधिकं फलं तस्मात् प्रजासु यथा पिता तथैव स्यादिति गतेन संबन्धः" इत्याह।

अत्र विशेषमाह हारीतः—

"राष्ट्राधिकृतवृत्तं तु चारैर्ज्ञात्वा प्रजावनम्" ॥ इति ।

प्रजावनं—प्रजारक्षणम् । राज्ञा ये अधिकृताः—अधिकारिणः तेषां वृत्तं चारैर्ज्ञात्वा दुष्टान् घातयेत्, साधून् सम्मानयेदिति ।

यथाह—वसिष्ठः ।

"कायस्थेभ्यो विशेषतो रक्षेदुत्कोचजीविभ्यः"॥ इति । एतच्च व्याख्यातं सङ्ग्रहकारेण—उत्कोचजीविभ्यः कायस्थेभ्य इत्यन्वये कायस्था यद्युत्कोचजीविनः तदा तेभ्यः अवश्यं संरक्षणं कर्तव्यमिति, तत्र, कायस्था—गणका उत्कोचजीविन एव । एतच्चोत्कोचजीविभ्योऽपि रक्षणं पृथगेव ।

अतएवाह—याज्ञवल्क्यः ।

"ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम् ।
साधून् सम्मानयेद्राजा विपरीतांस्तु घातयेत् ॥
उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान् कृत्वा विवासयेत् ।
सदानमानसत्कारान् श्रोत्रियान् वासयेत्तदा ॥
चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषतः" ॥ इति ॥

कायस्थानां राजवल्लभतया अतिमायावितया दुर्निवारत्वादित्यर्थः । चाटाः प्रतारकाः ।

अन्यायेन कोशपूरणे राज्ञो हानिः.

"अन्यायेन नृपो राष्ट्रात् स्वकोशं यो विवर्धयेत् ।

सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः ॥
प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञां कुलं श्रियं प्राणान् नादग्ध्वा विनिवर्तते ॥
य एव नृपतेर्धर्मः स्वराष्ट्रपरिपालनात् ।
तमेव कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशं नयन् ॥

यस्मिन् देशे य आचारः कुलस्थितिव्यवहारो वा यथैव प्रागासीत्तथैवासौ परिपालनीयः । यदि शास्त्रविरुद्धो न भवतीति विज्ञानेश्वरः । 'यदा वशमुपागतः' इत्यनेन वशोपनयनात् प्राक् अनियम इति दर्शितम् । तथाच पितामहः—

"उपरुद्ध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकं समम्" ॥ इति ॥

अत्र विशेषमाहतुः शङ्खलिखितौ—

"आफलोदयं मन्त्रगुप्तिः" ॥ इति ॥

आफलोदयं—फलप्राप्तिपर्यन्तं । मन्त्रो—राजकार्यविचारः ।

यदाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

"मन्त्रमूलं यतो राज्यं तन्मन्त्रं च सुरक्षितम् ।
कुर्याद्यथास्य न विदुः कर्मणामाफलोदयात्" ॥ इति ॥

अस्य राज्ञः कर्मणां सन्धिविग्रहादीनाम् । किञ्च—

कृत्रिमसहजप्राकृतशत्रुमित्राणि

"अरिर्मित्रमुदासीनोऽनन्तरस्तत्परः परः ।
क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं सामादिभिरुपक्रमैः" ॥

अरिर्द्विषन् । मित्रं सखा । एतद्विलक्षणः उदासीनः–मैत्रशात्रवरहितः । ते च त्रिविधाः । सहजाः प्राकृताः कृत्रिमाश्चेति । सहजाः–सापत्नपितृव्यसुतादयः । कृत्रिमाः–यस्यापकृतं येन वा अपकृतं । प्राकृतस्तदनन्तरदेशाधिपतिः । सहजमित्रं भागिनेयपैतृष्वसेयमातृष्वसेयादिः । कृत्रिमं—येन वोपकृतं यस्य वा उपकृतं । प्राकृतं मित्रं–एकान्तरितदेशाधिपतिः । सहजकृत्रिममित्रलक्षणरहितौ सहजकृत्रिमोदासीनौ । प्राकृतोदासीनो—द्व्यन्तरदेशाधिपतिः ।

अरिः पुनश्चतुर्विधः—यातव्यः, छेत्तव्यः, पीडनीयः, कर्शनीयश्चेति । तत्र यातव्योऽनन्तरभूमिपतिः । व्यसनी हीनबलो विरक्तप्रकृतिः विदुर्गो मित्रहीनो दुर्बलः छेत्तव्यः। पीडनीयो मन्त्रबलहीनः । [1] प्रबलमन्त्रस्तु कर्शनीयः ।

यथोक्तम्—

"निर्मूलनाश उच्छेदः पीडनं बलनिग्रहः ।
कर्शनं तु पुनः प्राहुः कोशदण्डोपकर्शनात्" ॥ इति ॥

बृंहणीयकर्शनीयभेदेन मित्रं द्विविधम्

मित्रं च द्विविधम् । बृंहणीयं कर्शनीयं चेति । बलकोशहीनं बृंहणीयं । 'कोशहीनं बृंहणीयम्, कोशबलाधिकं कर्शनीयं' इत्याह विज्ञानेश्वरः । एतद्राजमण्डलं क्रमशः पूर्वादिक्रमेण चिन्त्यम् । पुरतः पृष्ठतः पार्श्वतः त्रयस्त्रय आत्मा चैक इति त्रयोदशराजकं राजमण्डलम् । पार्ष्णिग्राहादयस्तु अरिमित्रोदासीनेष्वेवान्तर्भावान्न पुनरुक्ता धर्मशास्त्रे ।

[1] प्रबलमन्त्रयुक्तः,

## राजमण्डलम्

उशनआदिमते तु एकत्वादिसङ्ख्यासङ्ख्येयप्रकृतिभेदेन मण्डलबहुत्वमुक्तम् । अत एव उशना—

"परस्पराभियोगेन विजगीषोररेस्तथा ।
अरित्वविजिगीषुत्वे एका प्रकृतिरित्यतः" ॥

विजिगीषुणा अभियुक्तस्य अरेरपि प्रत्यभियोक्तृत्वाकारेण एका प्रकृतिरित्यर्थः । पराशरमतानुसारेण द्वे प्रकृती इत्याह उशना—

"द्वे एव प्रकृती न्याय्ये इत्युवाच पराशरः" ॥ इति ॥

अयमर्थः—विजिगीषुः अभियोक्तृत्वात् प्रधानम् । अभियोज्यत्वात् अरिरपि प्रधानम् । इतरेषां तन्मण्डलान्तर्गतत्वात् तयोरेकानुप्रवेशः इति द्वे एव प्रकृती इति ।

त्रितयमपि न्याय्यमिति विष्णुः—मध्यमोदासीनशत्रुभिरभियुञ्जानस्य अरिमिति शेषः । सिद्धिः कार्यसिद्धिः अत्र विजिगीषोरपि प्रत्यभियोगसमये शत्रुत्वात् शत्रुकोटिनिवेशः इति भावः ।

अतएवाह उशना—

"मण्डलं त्रिकमित्याहुः विजगीष्वरिमध्यमाः" ॥ इति ॥

अन्ये चतुष्कं मण्डलमित्याहुः । यथोक्तं राजलासके—

"मूलप्रकृतयश्चैताः चतस्रः परिकीर्तिताः ।
आर्हतत्तन्त्रकुशलः चतुष्कं मण्डलं मयः"॥ इति ॥

चतस्र इति अरिविजिगीषुमध्यमोदासीनाः । केचित्पञ्चकमाहुः—

"पञ्चकं मण्डलं न्याय्यं त्रितयं वा मनीषिभिः ॥इति ॥

आक्रन्दकरणकपार्ष्णिग्राहानिवृत्तिमूलकपृष्ठशुद्धिमन्मित्रोत्पादित कोपपश्चात्कोपविजिगीषोश्शत्रुमभियुञ्जानस्य कार्यसंसिद्धिरिति पञ्चकं न्याय्यमिति भावः । केचिन्मण्डलषट्कमाहुः—

"विजिगीषुररिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽथ मध्यमः ।
उदासीनः पुलोमेन्द्रौ मण्डलं षट्कमूचतुः" ॥ इति ॥

मध्यमोदासीनानुगृहीतावरिविजिगीषू स्वं स्वं शत्रुमभियुञ्जानाविति तात्पर्यम् ।

दशकं राजमण्डलमाहोशना—

"अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतःपरम् ।
अथारिमित्रं मित्रं च विजिगीषोः पुरस्सराः ॥
पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् ।
आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु मण्डलम्" ॥ इति ॥

अस्यार्थः—तत्र विजिगीषोस्समन्ततो मण्डलीभूतभूम्यनन्तरः शत्रुः, तथैव भूम्यैकान्तरितं मित्रं, तथा तदनन्तरमरेर्मित्रं, ततो मित्रमित्रमिति । अरिमभियोक्तुं प्रवृत्तस्य विजिगीषोः पुरस्तादेतदेवंविधसंज्ञया व्यवह्रियते । शत्रुहिताय पार्ष्णि गृह्णातीति पार्ष्णिग्राहः । जिगीषुणा आक्रन्द्यते आहूयत इत्याक्रन्दो विजिगीषुमित्रं । आसारावनयोश्चेति—पार्ष्णिग्राहमभ्यनुज्ञादानेनासारयतीति अमित्रमासारः । तथैव आक्रन्दः आसारः विजिगीषुमित्रमित्रम् । एतद्विजिगीषोर्मण्डलम् । तज्जे-

यत्वात् कृत्स्ना भूमिरुक्ता चक्रवर्त्यपेक्षया, राजमात्रापेक्षया तु,

"मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः।
अनुग्रहे संहितानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः" ॥इति ॥

उदासिनान्तर्भावे एकादशविधमिति ध्येयम् । द्वादशं मण्डलं त्रयोदशकं च पूर्वमेव व्याख्यातम् । चतुर्दशं मण्डलमित्यपरे–

तथाच बृहस्पतिः—

"सप्तप्रकृतिकं यत्तु विजिगीषोररेश्च यत् ।
चतुर्दशकमेवेदं मण्डलं परिचक्षते" ॥इति ॥

विजिगीषोररेश्च प्रत्येकं सप्तेति चतुर्दशकम् । यत्पदद्वयोपादानादित्याहुराचार्याः । केचिदष्टादशकमाहुः—

"संयुक्तस्त्वरिमित्राभ्यां उभयारिस्तथा रिपुः ।
मौला द्वादश राजानः इत्यष्टादशकं गुरुः" ॥ इति ॥

अयमर्थः । अरिविजिगीष्वोरुभयोः अपकार्युपकारिलक्षणाभ्यां बहिस्स्थितस्य स्वारिमित्रसहिताभ्यां अरिमित्राभ्यां षड्भ्यां सह मौला द्वादश राजानः । एवमष्टादशकं मण्डलमिति । अपरे त्वेकविंशतिकं मण्डलमाहुः यथाऽऽहोशना—

"सप्तप्रकृतिकास्सर्वे विजिगीष्वरिमध्यमाः ।
एकविंशतिकं प्राहुरपरे परवादिनः" ॥ इति ॥

त्रिंशत्कमित्यपरे—

"पौरस्त्यौ द्वौ जिगीषेस्तु पश्चिमौ चेति पञ्चकम् ।
अमात्याद्याः पृथक्तेषां त्रिंशत्कं परिकीर्ति[1]तम्" ॥

[1] परिचक्षते.

अमात्याद्याः पञ्चविंशतिः राजप्रकृतयः पञ्चेति एवं त्रिंशत्कम् ।

"षट्त्रिंशत्कं केचिदाहुर्मण्डलं मण्डलीविदः ।
षट्त्रिंशत्कं प्रचक्षते" ॥ इति ॥

अष्टचत्वारिंशन्मण्डलमित्यन्ये—यथोक्तं बार्हस्पत्ये—

"चत्वारः पृथिवीपालाः पृथङ्मित्रैस्सहाष्टकम् ।
अमात्यादिभिरेते च जगत्यक्षरसंहिताः" ॥ इति ॥

जगत्यक्षराणि—जगतीछन्दोऽक्षराणि अष्टाचत्वारिंशत् । चतुः पञ्चाशत्कमाह विशालाक्षः इत्युक्तं राजलासके—

"एतेऽष्टादश चैतेषां मित्रशत्रू पृथक् पृथक् ।
चतुःपञ्चाशतामिति विशालाक्षः प्रभाषते ॥" इति ।

षष्टिर्मण्डलमित्यपरे—

"दशानां भूमिपालानां अमात्याद्याः पृथक् पृथक् ।
मण्डलं मण्डलविदः षष्टिसंख्यं प्रचक्षते" ॥

अत्र दश राजानः अरिमित्रादयः पञ्चाशदित्यर्थः । मानवमते द्व्यधिकं सप्ततिकं मण्डलम् ।

"द्वादशानां नरेन्द्राणां पञ्च पञ्च पृथक्पृथक् ।
अमात्याद्याश्च प्रकृतीनामनन्तीह मानवाः ॥
मौला द्वादश एवैते अमात्याद्यास्तथा च याः ।
सप्ततिर्द्व्यधिका ह्येषा सर्वप्रकृतिमण्डलम् ॥"

अयमर्थः—षष्टिर्द्रव्यप्रकृतयः । द्वादश राजप्रकृतयः । इति सर्वप्रकृतिमण्डलं द्व्यधिका सप्ततिः । अष्टोत्तरशतमण्डलमाहोशना—

"अष्टादशानामेतेषाममात्याद्याः पृथक् पृथक् ।
अष्टोत्तरशतं ह्येतन्मण्डलं कवयो विदुः ॥" इति ।

अष्टादश राजप्रकृतयः, नवतिः द्रव्यप्रकृतयः इत्यर्थः। केषांचिन्मते चतुर्विंशत्युत्तरात्रिशतं मण्डलं। यथोक्तं राजलासके—

"चतुःपञ्चाशतो राज्ञाममात्याद्याः पृथक् पृथक्।
सचतुर्विंशतीदं हि मण्डलं त्रिशतं मतम्" ॥इति॥

अत्र द्रव्यप्रकृतयः सप्तत्युत्तरद्विशतम्। स्वामिप्रकृतयः चतुःपञ्चाशदित्यर्थः। एवं बहुप्रकारमपि राजमण्डलं द्वादशकेऽन्तर्भूतम् इति। तदेवोक्तं याज्ञवल्क्यादिधर्मशास्त्रकारैः। यद्यप्येकप्रभृत्येकादशान्तानां मण्डलानां द्वादशान्तर्भावो नास्ति। तथापि द्वादशराजमण्डलस्य लोकप्रसिद्धत्वादेकादिमण्डलानां दुर्ज्ञानत्वात् द्वादशकमेवाङ्गीकृतं याज्ञवल्यादिभिः। औशनसादिमतेऽपि मण्डलविकल्पेषु विद्यमानेषु द्वादशकमेवाभिप्रेतम्। यथाऽऽहोशनाः—

"इतिप्रकारैर्बहुधा मण्डलं परिचक्षते।
सर्वलोकप्रतीतं तु स्फुटं द्वादशराजकम्" ॥इति॥

चतुर्विधोपायाः

अत्रोपायमाह विष्णुः—

"उपायास्सामदानभेददण्डाश्चत्वारः" ॥इति॥

साम प्रियभाषणं। दानं-सुवर्णादेः। भेदो-भेदनम् तत्सामन्तादीनां परस्परवैरोत्पादनम्। दण्डः—उपांशुप्रकाशाभ्यां धनादिवधपर्यन्तश्चापकारः। एते सामादयः परिपन्थ्यादिसाधनोपायाः। तेषामुद्देशत एव चतुष्ट्वसिद्धौ पुनश्चतुर्ग्रहणं

दण्डस्यागतिक[1]सगतिकत्वप्रतिपादनार्थम्। अतः उपायाः त्रय एवेति सम्यश्चः। अतएवाह योगीश्वरः—

"उपायास्साम दानं च भेदो दण्डस्तथैव च।

सम्यक्त्वयुक्तास्सिद्ध्येयुः दाण्डस्त्वगतिका गतिः" इति॥

चत्वार इति चतुस्सङ्ख्यया अयोगस्य व्यवच्छेद एव नान्ययोगव्यवच्छेदः क्रियते इत्याहुः। तथा च मायाक्षेन्द्रजालात्मकमुपायत्रयं सङ्गृहीतं भवति। तैस्सार्धमुपायास्सप्तैव। माया नाम अपह्नवोपायः। मिथ्याज्ञानोत्पादनमिति यावत्। अक्षाः प्रसिद्धाः। यथा शकुनिनाक्षैः युधिष्ठिरराज्यग्रहणम्। अत्रौशनसादिनीतिशास्त्रेषु मायाक्षेन्द्रजालैस्सह सामादयः सप्तेति। माया नाम कीचकवधे वृकोदरेण स्त्रीरूपधारणम्। तत्रैव कीचकवधे विराटस्यासौ कीचको म्रियतामित्युपेक्षेत्युक्तम्। इन्द्रजालं तु मायारूपवस्तुकल्पनम्। यथा—वत्सराजग्रहणं ऐन्द्रजालिकगजनिर्माणेन। अतश्च मायेन्द्रजालयोः कार्यकारणतया भेदः। अक्षेषु यद्यपि मायास्ति, तथापि माया प्रतारणशब्दवाच्येति भेदः। अतएव मायादित्रिकं प्रतारणनिबन्धनत्वात् कष्टम्। अतएव चत्वार उपाया इत्युक्तम्। गौतमसूत्रे। याज्ञवल्क्यादिस्मृतिकारैरपि चत्वार एवोपायाः प्रतिपादिताः। तथाच गौतमसूत्रम्—

"चतुरुपायानवलम्ब्य सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभाव
समाश्रयाख्यान् गुणान् परिकल्पयेत्" ॥इति॥

सन्धिविग्रहादिगुणाः.

सन्धिः व्यवस्थाकरणम्। विग्रहः अपकारः। यानं

[1] गतिकगतिप्रति—B. कोशपाठः.

परं प्रति यात्रा। आसनमुपेक्षा। द्वैधीभावो बलस्य भिदाकरणम्। आश्रयो बलवदाश्रयणम्।

यात्राकालः

यानकालानाह याज्ञवल्क्यः—

यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत्।
परश्च हीन आत्मा च हृष्टवाहनपूरुषः॥

अर्थशास्त्रस्य पुरुषकारायत्तत्वात्पुरुषकारस्य प्राबल्यमाह वसिष्ठः॥ 'दैवपुरुषकारयोः पुरुषकारो बलवान्, उभयमेकमित्येके' याज्ञवल्क्यादय इत्यर्थः। स्वमते पुरुषकारस्यैव प्रबलत्वम्। तथा लोके दर्शनात्। अन्यथा चिकित्सकादिशास्त्रवैयर्थ्यात्। अन्यथा कौशलादिचक्रविद्यानां दृष्टार्थानां वैयर्थ्यात्। यथा कौशलेऽस्मिन् युद्धे अनेनासावस्मिन्नवयवे हन्यते, अनेन हननेन म्रियत इति निश्चये तस्मिन्नवयवे गुप्ताकारेण लोहपट्टादिके निक्षिप्ते तस्मिन् लोहपट्टघातः। न तु म्रियत इति दैवात्पुरुषकारो बलवानिति शास्त्रस्य प्रयोजनं सिद्धमिति भावः। याज्ञवल्क्यादीनां मतं तु—

दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता।
तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पूर्वदैहिकम्॥

पूर्वदैहिकं—पूर्वदेहार्जितं। पौरुषमेव दैवमित्युच्यत इति तदेकदेशिमतम्।

मतान्तराणि तु केचिद्देहबलभावाच्च कालात्पुरुषकारः। केचिदिष्टानिष्टफलं दैवादेवेच्छन्ति। केचित्स्वभावात् न का-

रणमपेक्षते इति। केचित् कालात्। केचित्पुरुषकार एवेत्युक्त्वा स्वमतमाह योगीश्वरः—

"संयोगे केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः"।

एकैकस्मात् फलं न भवतीत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह—

"यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति"॥

## पञ्चाङ्गानि

पञ्चाङ्गान्याह हारीतः—

"सहायास्साधनोपाया विभागो देशकालयोः।
विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पाञ्चङ्ग इष्यते"॥

कार्यसिद्धिरूपलाभस्त्रिविधः। हिरण्यलाभो भूलाभो मित्रलाभश्चेति। तेषु मित्रलाभो ज्यायान्। अतः तत्सिद्ध्युपायो ज्यायान्। ततस्तत्प्राप्त्युपाये यत्नो विधेयः।

सचोपायः सत्यभाषणमेवेत्याह वासिष्ठः—

"सत्यभाषणान्मित्रलब्धिः सा हिरण्यभूमिभ्योऽधिका"।

तथा च याज्ञवल्क्यः—

"हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः।
ततो यतेत तत्प्राप्तौ रक्षेत्सत्यं समाहितः"। इति।

## मर्माणिः

पञ्चस्वपि मर्मसु न प्रमदितव्यम्। तथा च गौतमसूत्रम्—

"भोजननिधुवनक्षौराभ्यङ्गस्वापकालाः पञ्च मर्माणि तेषु न प्रमादितव्यम् इति।

भोजनकालः अभ्यवहारकालमात्रोपलक्षकः। ताम्बूलादिचर्व-

णकालोऽपि मर्मकालः निधुवनकालोऽपि व्यक्त्यन्तरसंसर्गस्योपलक्षकः। तथा च मित्रेणैकशय्यासनकालोऽपि मर्मकालः। क्षौरकालस्तु शस्त्रसंसर्गकालस्योपलक्षकः। अभ्यञ्जनकालस्तु श्रमादिकालानामुपलक्षकः। स्वापकालस्त्वेकाकित्वावस्थायाः उपलक्षकः इति व्याख्यातं व्याख्यातृभिः। अत उक्तं मनुना—

"एवं सर्वमिदं राजा सम्मन्त्र्य सह मन्त्रिभिः।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं व्रजेत् ॥
तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥
विषघ्नैरौषधैरद्भिस्सर्वद्रव्याणि नेजयेत्।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥
परीक्षितास्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः।
वेषाभरणसंयुक्तास्संस्पृशेयुस्समाहिताः ॥
एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशनैः।
स्नाने प्रसादने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥
भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ॥
विहृत्य च यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥" इति

सप्ताङ्गानि

सप्ताङ्गानि तु स्वाम्यमात्यादीनि

तथा च गौतमसूत्रम्—

"स्वाम्यमात्यसुहृद्दुर्गकोशदण्डजनाः ॥" इति।

स्वामी प्रसिद्धः। अमात्या मन्त्रिणः। सुहृदः सहजकृत्रिम-

प्राकृताः । दुर्गाः गिरिदुर्गाणि सप्त । कोशस्सुवर्णादिद्रव्य-राशिः । दण्डः चतुरङ्गसैन्यम् । जना ब्राह्मणादिवर्णाः । तथा च याज्ञवल्क्यः—

"स्वाम्यमात्यजना दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च ।
मित्राण्येताः प्रकृतयः राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ।" इति

प्रकृतयः मूलकारणानि । अतस्सप्ताङ्गानि सर्वथा संरक्ष्याणी-त्याह—सुमन्तुः—स्वाम्यमात्मना संरक्षेत् । अमात्यान् स-म्मानेन । वर्णान् रञ्जनेन, जनान् वर्णधर्मरञ्जनेन । दुर्गं धनधान्यादिसमृद्ध्या, कोशमुचितव्ययेन । दण्डं स्वधर्मेण । मित्रं सत्यभाषणेन" इति । अत्र दण्डः चतुरङ्गसैन्यं न भवति । अपराधानुसारेण शारीरोऽर्थदण्डः परिकल्पनीयः । अय-मभिसन्धिः–सुमन्तुमते चतुरङ्गसैन्यस्य कोश एवान्तर्भावः" इति। कोशस्तु सर्वथा अभिसंरक्ष्यः इत्याह गौतमः—'तन्मूलत्वात् प्रकृतीनाम्' इति । प्रकृतीनां षडङ्गानामित्यर्थः । सर्वथा सर्व-प्रकारेण असद्व्ययं विहाय चोरादिभ्यः कायस्थादिभ्यश्चापि संरक्षणीयः इति ।

अत एव गौतमसूत्रम्—

"प्रभु मन्त्रोत्साहशक्तयस्तन्मूलाः" इति ।

तन्मूलाः कोशमूला इत्यर्थः । तथाच याज्ञवल्क्यः—

"तदवाप्य नृपो दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत् ।
दण्डो हि धर्मरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा" ।इति ॥

तदिति राज्यम् ।

"सत्यसन्धेन शुचिना सुसहायेन धीमता ।
यथाशास्त्रं प्रयुक्तस्सन् सदेवासुरमानवम् ।
जगदानन्दयेत् सर्वं अन्यथा तत्प्रकोपयेत् ।
अपि भ्राता सुतोऽर्घ्यो वा श्वशुरो मातुलोऽपि वा ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितस्स्वकात् ॥

एतच्च मातापित्रादिव्यतिरिक्त विषयम् ।

"अदण्ड्यौ मातापितरौ स्नातकश्च पुरोहितः ।
परिव्राजकवानप्रस्थाश्च . . . . . . . ."

इति विष्णुस्मरणात् ।

इदानीं सामान्येन राज्ञो व्यवहारदर्शनं कार्यमित्युक्तं । स च व्यवहारः कीदृशः? कतिविधः? कथं चेति प्रदर्श्यते—व्यवहारो नाम अन्यविरोधेन स्वात्मसम्बन्धितया कथनम् । सत्यभाषणाहिंसननिष्ठत्वात् । प्रयत्नसाध्यधर्माख्यपदार्थे लोभद्वेषादिवशाद्विच्छिन्ने सति ऋणादानादौ स्वधनप्राप्त्यर्थं समयधर्मादौ च परधर्मवर्जनार्थं न्यायाविस्मरणं क्रियते । तत्र साध्यमूलो यो मनुष्याणां विवादस्स व्यवहार इत्युच्यत इति । न चैवं चौर्यपारुष्यविवादो न व्यवहार इति शङ्कनीयम् । अष्टादशविधविषयाणामन्यतमविषयको विवादो व्यवहार इति लक्षणाङ्गीकारात् । तथाहि—

अष्टादशविवादपदानि.

ऋणादानोपनिधिसंभूयोत्थानदत्ताप्रदानिकाभ्युपेत्याशुश्रूषावेतनानपाकर्मास्वामिविक्रयासम्प्रदानक्रीत्वानुशयसीमा–

विवादक्षेत्रजस्त्रीपुंससम्बन्धदायविभागसाहसवाक्पारुष्यदण्डपारुष्यद्यूतप्रकीर्णकान्यष्टादश विवादपदानि। न च वाच्यं निक्षेपादिपदान्तरेषु व्यवहारस्मरणात् लक्षणस्याव्याप्तिरिति । निक्षेपादीनां उपनिध्यादिष्वन्तर्भावात् । अष्टादशविवादपदानां सङ्गतिसङ्ग्रहः कथ्यते । सर्वासु स्मृतिषु प्रमाणनिरूपणानन्तरं अष्टादशविवादपदनिरूपणम् । प्रमाणनिरूपणानन्तरं प्रमेयनिरूपणं न्याय्यमिति तदनन्तरमेव अष्टादशविवादपदाख्यं प्रमेयं तावन्निरूप्यते—

तत्र ऋणादान एव मानुषदिव्यात्मकसकलप्रमाणसाध्यत्वेन व्यवहारस्य निरूपणात् प्रथमादुद्देशक्रमेण प्रथममृणादानाख्यं विवादपदं निरूप्यते—अतएवोक्तं मनुना—

"तेषामाद्यं ऋणादानम्" इति ।

ऋणादाने-उपचयापेक्षया परहस्तदत्तमृणं । तदनपेक्षया रक्षणार्थमेवान्यहस्ते दत्तं द्रव्यमुपनिधिरिति ऋणादानानन्तरमुपनिधेरवसरः। ऋणादाने प्रयुक्तधनादुत्पन्नस्य उपचयस्य एकनिष्ठत्वम् । सम्भूय समुत्थाने त्वनेकनिष्ठत्वमिति ऋणादानानन्तरं सम्भूय समुत्थानस्यैवावसरो न्याय्यः । तथाप्येतत्प्रदानन्तरमुपनिधिपदस्यावकाशाभावात् उक्तन्यायेन ऋणादानानन्तरमेव उपनिधेः प्रवेश इति पश्चादस्य पदस्यावसरसङ्गतिः ।

दत्ताप्रदानिकस्य सङ्गतिस्तु आध्युपनिधिचौर्यागतादिद्रव्याणामदेयत्वप्रतिपादनादृणादानोपनिधिसम्भूयसमुत्थानानां शेषतयास्य सम्प्रतिपादनाद्दायाविभागशेषताप्यस्ति । तथापि भूयसां न्यायेन त्रयाणां शेषतोक्तेति ध्येयम् । दत्ताप्रदानिके प्रतिश्रुतार्थस्य सोपाधिकत्वे प्रत्यादेयत्वमुक्तम् ।

अभ्युपेत्याशुश्रूषाख्ये विवादपदे निरुपाधिकत्वेऽपि प्रत्यादेयत्व-मिति संगतिः। न चानयोरेकप्रकरणत्वं, पूर्वप्रकरणे दत्तस्या-दानं द्रव्यविषयम्। अत्रोपेतस्याकरणमुपजीवकविषयमिति भिन्न-विषयत्वात् प्रकरणान्तरेण व्युत्पाद्यमिति नैकप्रकरणत्वम्। अभ्युपेत्याशुश्रूषाख्ये पदे उपगतपणजीव्यतादीनां दानानां प्रतिश्रुतनिर्वाहार्थं प्रतिनिधिर्वा कार्य इत्युक्तम्। अत्र वेतना-नपाकर्माख्ये तु पदे प्रतिश्रुतनिर्वाहार्थं वेतनमित्र कर्तव्यम्। अन्यथा तद्वेतनं प्रतिश्रुतमव्यवहरणीयमिति संगतिः। न चास्य दत्ताप्रदानिकेऽन्तर्भावः। तत्र दत्तस्यादत्तप्रायतोक्ता, न तु दत्तस्यापहरणम्। ततश्च अनयोर्भेदः। तदभिसन्धायाह मनुः—

"अतः परं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम्॥" इति।

अतः परमभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यस्य पदस्यानन्तरमित्यर्थः। पूर्वप्रकरणे वेतनानपाकर्माख्ये वेतनमनपाकरणीयमित्युक्तम्। अत्रास्वामिविक्रयाख्ये तु क्रीतमपाकरणीयमिति संगतिः। दत्ताप्रदाने तु दत्तस्यादत्तप्रायतोक्ता। अत्र तु क्रीतस्या-पाकरणमेव, न तु क्रीतस्याक्रीतप्रायतेति तस्माद्भेदः। अस्वामिविक्रये पदे अस्वामिविक्रीते द्रव्ये स्वत्वानुत्पत्तेः तत्परावर्तनीयमित्युक्तम्। अत्र तु विक्रीयासंप्रदानाख्ये विवादपदे क्रयात् स्वत्वोत्पत्तावपि तस्य सप्रतिबन्धत्वात् परावर्तनीयतेति संगतिः। न च गोप्याधिवत् सोपाधिकस्व-त्वेऽपि ऋणादानान्तःपातित्वमस्य। तत्र गोप्याधौ परिभा-षामूलं स्वत्वस्य सोपाधिकत्वम्। अत्र त्वनुशयमूलमित्यनयोः

भेदः। न चास्य दत्ताप्रदानिकेऽन्तर्भावः। दानक्रययोः भेदात्। किञ्च दत्तस्यादत्तप्रायता। अत्र तु विक्रीतस्य परावृत्तिरिति प्रागुक्त एव न्यायः, अत एव वेतनानपाकर्मादावनन्तर्भावः। विक्रीयासंप्रदानाख्ये विवादपदे विक्रीतस्य परावृत्तिः, अत्र क्रीत्वानुशयाख्ये विवादपदे क्रीतस्येति संगतिः। न चास्य पूर्वत्रान्तर्भावः। क्रीतविक्रीतगतिभिन्नत्वात् परावृत्तेः। ननु क्रयविक्रययोः वीवधकलशतुल्यतया परस्परापेक्षत्वात् ऐकाधिकरण्यं युक्तमिति चेत्, सत्यम्। "दशाहोऽनुशयः क्रयः" इत्यस्मिन् वचने क्रयशब्दः परिवृत्तिविनिमययोरुपलक्षकः। "सजातीययोः द्रव्ययोः विनिमयः, विजातीययोस्तु विपरिवृत्तिः" इति विष्णुस्मरणात्। न च परिवृत्तेः क्रय एवान्तर्भाव इति वाच्यम्। क्रये तुल्यं मूल्यं त्रिवर्षफलं। परिवृत्तौ तु स्वतुल्यमेव। यद्यपि रिक्थक्रयादिगौतमसूत्रे विपरिवृत्तिविनिमययोः परिगणनाभावात् स्वत्वहेतुता नास्तीति भाति, तथापि तिलक्रयस्य निषेधात् प्रतिग्रहस्यातिदुष्टत्वात् तिलं दत्वा तिलव्रीह्यादिग्रहणस्थले विनमयपरिवृत्त्योरेव स्वत्वापादकत्वं लोकसिद्धम्। यत्तु—'अधिः प्रणश्येद्द्विगुणः' इत्यादौ तिलविनिमयवत् धनद्वैगुण्यं स्वत्वापादकं न भवति। अपितु क्रयान्तपर्यवसानात् स्वत्वापादकमित्युक्तम्, तत्तु विनिमयस्य स्वत्वापादकत्वं नास्तीत्येवंपरं न भवति, किन्तु तस्मिन् स्थले क्रयान्तपर्यवसानादेव स्वत्वापादकत्वम्। अन्यत्र तु तिलविनिमयादौ विनिमयपरिवृत्त्योरपि क्रयादीनामिव स्वत्वापादकत्वं लोकसिद्धम् नापह्नोतुं शक्यमित्याह भारुचिः।

वस्तुतस्तु विनिमयपरिवृत्तिपारिभाषिक्या परिभाषया तयोर्वाचनिकदानरूपेण स्वत्वहेतुत्वसिद्धिरस्त्येवेत्युक्तं तत्रैव। अतश्च पूर्वप्रकरणे विक्रीयासंप्रदानता, अत्रतु परिवृत्त्यनुशय इति। समाख्या तु विनिमयपरिवृत्त्यनुशययोरपि लक्ष्येत्याह भारुचिः।

पूर्वस्मिन् प्रकरणे क्रीत्वानुशये परिवृत्त्यनुशये च क्रीतविषयः परिवृत्तेश्च अतिक्रम उक्तः। अत्र तु समयानपाकर्माख्ये विवादपदे समयस्य अतिक्रम उच्यत इति संगतिः। पूर्वस्मिन् प्रकरणे समयानपाकर्माख्ये विवादपदे नैगमादिविषयतया संविद्व्यतिक्रम इति संगतिः। यद्यप्यनयोरैकाधिकरण्यमेव युक्तम्, तथापि स्त्रीपुंसाख्यविवादपदोपयोगितया गृहक्षेत्रादिनिर्णयोपयोगितया पृथगधिकरणतेति ध्येयम्। पूर्वस्मिन् प्रकरणे क्षेत्रविवादो निर्णीतः। क्षेत्रं द्विविधम्। स्थावरं जङ्गमं चेति। स्थावरक्षेत्रविषयविवादाविषयानन्तरं जङ्गमात्मकस्त्रीरूपक्षेत्रजविवादनिर्णय इति संगतिः। पूर्वस्मिन् प्रकरणे स्त्रीपुंसाख्यो धर्मः प्रतिपादितः। अत्र तु दायविभागाख्ये विवादपदे स्त्रीपुंसावेवाधिकृत्य विवादः प्रवर्तत इति तयोरुपजीव्योपजीवकतया संगतिः। अथ साहसाख्यस्य पदस्य संगतिः। पूर्वत्र त्रयोदशविवादपदेषु देयादेयविचारः कृतः, यथाह—विष्णुः 'व्यवहारो द्विरुत्थानः' इति। व्यवहारकारणद्वयं कथितम्। तथाच गौतमसूत्रं "द्विरुत्थानतो द्विगतिः" इति, व्यवहार इत्यनुषज्यते॥ तत्र निबन्धनकारेणोक्तम्—ऋणादानादिदायविभागान्तानां देयनिबन्धनसाहसादिपञ्चकस्य दण्डनिबन्धनत्वमिति द्विरुत्थानतेत्यर्थ इति।

यद्यपि मन्वादिभिः—

"तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयौ विवादस्स्वामिपालयोः ॥
सीमाविभागधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥
स्त्रीषु धर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारे विदुर्बुधाः" ॥

इत्येवं प्रकारेण क्रमिकाणि व्यवहारपदान्युक्तानि । तत्र वाक्पारुष्यदण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणानन्तरं दायविभागः क्रमिकः । निबन्धनकारेण तु त्रयोदशविवादपदं दाय इत्युक्तम् । उभयोर्महान् विरोधः स परिहीयते । तथोक्तं नारदेन—

अष्टादशव्यवहारवाचकवचनोपन्यासः.

'ऋणादानं ह्युपनिधिः संभूयोत्थानमेव च ।
दत्तस्य पुनरादानमशुश्रूषाभ्युपेत्य च ॥
वेतनस्यानपाकर्म तथैवास्वामिविक्रयः ।
विक्रीयासंप्रदानं च क्रीत्वानुशय एव च ॥
समयस्यानपाकर्म विवादः क्षेत्रजस्तथा ।
स्त्रीपुंसयोश्च संबन्धो दायभागोऽथ साहसम् ॥
वाक्पारुष्यं तथा प्रोक्तं दण्डपारुष्यमेव च ।
द्यूतं समाह्वयश्चैवमष्टादश पदानि च ॥" इति ।

नारदवचनानुसारि निबन्धनकारवचनम्। अतस्तद्वाक्यस्यापि गौतमसूत्रस्य नारदवचनानुसारित्वमेवेति ध्येयम्। एतदनुसारेणैवास्माभिरप्युक्ता विवादपदानां परस्परसंगतिः। अतश्च ऋणादानादिदायविभागान्तानां देयनिबन्धनत्वेन प्रतिपादनम्। साहसादिपञ्चकस्य दण्डनिबन्धनत्वमिति प्रकरणभेदं सूचयितुं "दायभागोऽथ साहसम्" इत्यथशब्दः प्रयुक्तः। अतश्च देयप्रतिपादनानन्तरं दण्डप्रतिपादनस्यावसर इति संगतिः। वाक्पारुष्यदण्डपारुष्ययोः साहसस्य च परस्परभेदाभावेऽपि दण्डाल्पत्वबहुत्वार्थं पृथग्ग्रहणमिति वक्ष्यते। पूर्वप्रकरणे चौर्यं निरूपितम्। द्यूतसमाह्वययोस्तुल्ययोगक्षेमतया चौर्यानन्तरं संगतिः। अथवा सप्तदशविवादपदप्रकीर्णकपदयोः संगत्यन्तरं पूर्वं पराजितस्यैव दण्डविधानमुक्तम्, अत्र तु (वि)जयिनोऽपि दण्डविधानमित्यनयोस्संगतिः।

"दुर्दृष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वा व्यवहारान् नृपेण तु।
सभ्यास्सजयिनो दण्ड्या विवादद्विगुणं दमम्॥" इति

याज्ञवल्क्येन जयिनो दण्डविधानं प्रकीर्णकाख्यविवादान्तर्गतत्वेन स्मृतत्वात्। अत्र तु बहु वक्तव्यमस्ति। तत्तु तत्रैव वक्ष्यते। अथवा संगत्यन्तरम्—

"भूतच्छलानुरोधेन द्विगतिस्समुदाहृता" इति व्यवहारस्य छलानुसरणं तत्वानुसरणं इति गतिद्वयमुक्तम्। तत्र तत्वानुसरणेन सप्तदश विवादपदान्यनुक्रान्तानि। छलानुसरणेन प्रकीर्णकाख्यं विवादपदमनुक्रान्तमिति। तथा च अस्मिन् प्रकरणे बृहस्पतिः—

"साक्षिसभ्यार्थसन्नानां दूषणे दर्शनं पुनः ।
स्ववाचैव जितानां तु नोक्तः पौनर्भवो विधिः" ॥ इति ।

अत्र "व्यवहारान् नृपः पश्येत्" इति विधिः स्वापराधेन व्यवहारस्य समाप्तत्वात् स्ववागनुसरणरूपछलमेवावलम्बते । न तु प्रमाणान्तरगवेषणं विलम्बत्वाद्विधेरिति । "तेषामाद्यमृणादानं" इत्यादिमानवक्रमेणापि संगतिर्वक्तुं शक्यते, ग्रन्थविस्तरभयान्नोच्यते । एतच्च सर्वसंगतिकथनं तत्तद्विवादपदविवरणावसरेऽपि सम्यङ्निरूपितमपि शास्त्रार्थं करतलामलकीचिकीर्षुणा गौरवसहिष्णुना ग्रन्थकारेण सङ्क्षेपतो निरूपितमिति न पौनरुक्त्यम् । पुत्रपौत्राद्यधिकारिणा बाल्यानन्तरं कालद्वैगुण्यादिप्रकारेण ऋणं देयम् ।

देयादेय ऋणे

द्यूतादिकुत्सितकुटुम्बभरणाद्यावश्यकेतरकार्यार्थं पित्रादिकृतं ऋणमदेयम् । बन्धग्रहणादिधनप्रयोगधर्माः शनैः कीर्स्यादिपृथुधनादानधर्माश्च यस्मिन् विवादविषये उक्ताः तत्परमृणादानमिति ।

"करण्डस्थमसंख्यातमनाख्यातमदर्शितम् ।

परहस्ते दत्तमुपनिधिकामिति द्वितीयं विवादपदम् । एतदेव संख्यातं चेन्निक्षेप इत्यतो न भिन्नं विवादपदम् । दायादेभ्यः भयात् राजचोरभयाच्च स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यास इति न पृथग्विवादपदम् । वणिजो वाणिज्यं ऋत्विजो यज्ञं कृषीवलाः कृषिं हेमकारादयः शिल्पिनः शिल्पं नर्तकादयो नृत्तादिकं स्तेनाः स्तेयं यत्र संहत्य कुर्वते तत्संभूय क्रिय-

माणं वाणिज्यादि कर्म समुत्तिष्ठतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या संभूय समुत्थानाख्यं व्यवहारपदम्। यत्र स्वर्णकारादिभ्यः प्रीत्यादिना दत्तं द्रव्यं वैगुण्यादिना तेभ्यः पुनरपहार्यं दत्तस्याप्रदानमस्मिन् विद्यत इति दत्ताप्रदानिकं नाम विवादपदम्। कर्मकाराद्यैवगुण्याद्दत्तस्यानपाकर्म—अनपनयनमस्मिन्निति दत्तानपाकर्मापि विवादपदमिस्रतो न पृथगभिहितम्। अतश्च देयमदेयं दत्तमदत्तमिति द्रव्यभेदेन चातुर्विध्यमविरुद्धं। देयमनिषिद्धदानाक्रियानिर्वर्तकम्। दत्तं दाने सति संप्रदानादनपहार्यम्। अदत्तं चापहार्यमिति यच्छिष्यादेश्शुश्रूषादिकमङ्गीकृत्य गुर्वाद्याज्ञाकरत्वाद्यकरणं तदभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यं विवादपदम्। शिष्यशब्दोऽन्तेवासिभृतककर्मकृद्दासानामुपलक्षक इति तन्मूले न पृथग्भिद्यत इत्येकमेव पदम्। ईदृशस्य देयमीदृशस्यादेयं दत्तमस्य एवंविधात्प्रत्यादेयं क्वचिद्द्विगुणमादेयमित्याद्युक्तम्। यत्र विवादे तद्वेतनस्य भृतेरनपाकर्म—अनपनयनं विद्यते तद्वेतनानपाकर्माख्यं विवादपदम्। स्वामिनोऽसमक्षं याचितान्वाहितन्यासादिकं परद्रव्यं विक्रीयते असावस्वामिविक्रयः। सोऽस्मिन् व्यवहारे निर्णेय इत्यस्वामिविक्रयाख्यं विवादपदम्। मूल्येन विक्रयपण्यं क्रेतुर्यन्न प्रदीयते तद्विक्रीयासंप्रदानम्।

### पण्यं षड्विधम्,

गणिततुलिमेयक्रियारूपकान्तिभिः पण्यं षड्विधम्।

गणितं नारिकेळादि। तुलितं हिङ्ग्वादि। मेयं व्रीह्यादि। क्रिया—वाहनादिदोहनादिक्रिया गोमहिष्यादेः। कान्त्या

रत्नादि। रूपतः पण्याङ्गनादि। अतश्च क्रमुकादीनां तुलितपण्यविशेषत्वात् तन्मूलेन विवादपदस्य न पृथग्भेदः। यः क्रेता मूल्येन पण्यं क्रीत्वा अपरामर्शपूर्वकं मन्यते, तत्क्रीत्वानुशयाख्यं विवादपदम्। गणश्रेणिसमूहनार्थं जातानां स्थिरीकरणरूपस्य समयस्यानपाकर्म—अनुल्लङ्घनं यत्तत्समयानपाकर्म। विरुद्धलक्षणया दर्शादिवत्समयानपाकर्माख्यं विवादपदम्। संविद्व्यतिक्रम इत्येतस्यैव नामान्तरम्। पाषण्डपूगाः श्रेणिनैगमानां सङ्घाः। समूहस्तु ब्राह्मणानां संहतिः। व्रातः आयुधधराणां व्रततिः।

यत्र केदारसेतुनिकृष्टाकृष्टमर्यादानिश्चयाः क्षेत्रविषयाः तत् [1]क्षेत्रविवादाख्यं पदम्। तच्चाधिक्यन्यूनताभेदात् षड्विधम्। कंचिद्भूभागमधिकृत्य ततोऽधिका भूरस्ति नवेति विवादे आधिक्यनिबन्धनः। एतावती भूस्तव नेत्युक्ते ममैतावत्यस्तीत्येवंविधो न्यूनता हेतुकः। अस्यां भुवि ममांशोऽस्तीत्युक्ते नेत्येवंविधोंशास्तित्वकारितः। अत्र तवांशो नास्तीत्युक्ते विद्यत इत्येवंविधोऽंशो नास्तित्वनिमित्तकः। मदीया भूः त्वया प्रागभुज्यमानैव इदानीं भुज्यत इत्युक्ते प्रागपि भुक्तिरस्तीत्येवंविधः अभोगभुक्तिबीजकः। इयं मर्यादा मदीयाया भुव इत्युक्ते नेत्येवंविधः सीमासंभवः। अतश्च न्यूनतादीनां तदनतिरेकान्न तन्मूलेन भेदः।

---

[1] तत् क्षेत्रजविवादाख्य—& कोशपाठः.

तस्य सीमाविवादस्य पाञ्चविध्यम् । ध्वजनीमात्स्यानैदानीभयवर्जिताराजशासनानीताविषयत्वात् । अतो ध्वजिन्यादिभेदेन पृथग्भिद्यते विवादपदम् । ध्वजिनी–वृक्षादिना लक्षिता । मात्स्या—जलेन । नैदानी—धूततुषादिना । भयवर्जिता–उभयवादिसंप्रतिपन्ना । राजशासनानीता–राजेच्छया निर्मिता । यत्र स्त्रीपुरुषयोर्मिथुनीभावो विषयीकृतः स च स्त्रीपुंससंबन्धाख्यं विवादपदम् । अस्यैव स्त्रीसंग्रहणमिति नामान्तरम् । पित्र्यादेरर्थस्य पुत्रादिभिर्विभागः प्रकल्प्यते यत्र स दायभागो नाम विवादपदम् । यत्किञ्चित्कर्म मारणचौर्यपरदाराभिमर्शनादिकं सहसा बलेन बलदर्पितैः कृतं निर्णीयते तत्साहसमिति साहसाख्यं विवादपदम् । यद्वचनं देशजातिकुलादीनां बाधकत्वेनात्यन्तदुःखकरार्थं तद्वाक्पारुष्यं विवादपदम् । यत्र पदे परगात्रेषु हस्तपादायुधादिभिः कृतस्याभिद्रोहस्य भस्मादिभिश्चोपघातस्य निर्णयः क्रियते तद्दण्डपारुष्याख्यं विवादपदम् ।

ननु पारुष्यद्वयस्य स्त्रीसंग्रहणस्य च साहसविशेषत्वात् पदान्तरत्वोक्तिर्न युक्ता, सत्यम्, बलदर्पावष्टम्भोपाधिना साहसं भिद्यते इति दण्डातिरेकार्थं पृथगभिधानम् । अक्षादिभिः पणपूर्वकं क्रीडनं कौटिल्येन कृतं यत्र विषयीक्रियते तद्द्यूताख्यं विवादपदम् । तथा कूटसाक्षिभिः पणपूर्वकं देवनं कृतं तद्विषयीक्रियते यत्र तत्समाख्यं विवादपदम् । अनयोः पणपूर्वकक्रीडनमूलकत्वात् न भेदः ॥ तथा च निघण्टुः—

"अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।

प्राणिभिः क्रियमाणं तु स विज्ञेयस्समाह्वयः" ॥ इति ॥ यत्र नृपेण यद्यत्स्वाज्ञातिक्रमादौ प्रतिवादितत्वमास्थाय निर्णेतव्यं यच्च ऋणादानादिपूर्वोक्तपदेषु नोक्तं तत् प्रकीर्णकाख्यं पदम्। स चैवमष्टादशप्रभेदभिन्नो व्यवहारः पुनर्द्विविधः। सपणः अपणश्चेति । नारदादयस्तु सोत्तरोऽनुत्तरश्चेत्याहुः । प्रतिज्ञाविलेखनात्पूर्वं यत्र व्यवहारे दण्डाभ्यधिकः पणः उभाभ्यामुपेयते अन्यतरेण वा स सोत्तरो व्यवहारः। तदन्योऽनुत्तरः । अतश्च याज्ञवल्क्यनारदोक्तयोः सपणापणसोत्तरानुत्तररूपयोर्भेदयोः पृथग्भेदो नास्ति । तथाप्यन्येऽपि भेदाः नारदादिभिरुक्ताः—

"चतुष्पादचतुस्साधनचतुर्भूतचतुर्व्यापिचतुष्कारित्वरूपाः अष्टाङ्गाष्टादशपदशतशाखत्रियोनिद्व्यभियोगद्विवाराद्विगतिरूपाश्च"

धर्मः व्यवहारः चरित्रं राजशासनं चत्वारः पादाः। अतश्चतुष्पाद्व्यवहारः। अत्रोत्तरः पूर्वबाधकः। तथा च हारीतः—

"धर्मेण व्यवहारेण चरित्रेण नृपाज्ञया।
चतुष्पाद्व्यवहारोऽयमुत्तरः पूर्वबाधकः" ॥ इति ॥

ननु प्रतिज्ञोत्तरप्रत्याकलनप्रमाणनिर्णयैश्चतुष्पात्त्वं न धर्मादिभिरिति चेत्। मैवम्। निर्णयवादो धर्माद्यनुसारेण चतुर्विधः। तत्र यदनुसारेण यो निर्णयः कृतः स तच्छब्देनोच्यते। तेन धर्मादिभिरपि चतुष्पात्त्ववर्णनं युक्तमेव। धर्मो नाम पादः यत्र विवादे धर्ममूलनिर्णयेनैव दोषकारित्वं दोषकारी, स्वकं धनं धनस्वामी च प्राप्नोति स धर्म इत्युच्यते। धर्मशास्त्रनिरूपितप्रतिज्ञोत्तरानुसारेण निर्णयो व्यवहाराख्यः

पादः । धर्माधर्मविवेकराहित्येन देशाचारमवलम्ब्य यदाचर्यते तच्चरित्रं पादः । तदनुसारी निर्णयोऽपि तथैव । मानान्तराविद्धो राजबुद्धिमात्रपरिकल्पितो निर्णयो राजशासनम् । अत्र धर्मादीनामेकैकस्य द्वैविध्यम् । स च धर्माख्यनिर्णयः तत्वानुसरणने एकः । विना तत्वानुसरणं [1]तत्वोत्तरेण वा दिव्यप्रमाणेन वा कृतो द्वितीयः । मानुषप्रमाणनिश्चितो व्यवहार एकः । वाक्छलानन्तरत्वेन द्वितीयः । उल्काहस्तादिलिङ्गेन निर्णीतश्चरित्रमेकः प्रकारः । देशस्थित्या द्वितीयः।

नन्वेवं तर्हि "उत्तरः पूर्वबाधकः" इत्युक्तिरयुक्ता तत्वार्थानुगुण्यातिशयेन पूर्वस्यैवोत्तरबाधकत्वात् ।

"छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः ॥" इति याज्ञवल्क्येनोक्तेः, उच्यते, सत्यम्, उत्सर्गतः, न सर्वत्रैवं । क्वचिद्विषये तूत्तरः पूर्वबाधको भवत्येव । तथाहि–यथा येन केनचिद्राजन्यादिना मोहात्कथंचिद्राजदारादेः स्पर्शनादिकं कृतं, कृत्वा च प्राणभयात् मिथ्याकरोति साक्षिणश्च सन्ति । ते च राज्ञा पृष्टास्सन्तो वधो[2] माभूदिति नायमस्य कर्मणः कर्तेति मिथ्यासाक्ष्यं ब्रूयुः । तदा दोषकारिणः तत्कर्तृत्वाप्राप्तेः धर्मो व्यवहारेण बाध्यते । युक्तं चात्र धर्मबाधनम्, "वर्णिनां हि वधो यत्र" इति साक्षिणो मिथ्याभिधानविधानात् । यदा पुनः "परदाराभिगमनं कृतमनेन अस्य साक्षिणो विद्यन्त" इति केनचिदभियुक्तो ब्रूते । "सत्यमेतत्साक्षिभाषितम् । तथापि नाहं दण्ड्यश्चरित्रबलात् । मयैत-

---

[1]सत्वो—D कोशपाठः. [2] वधोऽस्य.

त्कृतं निवेशितं च शिलातलपुस्तकादौ राज्ञा तत्" इति तदा चरित्रेण व्यवहारो बाध्यते। व्यवहारतः प्राप्तस्य दण्डस्य चरित्रतो निवृत्तत्वात्। चरित्रमपि क्वचिद्राजाज्ञया बाध्यते कुलगृहाभ्यन्तरेन केनचिद्राजपुरुषेण प्रवेष्टव्यमिति चरित्रमीदृशं कृतम्। ततो कश्चिदपराधी ज्ञातः प्रविष्टोऽन्तःपुरम्। ततो राज्ञा कश्चिद्राजपुरुष आज्ञप्तः "गृहाभ्यन्तरम(पि)भिप्रविश्य स दुष्ट आनेतव्य" इति। तदा चरित्रमपि राजशासनेन बाध्यते। दुष्टनिग्रहस्यावश्यकर्तव्यत्वेन चरित्रतो राजशासनस्य बलवत्त्वात्। चतुस्स्थानानि–चत्वारि स्थानानि सत्यसाक्षिपुस्तकरणराजशासनरूपाणि यस्य सः चतुस्स्थानः। एतदुक्तं भवति—धर्मस्य सत्यं स्थानम्। व्यवहारस्य साक्षिणः। चारितस्य पुस्तकरणं। लेख्यं राजाज्ञेति। साक्षिग्रहणं धर्मशास्त्रस्थदिव्येतरप्रमाणप्राप्त्युपलक्षणार्थम्। चतुस्साधनः—साधनानि सामाद्युपाया अस्मिन्निति स तथोक्तः। चतुर्भ्यो वर्णाश्रमेभ्यो हितः चतुर्हितः। चतुर्व्यापी—चतुरः कर्तॄन् साक्षिणश्च सभ्यान् राजानं व्याप्नोतीति। चतुष्कारी—चतुरो धर्मार्थयशोलोकानुरागान् करोतीति। अष्टाङ्गः—अष्टौ राजराजपुरुषसभ्यशास्त्रगणकलेखकाहिरण्योदकान्यङ्गानि यस्य सोऽष्टाङ्गः। एतेषामुपयोग उत्तरत्र वक्ष्यते। अष्टादश व्यवहारपदानि व्याख्यातानि।

शतशाखः–शतशब्दः सहस्रादिसंख्योपलक्षकः बहुशाख इति यावत्। त्रियोनिः–त्रीणि कामक्रोधलोभात्मकानि तेभ्यो यथासंभवं प्रवर्तत इति कृत्वा त्रियोनिरुच्यते। द्व्यभियोगः–द्वौ शङ्काभियोगतत्वाभियोगौ यस्य स द्व्यभियोगः। शङ्काभियोगः

असद्भिः कितवस्तेनादिभिः संसर्गात् भवति । तत्वाभियोगो हेडाभिदर्शनमेकदेशोपालम्भः प्रत्यक्षदर्शनं वा । क्वचिन्निक्षेपादिशङ्का सत्संयोगादपि भवतीति असत्संयोगादित्युदाहरणमात्रमित्यवगन्तव्यम् । द्विद्वारस्तु द्वे द्वारे कार्यारम्भप्रवृत्तिपूर्वपक्षोत्तरपक्षौ । यस्मिन्वादे स द्विद्वारः । द्विगतिस्तु द्वे गती भूतच्छले यस्य सः । भूतं–तत्वार्थसंयुक्तं, छलं प्रमादादियुतम् ।

हारीतेनापि केचन भेदा उक्ताः । एकमूलः द्विरुत्थानः द्विस्कन्धः द्विफलः । कात्यायनस्तु तान् व्याचष्टे । एकं साध्यं मूलं यस्य स एकमूलः । द्विरुत्थानः–द्विः द्विसंख्याभ्यावृत्तमुत्थानं यस्मिन्निति द्विरुत्थानः । सुप्सुपेति समासः । एतदुक्तं भवति । [1]देयाप्रदानहिंसारूपोत्थानद्वयं [2]समादिति द्विरुत्थानः । [3]द्व्युत्थान इति यावत् । धर्मशास्त्रार्थशास्त्रात्मकं स्कन्धद्वयं यस्य सः द्विस्कन्धः । द्वे फले जयपराजयरूपे यस्य स द्विफलः । कात्यायनेनाप्यपरो भेदो दर्शितः । पूर्वोत्तरपक्षप्रत्याकलितक्रियापादभेदात् चतुष्पाद्व्यवहार इति । प्रत्याकलितं उक्तिस्वीकारानन्तरं विवदमानयोः कस्यात्र क्रियोपन्यासो न्याय्य इति प्राड्विवाकादीनां विमर्शनम् । [4]क्रियापादो भेदो नाम लिखितादिप्रमाणनिर्देशः । विवादात्मकव्यवहारपर्यवसानभागतया प्रत्याकलितक्रिययोरपि व्यवहारत्वात् । चतुष्पात्त्वमुक्तमस्मिन् पक्षे । प्रत्याकलितवादः तृतीयः पादः । तथा क्रमस्य विवक्षितत्वात् ।

[1] देयाप्रदानरूपहिंसोत्थानः—A कोशपाठः । [2] सामादिभिर्द्विरुत्थानः—B कोशपाठः । [3] द्व्युद्धारः—D कोशपाठः ।

[4] क्रियाल्पाभेदो–B कोशपाठः.

यस्मिन्मते प्रमाणोपन्यासानन्तरं प्रमाणाभासशङ्कापनोदकं जयपराजयफलकं विमर्शनं प्रत्याकलितं तन्मते संख्यैव विवक्षिता, न तु क्रमः । प्रत्याकलितस्य तुरीयपादत्वात् । यथोक्तं—

"भाषापादस्तु तत्राद्यो द्वितीयो मर्शनं तथा ।
क्रियापादस्तथाचान्यः चतुर्थो निर्णयस्स्मृतः" ॥ इति॥

इति श्रीवीरगजपति गौडेश्वर नवकोटिकर्णाटकलुबुरिगेश्वर
जमुनापुराधीश्वर हुशनसाहि सुरत्राण शरणरक्षक श्री-
दुर्गावरपुत्र परमपवित्र चरित्र राजाधिराजराज-
परमेश्वर श्रीप्रतापरुद्र महादेव महाराज
विरचिते स्मृतिसंग्रहे सरस्वती-
विलासे व्यवहारकाण्डे शास्त्र-
मुखस्वरुपनिरूपणं नाम
द्वितीयोल्लासः.

# अथ तृतीयोल्लासः.

---

### धर्मस्थाननिरूपणम्.

अथ व्यवहारस्वरूपमात्रनिरूपणानन्तरं सप्रपञ्चं अष्टादशप्रभेदभिन्नो व्यवहारो निरूपयिष्यते। तदुपयोगित्वेन आदौ धर्मस्थानावस्थाननिरूपणं न्याय्यम्। यद्यपि धर्मस्थाने अवस्थितस्य राज्ञो व्यवहारदर्शनविधेः धर्मस्थानमादौ निरूपणीयम्, तथापि धर्मस्थान एव सर्वव्यवहारनिर्णय इति नियमाभावात् व्यवहारनिरूपणानन्तरं तन्निरूपणमिसदोषः।

### धर्माधिकरणव्यवस्था.

यद्वा पूर्वं व्यवहारस्संक्षिप्योक्तः। इदानीं धर्मस्थानप्रतिपादनानन्तरं व्यवहारः प्रपञ्च्य इति नोक्तदोषः। यत्र स्थाने आवेदितव्यतत्वनिष्कर्षः धर्मशास्त्रविचारेण निर्णेतृभिः क्रियत इति धर्मस्थानम्। अस्यैव धर्माधिकरणमिति नामान्तरम्। यत् स्थानं धर्मशास्त्रैराधिक्रियत इति धर्माधिकरणमिति। तच्च धर्माधिकरणं प्राच्यां दिशि कार्यम्। 'धर्मस्थानं प्राच्यां दिशि अग्न्युदकैः समवेतं कुर्यात्' इति शङ्खस्मरणात्। प्राच्यां दिशि राजमन्दिरादिति शेषः। अत्र लक्षण्यां सभां प्राङ्मुखीं गन्धमाल्यधूपासनबीजरत्नप्रतिमालेख्यदेवताग्रचम्बुयुतां कल्पयेत्। एवं कल्पितां सभां प्रातः नृपः प्रविशेत्।

"गुरून् ज्योतिर्विदो वैद्यान् देवान् विप्रान् पुरोहितान्।
यथार्हमेतान् संपूज्य सुपुष्पाभरणाम्बरः" ॥
अभिवन्द्य च गुर्वादीन् सुमुखः प्रविशेत् सभाम्।

इति बृहस्पतिनोक्तत्वात् ॥

अत्र पुरोहितादीनिति बहुवचनं 'पाशान्' इतिवत्कर्ममात्रस्याभिधायकम् । न तु बहुत्वस्यापि । पुरोहितस्यैकत्वात् । नृपतिरपि ब्राह्मणसहितः प्रविशेत् ।

"व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु नृपतिर्ब्राह्मणैस्सह ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम्" ॥

इति मनूक्तत्वात् । चशब्दः प्राड्विवाकपुरोहितसभ्यमन्त्रिगणकलेखकसाध्यपालहिरण्यधर्मशास्त्रैरपि सहेति ज्ञापनार्थः । "नृपश्च पुरुषसभ्यगणकलेखकहेमाग्न्यम्बुप्राड्विवाकादिसाधनसंपन्नो व्यवहारं पश्येत्" इति गौतमस्मरणात् ।

"विवादे पृच्छति प्रश्नं प्रतिप्रश्नं तथैव च ।
प्रियपूर्वं प्राग्वदति प्राड्विवाकस्ततस्स्मृतः" इति ॥

पूर्वोत्तरपक्षौ पृच्छतीति प्राट्, निर्णयं विशेषेण प्रवक्तीति विवाक इति यौगिकी तस्य संज्ञा । प्राड्विवाक इति पृषोदरादित्वात् साधुः । अष्टादशविवादपदाभिज्ञः तद्भेदाष्टसहस्रवित् श्रुतिस्मृतिपरायणः आन्वीक्षिक्यादिकुशलः ब्राह्मणः प्राड्विवाकः ।

"सप्राड्विवाकस्सामात्यः सब्राह्मणपुरोहितः ।
ससभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मतः" ॥ इति ।

प्राड्विवाकः—पूर्वोक्तलक्षणः । तेन सह वर्तते इति सप्राड्विवाकः। अमात्यलक्षणलक्षितैः युक्तः सामात्यः । सर्वशास्त्रज्ञानालोभन्यायभाषाप्रज्ञत्वक्रमायातत्वानि अमात्यलक्षणानि ।

### शूद्रस्य व्यवहारविचारणनिषेधः

स च विप्रक्षत्रियवैश्यानामन्यतम एव न शूद्रः ।

"द्विजान्विहाय यः पश्येत् कार्याणि वृषलैस्सह ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं बलं कोशश्च नश्यति" ॥

इति व्यासेनोक्तत्वात् । सभ्यान् कुर्वीत व्यवहारदर्शनार्थम् ।

सभ्यजीवनकरणावश्यकत्वम्

यथा सभायां न सजन्ति स्थितिं तथा अर्थदानसंमानप्रभृतिभिरुपायैर्नियुञ्जीत । ते च—श्रुताध्ययनसंपन्नाः धर्मज्ञास्सत्यवादिनः रिपौ मित्रे च समाः सभायां नियोक्तव्याः । देशाचारानभिज्ञान् नास्तिकान् शास्त्रवर्जितान् उन्मत्तान् क्रूरान् लुब्धाश्च युञ्जीत । अत्र सभासदः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा कार्याः । अत्र प्राड्विवाकादीनां अर्थार्थितया ऋत्विजामिव सभायत्तत्वमात्रं नाधिकारः । अधिकारस्तु व्यवहारदर्शने राज्ञ एवेत्युक्तम् प्रकरणादौ । अत एव "सप्राड्विवाक" इत्यादिना तस्यैव प्राधान्येन निर्देशः । अत्र व्यवहारदर्शने अभिषिक्तस्य अनभिषिक्तस्य वा क्षत्रियजातीयस्य वा अन्यजातीयस्य वा प्रजापरिपालनादिकर्तुः नृपतेरधिकारः । अत एव—

"व्यवहारान् नृपः पश्येत् विद्वद्भिः ब्राह्मणैस्सह ।"

इति याज्ञवल्क्यः—

"प्रातरुत्थाय नृपतिः शौचं कृत्वा विधानतः ।
गुरून् ज्योतिर्विदो वैद्यान् देवान् विप्रपुरोहितान् ॥
यथार्हमेतान् संपूज्य सुपुष्पाभरणाम्बरः ।
अभिवन्द्य च गुर्वादीन् सुमुखः प्रविशेत् सभाम् ॥"

इति बृहस्पतिः । यत्त्वभिषेकयुक्तस्य राज्ञो व्यवहारदर्शनं प्रजापतिनोक्तं, तन्न परिसङ्ख्यानार्थम् । अन्यथा 'व्यव-

हारान् नृपः पश्येत्' इत्यादियाज्ञवल्क्यवचनव्याकोपः । राजशब्दप्रयोगो राज्यकर्तरि गौणवृत्त्या, अवेष्ट्यधिकरण एवोक्तत्वात् । यदा नृपतिस्स्वयं कार्यनिर्णयं न करोति व्यासङ्गात् तदा तत्र बहुश्रुतं दक्षं कुलीनं मध्यस्थं शास्त्रपारगमनुद्वेगकरं स्थिरं परभीरुं क्रोधवर्जितं धर्मिष्ठं ब्राह्मणं नियुञ्जीत । यत्र ब्राह्मणो न स्यात्तत्र क्षत्रियं योजयेत् ।

"वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ।
यस्य राज्ञस्तु कुरुते शूद्रो धर्मविवेचनम् ।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः" ॥

राष्ट्ररञ्जनार्थं राज्ञा कतिपयैर्वणिग्भिरपि सह संसदि स्थातव्यम्—

"चतुरो वणिजस्तत्र कर्तव्या न्यायदर्शिनः" ॥

गणकलेखकावपि—

"शब्दाभिधानतत्त्वज्ञौ गणनाकुशलावपि ।
नानालिपिज्ञौ कर्तव्यौ"

तथा तत्र संसदि होरागणितसंहितारूपस्कन्धत्रयाभिज्ञं स्फुटप्रत्ययकारकं श्रुताध्ययनसंपन्नं ज्योतिर्विदं योजयेत् । साध्यपालस्तु शूद्र एव क्रमायातः दृढस्सभ्यानुमतः अर्थिप्रत्यर्थिसाक्ष्यादीनामाह्वानादिकार्यस्य कर्ता कर्तव्यः । अग्न्युदके दिव्याद्यर्थं संपाद्ये, शपथार्थं हिरण्यकोशशकृद्दर्भा निधातव्याः, एवं मन्वादिभिः श्रेष्ठं निर्णयस्थानमुक्तम् ।

भृगुप्रभृतिभिस्तु जघन्यान्यपि निर्णयस्थानान्युक्तानि ।

### साधारणनिर्णयस्थानानि.

सैनिकानां सैनिका निर्णयस्थानम् । आरण्यकानामारण्यकाः ।

सार्थिकानां सार्थिकाः। उभयवासिनां ग्रामाः। कुलिकसार्थमुख्यपुरग्रामनिवासिनामुभयानुमतत्वात् एवं च प्रत्येकनियतानि। ग्रामपौरगणश्रेणिचातुर्विद्यवर्गकुलकुलिकनियुक्त नृपतिभेदेन दशविधं साधारणं स्थानम्। ग्रामो नाम ग्रामाकारेणावस्थितो जनः। पौरः पुरवासिनां समूहः। कुलानां समूहो गणः। श्रेणयः रजकाद्यष्टादशहीनजातयः। चातुर्विद्यः आन्वीक्षिक्यादिविद्याचतुष्टयोपेतः। चातुर्विद्यश्चेति चशब्देन विद्वद्राजपुरुषादिसमुच्चयः स्वीकृतः।

एकस्य धर्मनियन्तृत्वनिषेधः

"तस्मान्न वाच्यमेकेन विधिज्ञेनापि धर्मतः॥"

इति पितामहेन एकस्य धर्मकथननिषेधात्। वर्गिणो गणादयः

"गणाः पाषण्डपूगाश्च व्राताश्च श्रेणयस्तथा।
समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गाख्यास्ते बृहस्पतिः॥"

इति। बृहस्पतिग्रहणं–गणादिषु इयमाख्या पूर्वमेव प्रसिद्धा इति दर्शयितुम्। आयुधधारिणां समूहो व्रातः। कुलान्यार्थिप्रत्यर्थिनोस्स्वगोत्राणि। कुलिकाः—केचन अर्थिप्रत्यर्थिनोः गोत्रजा वृद्धाः। नियुक्ताः–प्राड्विवाकसहितास्त्रयस्सभ्याः। नृपतिः ब्राह्मणादिसहितः।

सा सभा अप्रतिष्ठिता प्रतिष्ठिता मुद्रिता शास्त्रिता चेति चतुर्विधा। आरण्यकादिस्थानत्रये या सभा सा अप्रतिष्ठिता, प्रायेण देशान्तरगमनयोगित्वादुभयवादिप्रतिपन्नेषु दशस्थानेषु तदभावात् प्रतिष्ठिता। नियुक्तस्थाने पुनः मुद्राहस्तादिप्राड्विवाकाद्यधिष्ठिता मुद्रिता। नृपस्थाने शास्त्रनियन्तृकत्वात् शास्त्रिता।

" प्रतिष्ठिता पुरे ग्रामे चला नामाप्रतिष्ठिता ।
मुद्रिताऽध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता तु शासिता ॥

इति स्मृतेः। अध्यक्षः—प्राड्विवाकः। एतेषां प्राबल्यमुत्तरोत्तरस्यैव।

" कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः ।
प्रतिष्ठा व्यवहारस्य पूर्वेभ्यश्चोत्तरोत्तरः ॥ "

इति नारदोक्तेः नृपस्य प्राबल्यं। अतश्च—

" पूर्वस्थानगता वादा धर्मतोऽधर्मतोऽपि वा ।
राजस्थानं समाश्रित्य पूर्ववादं भजन्ति ते ' ॥

इति पितामहेनोक्तेः, पूर्ववादं—पूर्वपक्षमित्यर्थः। अत्र सभायां राजा पूर्वाभिमुख उपविशेत् । सभ्यास्तु उदङ्मुखाः। गणकः पश्चिमाभिमुखः। लेखको दक्षिणाऽभिमुख उपविशेदिति नियमार्थोऽयमारम्भः। राजव्यतिरेकेण प्राड्विवाकादिभिः निर्णयमात्रमेव कार्यम्, साहसविवादे तु निर्णयमात्रमपि न कार्यम्। यथाऽऽह बृहस्पतिः—

" राज्ञा [1]येऽभिहितास्सम्यकुलश्रेणिगणादयः ।
साहसन्यायवर्ज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम् ॥

इति। " वाग्दण्डो धिग्दमश्चैव विप्रायत्तावुभौ स्मृतौ ।
अर्थदण्डवधावुक्तौ राजायत्तावुभावपि ॥

इति स्मरणात्।

धर्मस्थापनफलं.

" अज्ञानतिमिरोपेतान् संदेहपटलान्वितान् ।
निरामयान् यः कुरुते शास्त्राञ्जनशलाकया ।
इह [2]कीर्तिमवाप्नोति लभते स्वर्गतिं च सः ॥ "

---

[1] ये निहिताः विदिताः.  [2] कीर्तिं राजपूजां.

इति । लोभद्वेषादिकं त्यक्त्वा यः कुर्यात्कार्यनिर्णयम्—
शास्त्रोदितेन विधिना तस्य यज्ञफलं भवेत् ।
अधर्मतः प्रवृत्तं तु नोपेक्षेरन् सभासदः ।
उपेक्षमाणास्ते भूपाः नरकं यान्त्यधोमुखाः ।
न्यायमार्गादपेतं तु ज्ञात्वा चित्तं महीपतेः ।
वक्तव्यं त्वप्रियं तत्र न सभ्यः किल्बिषी ततः" ॥ इति ।
स्नेहाच्चाज्ञानतो वाऽपि मोहाद्वा लोभतोऽपि वा ।
यत्र सभ्योऽन्यथावादी दण्ड्योऽसभ्यः स्मृतो हि सः ।

स्नेहो—रागः, मोहो—विपरीतज्ञानं । अत्र रागाल्लोभाद्भयाद्वा अन्यथावादी विवादपराजयनिबन्धनदमाद्विगुणदमं दण्ड्य इत्याह योगयाज्ञवल्क्यः—

"रागाल्लोभाद्भयाद्वाऽपि स्मृत्यपेता(दि)र्थकारिणः ।
सभ्याः पृथक् पृथक् दण्ड्याः विवादाद्विगुणं दमम्" ॥

विवादे यो दमो भवति पराजये तद्विगुणं दाप्य इति बहुव्याख्यातृसंमतोऽर्थो ग्राह्यः । न पुनर्विवादास्पदीभूतद्रव्यद्विगुण इति कस्यचिद्व्याख्यातुरर्थः । प्राड्विवाकस्सभ्या वा व्यवहारानिर्णयात् पूर्वं अर्थिना सह विजने संभाषणमात्रादपि दण्ड्या इत्याह कात्यायनः—

"अनिर्णीते तु यद्यर्थे संभाषेत रहोऽर्थिना ।
प्राड्विवाकोऽथ दण्ड्यस्स्यात् सभ्याश्चैव न संशयः" ॥

इति । निर्णयादूर्ध्वमपि सभ्यदोषपरिज्ञाने तु दण्डमाह स एव ।

"सभ्यदोषात्तु यन्नष्टं देयं सभ्येन तत्तदा ।
कार्यं तु कारिणामेव निश्चितं न विचालयेत्" ॥

दुष्टसभ्येनापि निर्णीतं कार्यं न परावर्तयेत्। किन्तु धाष्ट्र्या-न्नष्टं दापयेदित्यर्थः ।

"न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः ।
[1] न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति ।
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्" ॥

राजा विगतमत्सरः सर्वभूतेषु समो वैवस्वतं व्रतं बिभ्रत् व्यवहारान् पश्येत्। वैवस्वतव्रतं तु यथाह यमः—

"प्रियद्वेष्यान् यथा प्राप्ते काले धर्मो नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्" ॥

इति स्मरणात् ।

नृपतिः धर्मशास्त्रार्थशास्त्राभ्यां अविरोधेन समीक्षमाणो व्यवहारगतिं नयेत्। धर्मशास्त्राणि—वेदाः साङ्गाः स्मृतयो मीमांसा च पुराणं न्यायशास्त्राणि । प्रमाणान्तरदृष्टार्थविषया स्मृतिरित्यर्थः। एवं च उभयविधशास्त्रानुसरणं तयोर्मिथो विरोधाभाव एव। यदि विरोधस्स्यात्तदा याज्ञवल्कीयमुपतिष्ठते तथाच याज्ञवल्क्यः—

"स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः" ॥

इति। व्यवहाराख्यनिर्णयविशेषत इत्यर्थः। श्रुतिमूलस्मृत्योर्विरोधे वृद्धव्यवहारावगतसावकाशत्वादितर्कबलेन यथा व्यवस्था तयोर्जायते तथा ग्रहीतव्यमित्यर्थः । केवलं शास्त्रमाश्रित्यायं निर्णयो न कर्तव्यः, किन्तु तर्कानुगृहीतमेव शास्त्रमाश्रित्येति ।

---

[1] वृद्धा न ते.

"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः" ।

इति स्मरणात् । अतश्चा परीक्ष्य व्यवहारो न कर्तव्यः आपितु परीक्ष्यैव कर्तव्य इत्याह पितामहः—

"असत्याः सत्यसङ्काशाः सत्याश्चासत्यसन्निभाः ।
दृश्यन्ते भ्रान्तिजनकाः तस्माद्युक्तं परीक्षणम् ॥
सूक्ष्मो हि भगवान् धर्मो दुष्प्रेक्ष्यो दुर्विचारणः ।
अतः प्रत्यक्षमार्गेण व्यवहारगतिं नयेत्" ॥

प्रत्यक्षमार्गः—स्पष्टमार्गः । व्यवहारदर्शनोपायो मनुना दर्शितः—

"यथा नयत्यसृक्पातैः मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥
बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैः भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा भाषितेन च ।
भूतच्छलानुरोधित्वात् द्विगतिसमुदाहृता ॥"

व्यवहारस्य क्वचिद्भूतानुसारित्वमाश्रित्य निर्णयः, क्वचिच्छलानुसारित्वमाश्रित्यापि । यदा तु सर्वदा भूतानुसरणं न शक्यते कर्तुं तदा छलानुसारेणापि साक्ष्यादिप्रमाणाधीनो निर्णयः कार्य एव । विप्रतिपत्तौ "साक्षिनिमित्ता (सत्यव्यवस्था) व्यवस्थितिः" इति गौतमोक्तत्वात्—

"भूतच्छलानुसारित्वात् द्विगतिस्समुदाहृतः ।
व्यवहारः" ॥

इति स्मृतेः छलानुसरणेऽपि राजा नाधर्मेण सज्यते ।

"यद्यदाचरति श्रेष्ठो धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा ।
कुलादिदेशाचरणाच्चारित्रं तत्प्रकीर्तितम् ॥

देशस्यानुमतेनैव व्यवस्था या निरूपिता ।
लिखिता तु सदा धार्या मुद्रिता राजमुद्रया ॥
शास्त्रवद्यत्नतो राजा तां निरीक्ष्य विनिर्णयेत् ” ॥

इति । व्यवहारश्चारित्रेण निर्णेतव्य इति भावः ।

“ देशपट्टणगोष्ठेषु पुरग्रामेषु वासिनाम् ।
तेषां स्वसमयैर्धर्मशास्त्रतोऽन्येषु तैस्सह ” ॥

इति । यत्र चैते हेतवो न विद्यन्ते तत्र राजाज्ञया निर्णयमाह बृहस्पतिः—

“ लेख्यं यत्र न विद्येत न साक्षी न च भुक्तयः ।
प्रमाणानि न सन्त्येकं प्रमाणं तत्र पार्थिवः ॥
निश्चेतुं ये न शक्यास्स्युर्वादास्सन्दिग्धरूपिणः ।
तेषां नृपः प्रमाणं स्यात् स सर्वस्य प्रभुर्यतः ” ॥ इति ।
“ व्यवहारान् स्वयं पश्येत् सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम् ” ॥

इति । स्वयं–राजा । अन्वहं–एतच्चतुर्दश्यादिव्यतिरिक्तविषयम् ।

“चतुर्दशी त्वमावास्या पौर्णमासी तथाऽष्टमी ।
तिथिष्वासु न पश्येत्तु व्यवहारपदं नृपः ” ॥

इति हारीतोक्तेः । अन्यास्वपि तिथिष्वावर्तनादर्वागेव व्यवहारदर्शनम् ।

“ आद्यादह्नोऽष्टभागाद्यदूर्ध्वं भागत्रयं भवेत् ।
स कालो व्यवहाराणां शास्त्रदृष्टः परः स्मृतः ” ॥ इति ।

अस्मिन् भागत्रयपरिमिते काले व्यवहारान् पश्येदित्यर्थः ।

“ लेखको गणकश्शास्त्रं साध्यपालस्सभासदः ।
हिरण्यमग्निरुदकमष्टाङ्गं करणं स्मृतम् ।

तदध्यस्यानिशं पश्येत् पौरैः कार्यं निवेदितम् ।
न तु राजा वशित्वेन धनलोभेन वा पुनः ।
उत्पादयेत्तु कार्याणि नराणामविवादिनाम्" ॥

कार्याणि विवादानित्यर्थः—

"न रागेण न लोभेन न क्रोधेन गृहे नृपः ।
परैरप्रापितानर्थान् न चापि स्वमनीषया" ॥

इति । अत्र अपवादमाह पितामहः—

"पदानि चापराधांश्च छलानि नृपतेस्तथा ।
स्वयमेतानि गृह्णीयात् नृपस्त्वावेदकैर्विना" ॥

पदानि–धिकृतिः सस्यघातः, अग्निदानं, विध्वंसः कुमार्याः, निपानस्योपभोगः,[1] सेतुकण्टकच्छेदः, आरामच्छेदः, क्षेत्रसञ्चारः, विषप्रदानम्, राज्ञां द्रोहकरणम्, तन्मुद्रामन्त्रयोर्भेदः, बन्धविमोचनम्, भोगदण्डयोर्ग्रहणम्, दानमुत्सेकः पटहादिघोषश्च, अस्वामिकद्रव्यस्वीकारः, राजावलीढद्रव्यस्वीकारः, अङ्गविनाशनं, एतानि द्वाविंशतिपदानि नृपज्ञेयानि—नृपेण साक्षाद्वा सूचकवचनाद्वा ज्ञात्वा द्रष्टव्यानि ।

अपराधास्तु—आज्ञोल्लङ्घनम्, स्त्रीवधः, वर्णसङ्करः, परस्त्रीगमनं, चौर्यं, पतिं विना गर्भः, वाक्पारुष्यं, अवाच्यं दण्डपारुष्यं च, गर्भस्य पातनं चेति । एतांश्च स्वयमेव विचारयेत् वेदकं विना । छलानि तु–परभङ्गः, पराक्षेपः, प्राकारोपरि लङ्घनम्, निपानायतनयोर्विनाशः, परिघापूरणं, राजचिछ-

[1] सेतुकटक—पाठान्तरम्.

द्रप्रकाशनम्, अन्तःपुरवासगृहभाण्डागारमहानसेषु प्रवेशः, अनियोगेन भोजननिरीक्षणम्, विण्मूत्रश्लेष्मवातानां नृपाग्रतः प्रक्षेपकामना, राजविद्विष्टसेवा, अदत्तविहितासनं, सुवर्ण-वस्त्राभरणपरिधानम्, स्वयंगृहीतताम्बूलभक्षणं, अनियुक्त-प्रभाषणं, नृपाक्रोशकरणं, एकवासोधारणं, अभ्यक्तत्वं, मुक्त-केशत्वम्, अवकुण्ठितत्वम्, विचित्राङ्गत्वम्, स्रग्वित्वम्, परि-धानविधूननम्, शिरःप्रच्छादनम्, छिद्रान्वेषणतात्पर्यम्, दुर्जनसं-सर्गः, दन्तकर्णाक्षिदर्शनम्, दन्तोल्लिखनम्, कर्णनासादिशोधनम् इत्येतानि पञ्चाशच्छलानि ।

" शास्त्राणि वर्णधर्मांस्तु प्रकृतीनां च भूपतिः ।
व्यवहारस्वरूपं च ज्ञात्वा कार्यं समाचरेत् "

प्रकृतयस्तु पितामहेन दर्शिताः—रजक–चर्मकार–नट–बुरुड–कैवर्तक–म्लेच्छ–भिल्लादयः ।

वर्णानामाश्रमाणां तु सर्वदा च बहिस्स्थताः ।

एते राजैकनिरता यद्यपि प्रकीर्णकाख्यविवादपद एव निर्णे-तव्याः । तथापि प्रसङ्गादत्रोक्तिः । व्यवहारस्त्वष्टादशपदा-त्मकः प्राङ्निरूपितः ।

धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः ।
समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमात् ॥

अर्थिवचनानुक्रमेणेत्यर्थः—

व्यवहारदर्शनचातुर्विध्यं.

आगमः प्रथमः कार्यो व्यवहारपदं ततः ।
विचारो निर्णयश्चेति दर्शनं स्याच्चतुर्विधम् ॥

आगमोऽर्थिवचनश्रवणमादौ कर्तव्यः । ततस्तद्वचनमृणादाना-द्यन्यतमे पदेऽन्तर्भाव्यम् । ततः प्रतिज्ञोत्तरप्रमाणानां विचारः । ततः प्रमाणतो जयावधारणम् । एवमालोच्य राजा सभ्या वा व्यवहारनिर्णयं कुर्युः ।

"केन कस्मिन् कदा कस्मादेवं पृच्छेत् सभां गतः"

इति * मनुस्मृतिं कात्यायनो व्याचष्टे ।

"काले कार्यार्थिनं पृच्छेत् प्रणतं पुरतः स्थितम् ।
किं कार्यं का च ते पीडा माभैषीर्ब्रूहि मानव ॥

इति ॥ किं कार्यमित्यनेन देयाप्रदानस्य ज्ञापनार्थः प्रश्नः । का च ते पीडेति हिंसायाः । एवं पृष्टः कार्यार्थी ततस्तस्मै वक्तव्यजातं विज्ञापयेत् ।

आवेदयितृप्रश्नप्रकारः.

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः परैः ।
आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत् ॥

अनेन वाक्येन परकृतमुपद्रवं स्वयमावेदयेदित्यार्थिकोऽर्थः प्रतीयते । परैरिति बहुवचनमुपलक्षणम्, केनेत्यादिमनुवचने एकवचनान्तदर्शनानुरोधात् । चेच्छब्देन आवेदकस्य स्वरुच्यैवावेदनं कार्यम् । न तु राजाज्ञयेति ज्ञापितम् । आधर्षित इत्यनेन विवादे येषामधिकारस्तेऽप्युपलक्षिताः । न कर्तृमात्रमुक्तम् ।

* इदं वचनं मनुस्मृतौ नोपलभ्यते । 'स्मृत्यन्तरे च स्पष्टमेवोक्तम्' इति इदमेव वचनं विज्ञानयोगी निर्दिशति.

यथाऽऽह कात्यायनः—

> “ अर्थिना सन्नियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रहितोऽपि वा ।
> यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ ” ॥

इति । पितामहस्तु—

> पिता भ्राता सुहृच्चापि बन्धुस्संबन्धिनोऽपि वा ।
> यदि कुर्युरुपस्थानं वादं तत्र प्रवर्तयेत् ॥

नियुक्तनिर्देशः.

> “ यः कश्चित्कारयेत्किञ्चित् नियोगाद्येन केनचित् ।
> तत्तेनैव कृतं ज्ञेयमनिवर्त्यं हि तत्स्मृतं ” ॥

इति । एवं च आर्थिना वा तदीयेन पुरुषेण वा आवेदनं कार्यं नान्येनेत्यनुसन्धेयम् ।

पितृभ्रातृसुहृत्संबन्धिभिन्नानां नियुक्तकार्यकरणे दण्डः.

> “ यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत् ।
> परार्थवादी दण्ड्यस्स्यात् व्यवहारेषु विब्रुवन् ” ॥

इति नारदोक्तेः । कात्यायनस्तु विशेषमाह—

> “ दानकर्मकराश्शिष्या नियुक्ता बान्धवास्तथा ।
> वादिनो न च दण्ड्यास्स्युः यस्ततोऽन्यस्स दण्डभाक् ”

निवेदयितृविनयः अन्यथा दण्डः.

> “ सशस्त्रोऽनुत्तरीयश्च मुक्तकेशस्सहाशनः ।
> वामहस्तेन वा स्रग्वी वदन् दण्डमवाप्नुयात् ” ॥

इति । अतो नैवंभूतो वदेदित्याभिप्रायः ।

व्यवहारदर्शनोपक्रमः

"धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गस्समाहितः ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्" ॥

अथासेधविधिः.

अत्रायमाक्रोश आसेधनानन्तरं ।

यथाऽऽह नारदः—

"वक्तव्येऽर्थे ह्यतिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं च तद्वचः ।
आसेधयेद्विवादार्थी यावदाह्वानदर्शनम्" ॥

इति ॥ सन्दिग्धेऽप्यर्थे निर्णयोदासीनं निर्णयाय प्रवर्तितव्यमित्यादिकमर्थिनो वचनमवमन्यमानं आसेधयेत्–राजाज्ञया निरोधयेत् व्यवहारदर्शनार्थाह्वानपर्यन्तं विवादनिर्णयार्थीत्यर्थः । अयमासेधः–स्थानकालकृतप्रवासकर्मभेदात् चतुर्विधः । स्थानासेधः गृहदेवकुलादिस्थानात् न चलितव्यम् इति निरोधनम् । कालकृतः "पञ्चम्यादौ भवत्स्वरूपं प्रदर्शनीयम् नो चेत् राजाज्ञामुल्लङ्घितवान्" इत्येवंविधः । प्रवासासेधः—यात्रावारणम् । कर्मासेधः—पुण्यप्रसरणादेर्वारणम् । न पुनर्निरीक्षणादेइन्द्रियनिरोधादेः संकटत्वात् न तत्र राजाज्ञातिक्रमो दोषमावहति । नदीसन्तरणकान्तारदुर्गदेशोपप्लवादिषु आसिद्ध उत्क्रामन् नापराध्नुयात् । अनासेध्यमासेधयन् दण्डभाक् भवतीत्याह नारदः—

आसेधकाल आसिद्ध आसेधं योऽतिवर्तते ।
ताद्दिने योऽन्यथा कुर्वन् आसेद्धा दण्डभाग्भवेत् ॥

इति। अनासेध्याः कात्यायनेनोक्ताः—

हस्त्यश्वरथनौवृक्षपर्वतारूढा—विषमस्थाः—व्याध्यार्ता-व्यसनिनश्च—यजमानाश्च—कार्यान्तराविष्टाश्च—तत्समये नासेध्याः। मत्तोन्मत्तजडास्तु सर्वदा अनासेध्याः, कर्षको बीजकाले च सेनाकाले च सैनिकाः। कृतकालश्च मध्येऽनासेध्यः समुद्राहे भृतगवां प्रचारेण पालाः शिल्पिनश्च तत्काले अप्राप्तव्यवहारश्च दानोन्मुखश्च। अप्राप्तव्यवहारो नाम अपूर्णषोडशवर्षः। विषमस्थः—चोराद्यपहृत सर्वस्वः। सैनिका इत्यत्र युद्धे आसन्न इति शेषः।

इति श्रीवीरगजपति गौडेश्वर नवकोटिकर्णाटकलुबुरिगेश्वर जमुनापुराधीश्वर हुशनसाहि सुरत्राण शरणरक्षण श्री-दुर्गावरपुत्र परमपवित्रचरित्र राजाधिराजराज-परमेश्वर श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराज वि-रचिते स्मृतिसंग्रहे सरस्वतीवि-लासे व्यवहारकाण्डे इति कर्तव्यतानिरूपणं नाम तृतीयोल्लासः.

# अथ तुरीयोल्लासः.

---

निर्णेतुःकृत्यम्.

एवमासेधकरणानन्तरं आक्रोशं कुर्वति वादिनि.
ततो निर्णेतुः कृत्यमाह नारदः—

"ततस्तद्वचनं सर्वं फलकादौ विलेखयेत्" ॥

गोभिलोऽपि—

"रागादीनां यदेकेन कोपितः करणे वदेत् ।
तदोमिति लिखेत्सर्वमर्थिनः फलकादिषु" ॥

रागद्वेषलोभमोहादीनां मध्ये एकेन रागादिना यद्वदेदित्यन्वयः। करणे—राजसमक्षं। तदनन्तरं तद्वाक्यं ब्राह्मणैः सभ्यैः सह विमृश्य न्याय्यं चेत्साध्यपालेन राजपुरुषेण प्रतिवादिनमाकारयेत्, एतदुक्तं भवति—फलकादौ यल्लिखितं तत्तु जन्मान्तरे मया अस्मै धनं दत्तम्, तदसौ न प्रयच्छतीतिवत् विचारायोग्यम् यदि न स्यात् तदा तत्प्रत्यर्थ्याह्वानार्थं साध्यपालं प्रेषयेदिति। साध्यपालो नाम अर्थिप्रत्यर्थ्याह्वानार्थं राज्ञा नियुक्तस्सभ्यानुमतो राजपुरुषः। साध्यपालग्रहणं राजमुद्रोपलक्षणार्थं यथाह बृहस्पतिः—

"यस्याभियोगं कुरुते तथ्येनाऽऽशङ्कयाऽपि वा।
तमेवाकारयेद्राजा मुद्रया पुरुषेण वा" ॥

इति। आकारणमाह्वानं। उत्तरदाने तस्यैवाधिकारादित्यभिप्रायः। अत उक्तं कात्यायनेन—

"अधिकारोऽभियुक्तस्य नेतरस्यास्त्यसङ्गतेः" ॥

इति । अस्यार्थः—इतरस्यानभियुक्तस्य अस्मिन् विवादे संबन्धाभावान्नास्त्युत्तरदानेऽधिकार इति । इतरस्योत्तरवादित्वं त्रेधेत्याह—

उत्तराधिकारिणः.

"इतरोऽप्यभियुक्तेन प्रतिरोधीकृतो मतः ।
समर्पितोऽर्थिना योऽन्यः परो धर्माधिकारिणि"
प्रतिवादी स विज्ञेयः प्रतिपन्नश्च यस्स्वयम् ।

इति । अयमर्थः—

इतरोऽपि—विवादासंबद्धोऽप्यभियुक्तेन प्रतिरोधीकृतः—प्रतिवादीकृतः मतः—मन्वादीनामिति शेषः । अन्यो—द्वितीयः प्रतिवादी । परो विवादासंबद्धः धर्माधिकारिणि—प्राड्विवाके अभियुक्तेन समर्पितः, अर्थिना वा स्वयमेव यः प्रतिपन्नः—प्रतिवादित्वेनाङ्गीकृत इति। एतच्चानधिकारिणः प्रतिवादित्वमकल्याद्यधिकारिविषयं वेदितव्यम् । अत्राधिकारिणः साक्षात्कर्तृत्वस्य सुदुष्करत्वात् । अकल्यो—रोगी । आदिशब्देन अप्रगल्भजडोन्मत्तवृद्धस्त्रीबाला विवक्षिताः ।

अकल्यादीनां प्रतिनिधिदानं नियुक्तत्वेन ।

अत एव हारीतेन—

"अकल्यबालस्थविरविषमस्थक्रियाकुलकार्यातिपातिव्यसानिनृपकार्योत्सवाकुलमत्तोन्मत्तप्रमत्तार्तभृत्यानामाह्वानमकार्यमित्युक्तम्" । अकल्यो व्याख्यातः । विषमस्थः—उत्पन्नसङ्कटः। क्रियाकुलो—नित्यनैमित्तिककर्मव्यग्रः। यस्य त्वागच्छतो

गुरुतरकार्यहानिः स कार्यातिपाती। व्यसनं–विनष्टवियोगादिजं दुःखं तद्वान् व्यसनी। मत्तो–मध्वादिमदनीयद्रव्यनाशितबुद्धिः। उन्मत्तोग्रहपित्तादिभिः। प्रमत्तस्सर्वावधानहीनः। आर्तो–विषयादिना दुःखितः। भृत्यग्रहणमस्वतन्त्रस्त्रीणामुपलक्षणार्थम्। अतश्चाकल्यादिविषय एव प्रतिनिधिविधानं व्यवतिष्ठते।

महाभियोगे सर्वेऽप्याह्वानयोग्याः.

यदा त्वकल्यादिप्रहितप्रतिनिधिना न कार्यनिष्पत्तिः। तदा अकल्यादीनामप्याह्वानं कार्यम्। महाभियोगेषु अभियुक्तस्यैवाऽऽह्वानस्याऽऽवश्यकत्वात्। महाभियोगास्तु मनुष्यमारणस्तेयपरदाराभिमर्शनापेयपानानि। असभ्यवादेष्वप्यकल्यादय आह्वातव्या एव। असभ्यवादास्तु अभक्ष्यभक्षणकन्यादूषणपारुष्यकूटकरणनृपद्रोहादीनि। एतेषु प्रतिनिधिर्न कार्यः।

अत्र व्यासः—

“उत्पादयति यो हिंसां देयं वा न प्रयच्छति।
याचमानाय दौश्शील्यादाकृष्योऽसौ नृपाज्ञया॥” इति।

आहूतस्यानागमने अभियोगानुरूपदण्डः.

यस्तु नृपाज्ञया नाऽऽगच्छति तस्य दण्डमाह बृहस्पतिः—

“आहूतो यस्तु नागच्छेत् दर्पाद्बन्धुबलान्वितः।
अभियोगानुरूपेण तस्य दण्डं प्रकल्पयेत्॥” इति॥

“हीनकर्मणि पञ्चाशत् मध्यमे तु शतावरः।
गुरुकार्येषु दण्डस्स्यात् नित्यं पञ्चशतावरः॥”

कार्षापणानां सङ्ख्येयम् ।

"कल्पितो यस्य यो दण्डः अपराधस्य शक्तितः ।
पणानां ग्रहणं तु स्यात् तन्मूल्यं वाऽथ राजनि ॥"

इति कत्यायनोक्तेः । शक्तित इत्युक्त्या आपद्विषये न दण्डप्रकल्पनं । किंतु निवृत्तौ पुनराह्वानं कार्यं । तच्च परमार्थं चेत्, अथापरमार्थः तदा दण्डयित्वा पश्चान्न्याय्यं प्रवर्तयेत् ।

"प्रतिष्ठाप्यस्तु यत्नेन सोऽन्यथा दण्डभाग्भवेत् ।
दण्डयित्वा पुनः पश्चात् राजा न्याय्ये प्रवर्तयेत् ॥"

एवं येनकेनाप्युपायेनानीतमभियुक्तमभियोक्ता[1] सभायाः पुरतोऽन्यत्र वा स्थाने स्थापयेत् । यत्र स्थिते दृष्टलक्षणप्रच्छादनमशक्यं तत्र स्थापयेत् । ततो राज्ञा पृष्टोऽभियोगी स्वाभियोगवृत्तान्तमावेदयेत् । अभियोक्तृकृतावेदनमात्रतो भूतान्वेषणानुपपत्तेः, द्वयोश्छलवादित्वे निश्चिते पश्चाच्छलानुसारेण दर्शनविधिः । अतोऽभियुक्तस्यापि वृत्तान्तावेदनमस्तीत्यवगन्तव्यम् ।

वादिप्रतिवादिनोरुभयोः प्रतिभूग्रहणं.

"उभयोः प्रतिभूर्ग्राह्यः समर्थः कार्यनिर्णये ॥"

इति याज्ञवल्क्यस्मरणाद्वादिनोश्छलत्वनिश्चयानन्तरं साधित धनदण्डयोरनायासेन प्राप्तिरूपकार्यनिर्णयसमर्थः प्रतिभूरर्थि प्रत्यर्थिनोर्द्वयोरपि ग्राह्यो व्यवहारद्रष्ट्रेत्यर्थः ।

अत्र वर्जनीयाः.

अत्र प्रतिभूकर्माणि केचिन्निषिद्धाः—शत्रुस्वामितदाधिकृतानिरुद्धदाण्डितसंशयस्थारिक्तमित्रासन्तवासिराजकार्यनियुक्त -

[1] मभियुक्तास्त—D.

प्रव्राजितधनदानाशक्ताविज्ञाताः संशयस्थाः अभिशस्ताः । अत्यन्तवासिनः— नैष्ठिकब्रह्मचारिणः। प्रव्रजितास्सन्यासिनः ॥ प्रतिभूदानासमर्थं प्रत्याह कात्यायनः—

"अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति सार्थयोर्यस्य वादिनः ।
स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्भृताय वेतनम्" ॥

इति । दूतस्साध्यपालः । वेतनं–भृतिः । सार्थद्वयं–कोटिद्वयम् । एवं गृहीत्वा वादी न्याय्ये प्रवर्त्यः ।

अभियोक्रादीनां स्वस्वार्थनिवेदनक्रमः.

अभियोक्रादीनामुक्तिप्रकारं कात्यायन आह—

" अभियोक्ता वदेत्पूर्वमभियुक्तस्त्वनन्तरम् ।
तयोरुक्ते सदस्यास्तु प्राड्विवाकस्ततः परम् " ॥

इति । पूर्वं वदेदिति—प्रतिज्ञां कुर्यादित्यर्थः । पूर्ववादोऽभियोक्तुरिति नियमस्य क्वचित् व्यभिचारमाह—

" यस्य वाऽप्यधिका पीडा अकार्यं वाऽधिकं भवेत् ।
तस्यार्थिवादो दातव्यो न यः पूर्वं निवेदयेत् " ॥

पूर्वनिवेदनमप्रयोजकमित्यर्थः । आर्थिवादः–पूर्वपक्षः । यत्रोभयोरपि परस्परमार्थित्वं साध्यभेदाद्युगपद्भवति तत्र बार्हस्पत्यमुपतिष्ठते ।

" अहंपूर्विकया[1] तावदार्थिप्रत्यार्थिनौ यदा ।
वादो वर्णानुपूर्व्येण ग्राह्यः पीडामवेक्ष्य वा " ॥

ग्राह्यपीडाऽवेऽक्षणं समानवर्णयोरिति ध्येयम् ॥

[1] यातावर्थि ।

अनेकवादियुग्मानां युगपदुपस्थाने तु मनुः—

"अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ।
वर्णाश्रमौ च सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्" ॥

प्रतिज्ञार्थस्थिरीकरणम्.

आवेदितं साध्यमेव लेख्यम् । न साध्यान्तरम् । न पुनर्यावदावेदितं तावदेव लेख्यमिति न्यायमाह याज्ञवल्क्यः—

"प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथाऽऽवेदितमर्थिना" ॥

इति । अत एवाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

"समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम्" ।

इति । यदावेदितमिति कृत्वा चन्द्रिकाकारेण यत्साध्यमिति व्याख्यातम् । विज्ञानयोगिना तु यथाऽऽवेदितमिति पठित्वा यथा—येन प्रकारेण पूर्ववेदनाकाल एवाऽऽवेदितं तथा न पुनरन्यथा, अन्यथावादित्वे तु भङ्गप्रसङ्गात् ।

"अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थाता निरुत्तरः ।
आहूतव्यपवायी च हीनः पञ्चविधस्स्मृतः" ॥

इति । आवेदनाकाले अर्थिवचनस्य लिखितत्वात्पुनर्लेखनमनर्थकमित्यत आह—समामासेत्यादि । यथेति थाल्प्रत्ययान्तं प्रकारवचनं कृत्वा व्याचक्षाणस्य विज्ञानेश्वरस्य आवेदनसमये यावल्लिखितं तावल्लेखनीयं, किन्तु साध्यमेव लेखनीयमित्याशयः। अन्यवादिवचनोदाहरणात् । अन्यवादित्वं नाम स्वसाध्यं विहाय साध्यान्तरस्वीकारः इति । अतो विज्ञानयोगीन्द्रचन्द्रिकाकारयोर्व्याख्यानप्रकारभेद एव नार्थभेदः । यथा-

रुचि स्वीकार्यम्। आदिशब्देन द्रव्यतत्सङ्ख्यास्थानवेलाक्षमालिङ्गादीनि गृह्यन्ते।

आवेदनपत्रलेखनक्रमः.

" अर्थवद्धर्मसंयुक्तं परिपूर्णमनाकुलम्।
साध्यवद्वाचकपदं प्रकृतार्थानुबन्धि च॥
प्रसिद्धमविरुद्धं च निश्चितं साधनक्षमम्।
संक्षिप्तमन्वितार्थं च देशकालाविरोधि च॥
वर्षर्तुमासपक्षाहर्वेलादेशप्रदेशवत्।
स्थनावसथसाध्याख्याजात्याकारवयोयुतम्॥
साध्यप्रमाणसङ्ख्यावदात्मप्रत्यर्थिनामवत्।
परात्मपूर्वजानेकराजनामभिराङ्कितम्॥
क्षमालिङ्गात्मपीडावत्कथिताहर्तृदायकम्।
यदावेदयते राज्ञे तद्भाषेत्यभिधीयते॥

इति। भाषा–प्रतिज्ञा–पक्ष इत्यनर्थान्तरम्। यद्यपि सर्वेषु व्यवहारेषु संवत्सरादिविशेषणं नोपयुज्यते। तथाऽप्याधिप्रतिग्रहक्रयेषु निर्णयार्थमुपयुज्यत इत्यदोषः। अर्थवत्–प्रयोजनवत्, धर्मसंयुक्तं–अल्पाक्षरप्रगीतत्वादिगुणान्वितम्। परिपूर्णं–अध्याहारानपेक्षम्। अनाकुलं–असन्दिग्धाक्षरकं, साध्यवत्–सिषाधयिषितार्थाहीनम्, वाचकपदं–गौणलक्षणादिरहितम्, प्रकृतार्थानुबन्धि–प्रागावेदितार्थाविरोधि, प्रसिद्धं–लोकप्रसिद्धवस्तु विषयं। अविरुद्धम्–पुरराष्ट्रप्राड्विवाकनृपाद्यविरुद्धं, तथा पूर्वापराविरुद्धं प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धं व्यावहारिकधर्माविरुद्धं

चाविरुद्धपदेनोच्यते । निश्चितम्–अर्थान्तरशङ्कारहितं, साधनक्षमं–साधनार्हं, संक्षिप्तम्–अनतिविस्तृतम्, निखिलार्थम् अनवशेषितवक्तव्यम्, देशकालाविरोधि। मध्यदेशीयं क्रमुकक्षेत्रादि। शरत्कालीनमाम्रफलसाहस्रमपहृतमित्येवमादिविरोधरहितम्।शिष्टं व्यक्तार्थम् ।

स्थावरविषयावेदनपत्रिकालेखने विशेषः.

"जातिस्संज्ञा धिवासश्च प्रमाणं क्षेत्रनाम च ।
पितृपैतामहं चैव पूर्वराजानुकीर्तनम् ॥
स्थावरेषु विवादेषु दशैतानि निवेदयेत् " ।

इति स्मरणात् । देशस्थानादयः स्थावरेष्वेवोपयुज्यन्ते । अधिवासः–समीपदेशवासी जनः । प्रमाणं–गोचर्मादिपरिमाणम् । क्षेत्रनाम–शाल्यादिक्षेत्रविशेषं व्यक्तार्थम् । एतदुक्तं भवति—समामासादीनां यस्मिन् व्यवहारे यावद्रूपं युज्यते तत्र तावल्लेखनीयमिति याज्ञवल्क्यवचनस्य तात्पर्यार्थः ।

हारीतोऽपि ।

"आसनं शयनं यानं कांस्यताम्रमयोमयम् ।
धान्यमश्ममयं वस्त्रं द्विपदं च चतुष्पदम् ॥
मणिमुक्ताफलादीनि हीरकं रौप्यकाञ्चनम् ।
यदि द्रव्यसमूहस्स्यात् सङ्ख्या कार्या तथैव च ॥
यस्मिन् देशे च यत्संख्या मानमानेन मीयते ।
तेन तस्मिन् तथा संख्या कर्तव्या व्यवहारिभिः " ॥

इति । तेन मानेन मीत्वा संख्या कार्येत्यर्थः ।

अनादेयव्यवहाराः.

कात्यायनस्तु विशेषमाह—

"देशकालविहीनश्च द्रव्यसंख्याविवर्जितः ।
क्रियाप्रमाणहीनश्च पक्षोऽनादेय इष्यते" ॥

अयमर्थः–यत्रयत्र यदुपयुज्यते तत्रतत्र तल्लेखनीयम् । तदभावे साध्यसिद्धिकरणाशक्तेरुपयोगविहीनः पक्षोऽनादेय एवेति । क्रियाप्रमाणं–साध्यपरिमाणं, प्रयोजनरहितत्वादिति लक्षणहीनोऽपि पक्षो हेय एव । "अप्रसिद्धनिराबाधनिरर्थकनिष्प्रयोजनासाध्यविरुद्धाः पक्षाभासाः" इति स्मरणात् । एतच्चन्द्रिकाकारो व्याचष्टे, यदाह चन्द्रिकाकारः—तत्राप्रसिद्धो बृहस्पतिना निरूपितः—

"न केनचित्स्मृतो यस्तु सोऽप्रसिद्ध इति स्मृतः" ॥

तत्रोदाहरणं—पलसहस्रकृतस्तालो गृतीत इति । निराबाधो नाम निरुपद्रवः । यथा—अयमस्मद्भवनप्रदीपप्रभया स्वभवने (स्वगृहे) व्यवहरतीति । निरर्थकनिष्प्रयोजनौ तु बृहस्पतिना दर्शितौ—

स्वल्पापराधस्स्वल्पार्थो निरर्थक इति स्मृतः ।
कार्यबाधाविहीनस्तु विज्ञेयो निष्प्रयोजनः ॥

ऋणादानाद्यष्टादशपदानन्तर्भूतो निरर्थकः ।

वाक्पारुष्यादिभिः साध्यसिद्ध्यनुपयुक्तैः सहितः पक्षो निष्प्रयोजन इत्यर्थः । असाध्यविरुद्धावपि तेनैव दर्शितौ ।

"ममानेन प्रदातव्यं शशशृङ्गकृतं धनुः ।
असंभाव्यमसाध्यं तु पक्षमाहुर्मनीषिणः ॥"

"यस्मिन्नाविदिते पक्षे प्राड्विवाकेऽथ राजनि ।
पुरराष्ट्रविरुद्धं स्याद्विरुद्धस्सोऽभिधीयते" ॥

इति । विज्ञानयोगिना तु अन्यथा व्याख्यातम्–पक्षवदवभासमानाः पक्षलक्षणरहिताः पक्षाभासाः" इति पक्षाभासलक्षणमुक्त्वा—

"अप्रसिद्धं निराबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम् ।
असाध्यं वा विरुद्धं वा पक्षाऽऽभासं विवर्जयेत् ॥"

इति विशेषलक्षणान्युक्त्वा तानि व्याख्यातानि । व्याख्याप्रकारस्तु; यदाह विज्ञानयोगी—अप्रसिद्धं—मदीयं शशविषाणं गृहीत्वा न प्रयच्छतीत्यादि । निराबाधं अस्मद्गृहप्रदीपप्रकाशेन अयं स्वगृहे व्यवहरतीत्यादि । इदमुदाहरणमुभयोस्समानम् । निरर्थकम्—अभिधेयराहितं कचटतपं गजडदबमित्यादि । निष्प्रयोजनं यथा–अयं देवदत्तोऽस्मद्गृहसन्निधौ सस्वरमधीत इत्यादि । एतदुभयोस्समानं । असाध्यं यथा–अहं देवदत्तेन सभ्रूभङ्गं हसित इत्यादि । विरुद्धं यथा–अहमनेन शप इत्यादि । पुरादिविरुद्धं वा । असाध्यस्योदाहरणं चन्द्रिकाकारेण निरर्थकोदाहरणं कृतम् । स्वल्पार्थो निरर्थकस्मृतेर्न दोषः । अत्राप्रसिद्धोदाहरणमसाध्यस्योदाहरणं कृतम् ।

"ममानेन प्रदातव्यं शशशृङ्गकृतं धनुः" ।

इति वचनान्न दोषः । एवं विज्ञानयोगिना लोकप्रसिद्धिमपेक्ष्य हेत्वाभासा विवृताः ।

चन्द्रिकाकारेण तु वचनानुरोधेन व्याख्यातमितीयान् भेदः। एतेषामसाध्यादीनां देवदत्तेन सभ्रूभङ्गं हसितमित्यादीनां साधनत्वासंभवादसाध्यत्वम्। अल्पकालत्वान्न साक्षिसंभवः। लिखितं दूरत एव अल्पत्वान्न दिव्यमिति।

नारदादिभिस्त्वन्ये भाषादोषा दर्शिताः। तेऽपि सर्वे पक्षाभासलक्षणलक्षितत्वादग्राह्याः। ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रपञ्चिताः। अत एव योगीश्वरेण पक्षलक्षणरहितानां पक्षवदवभासमानानां पक्षाभासत्वं सिद्धमेवेति न पृथक् पक्षाभासा उक्ताः। तथाऽपि दिङ्मात्रमुक्तमित्यवगन्तव्यम्।

यत्तु पितामहेनोक्तम्—

"अनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो न सिध्यति"

इति। यद्यत्र पदशब्दो वस्तुवाचकस्स्यात् तदा न दोषः, मदीयमनेन हिरण्यं वासो रूपकादि चापहृतमित्येवंविधस्यादृष्टत्वात्। यदि च अत्र पदशब्दः स्थानवाची ऋणादानादिपदसङ्करे पक्षाभाव इति चेत्, तदपि न, मदीयं रूपकमनेन वृद्ध्या गृहीतं सुवर्णं चास्य हस्ते निक्षिप्तम् मदीयं क्षेत्रमयमपहरति चेत्यादीनां पक्षत्वमिष्यत एव। किंतु-क्रियाभेदात् क्रमेण व्यवहारभेदो न युगपदित्येतावत्.

"बहुप्रतिज्ञं यत्कार्यं व्यवहारेषु निश्चितम्।
कामं तदपि गृह्णीयात् राजा तत्वबुभुत्सया"

इति कात्यायनस्मरणात्, अनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षः युगपन्न सिध्यतीति वचनार्थः। भूमिशब्दः फलकादीनामुपलक्षकः।

"प्रतिज्ञादोषनिर्मुक्तं साध्यं सत्कारणान्वितम् ।
लिखितं लोकासिद्धं च पक्षं पक्षविदो विदुः ॥"

लोकसिद्धं—व्यावहारिकधर्माविरुद्धं, लोकप्रसिद्धमित्येवंविधार्थस्य प्रतिज्ञादोषानिर्मुक्तमित्यनेनैव गतार्थत्वात् ।

अभियोगचातुर्विध्यम्.

अयं पक्षः शङ्काऽभियोगतथ्यलब्धाभ्यर्थनपुनर्न्यायात्मकत्वेन चतुर्विधः ।

"शोधयेत्पूर्ववादं तु यावन्नोत्तरदर्शनम् ।
मोहाद्वा यदि शाठ्याद्वा यन्नोक्तं पूर्ववादिना ।
उत्तरान्तर्गतं वाऽपि तद्ग्राह्यमुभयोरपि ॥"

उत्तरान्तर्गतं नाम उत्तरे दीयमाने वादिना प्रोच्यमानामित्यर्थः। बृहस्पतिस्तु विशेषमाह—

"अभियोक्ताऽप्रगल्भत्वात् वक्तुं नोत्सहते यदा ।
तस्य कालः प्रदातव्यः कार्यशक्त्यनुरूपतः ॥

इति ।

अथोत्तरवादः.

एवं निश्चिते पूर्वपक्षे उत्तरं दातव्यमित्याह बृहस्पतिः—

"विनिश्चिते पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्यविशेषिते ।
प्रतिज्ञाते स्थिरीभूते लेखयेदुत्तरं ततः ॥"

उत्तरलक्षणम्.

"पक्षस्य व्यापकं सारमसंदिग्धमनाकुलम् ।
अव्याख्यागम्यमित्येतदुत्तरं तद्विदो विदुः ॥"

इति ।

अव्याख्यागम्यमित्यत्र प्रसिद्धप्रयोगेण दुश्श्लिष्टविभक्तिसमासाध्याहाराभिधानेन वा अदेशभाषाभिधानेन वा । शेषं सुगमम् ।

संग्रहकारेणापि—

"अनन्यार्थमभिन्नार्थं न्यायागमसमन्वितम् ।
अन्यूनानधिकं भ्रष्टमनन्याक्षरसंभवम् ।
भाषायामिति पत्रेषु लिखितायामनन्तरम् ।
प्रत्यर्थिनश्श्रुतार्थस्य कालोऽयं दातुमुत्तरम् ॥"

अनन्यार्थादिलक्षणान्वितं यथा भवति तथा लिखितायां भाषायामित्यर्थः । अयं च कालनियमो गवादिविवादेष्वेव ।

"गोभूहिरण्यस्त्रीस्तेयपारुष्यात्ययिकेषु च ।
साहसेष्वभिशापे च सद्य एव विवादयेत् ॥"

अभिशापो–वधानुशंसनम् । तस्य पारुष्यभेदत्वेऽप्यादरात्पुनर्वचनम् । याज्ञवल्क्योऽप्याह—

"साहसस्तेयपारुष्यगोऽभिशापात्यये स्त्रियाम् ।
विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥

अन्यत्र ऋणाऽऽदानादावित्यर्थः—

ऋणोपनिधिनिक्षेपदानसंभूयकर्मणां ।
समये दायभागे च कालः कार्यः प्रयत्नतः ॥"

समयः—समयानपाकर्म । अयमर्थः—सद्यः कृतेषु सद्य एव विवादयेत् । कालातीतेषु कालं दद्यादिति । अत एव पितामहः—

"सद्यः कृतेषु कार्येषु सद्य एव विवादयेत् ।
कालातीतेषु वा कालं दद्यात् प्रत्यर्थिने प्रभुः ॥"

इति ।

प्रत्यर्थिपदमर्थिनोऽप्युपलक्षकम् । यथाऽऽह नारदः—

"मतिर्नोत्सहते यस्य विवादे वक्तुमिच्छतः ।
तस्य कालः प्रदातव्यो ह्यर्थिप्रत्यर्थिनोरपि ॥"

कालपरिमाणमाह स एव—

"सद्यो वैकाहपञ्चाहौ त्र्यहं वा गुरुलाघवात् ।
भवेन्मासं त्रिपक्षं वा सप्ताहं वा ऋणादिषु ॥"

इति । कात्यायनस्तु विशेषमाह—

"यावान्यस्मिन् समाचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
तं प्रतीक्ष्य यथान्यायमुत्तरं दापयेन्नृपः ॥"

उत्तरभेदाः तल्लक्षणानि च.

इदमुत्तरं मिथ्यासंप्रतिपत्तिप्रत्यवस्कन्दनप्राङ्न्यायरूपेण चतुर्विधम्। मिथ्यालक्षणमाह कात्यायनः—

"अभियुक्तोऽभियोगस्य यदि कुर्यादपह्नवम् ।
मिथ्या तत्तु विजानीयादुत्तरं व्यवहारतः ॥"

इति । तत्तु मिथ्योत्तरं चतुर्विधम्—

"मिथ्यैतन्नाभिजानामि तदा तत्र न सन्निधिः ।
अजातश्चास्मि तत्काल इति मिथ्या चतुर्विधा ॥"

संप्रतिपत्त्युत्तरस्य लक्षणमाह स एव—

"साध्यस्य सत्यवचनं प्रतिपत्तिरुदाहृता ॥"

इति ।

उभयोरुदाहरणं—रूपकशतं मह्यं धारयतीत्युक्ते सत्यं धारयामीति संप्रतिपत्तिः। नाहं धारयमीति मिथ्या। प्रत्यवस्कन्दनं नाम गृहीतं प्रतिदत्तं प्रतिग्रहेण वा लब्धम्। यथाऽऽह नारदः—

"अर्थिना लिखितो योऽर्थः प्रत्यर्थिगदितं तथा।
प्रपद्य कारणं ब्रूयात् प्रत्यवस्कन्दनं स्मृतम्॥"

इति। प्राङ्न्यायोत्तरं तु यत्राभियुक्त एव ब्रूयात्—अस्मिन्नर्थेऽहमनेनाभियुक्तः तत्र चायं व्यवहारमार्गेण पराजित इति।

यथोक्तं हारीतेन—

"अस्मिन्नर्थे ममानेन वादः पूर्वमभूत्तदा।
जितोऽयमिति चेद्ब्रूयात् प्राङ्न्यायस्स्यात्तदुत्तरम्॥"

### उत्तराभासाः

एवमुत्तरलक्षणे स्थिते उत्तरलक्षणरहितानां उत्तरवदवभासमानानां उत्तराभासत्वमर्थसिद्धम्। अतो योगीश्वरादिभिः स्पष्टसिद्धत्वान्नोक्तम्। तथापीतरस्मृतिषु स्पष्टमुदाहरणात् दिङ्मात्रमुदाह्रियते—अप्रसिद्धविरुद्धाल्पातिभूरिसान्दिग्धासंभाव्याव्यक्तान्यार्थातिदोषवदव्यापकव्यत्यस्तपद[1] निगूढार्थाकुलव्याख्यागम्यासारानुत्तरलक्षणा उत्तराभासाः। लाञ्छानावयवसंस्थानसङ्ख्यासमयानभिज्ञोक्तमदेशभाषयोक्तं चाप्रसिद्धं।

"प्रतिदत्तं मया बाल्ये प्रतिदत्तं मया न हि"

---

[1] व्यग्तपद—B.

इति । एवमाकारेण पूर्वापरविरुद्धाभिधानं विरुद्धोत्तरमित्यर्थः । अत्यल्पं पुनरयं पुरा मया याचित इति वक्तव्ये पुरा मयायमित्येतावत्युक्ते तदिति । अतिभूरि—गृहीतमित्येतावन्मात्रेण सत्योत्तरे वक्तव्ये कार्यं तेन कृतं मया तु पुरा गृहीतमित्येतदाधिकं भूरि ।

देयं मयेति वक्तव्ये मया देयमितीदृशम् ।
सन्दिग्धमुत्तरं ज्ञेयं व्यवहारे बुधैस्तथा ॥

इति । मयादेयमित्यत्राऽऽकारप्रश्लेषसंभेदाददेयमित्यवगमात् सन्दिग्धमेवं विधमिति । अस्माभिर्देयं द्रव्यं अस्मत्प्रपौत्रपौत्रेण दत्तमित्येवंविधमुत्तरमसंभाव्यम् । अव्यक्तं तु सुखेनाभिधातुमशक्यम् । अर्थिनो यदसद्वृत्तकथन एव पर्यवसितं तदन्यार्थम् । अत्युक्त्या रोषवदतिरोषवत् । शतं देयमित्युक्ते द्विशतकमित्यादिकम् ।

अस्मै दत्तं मया सार्धं सहस्रमिति भाषिते ।
प्रतिदत्तं तदर्धं यत्तदिहाव्यापकं स्मृतम् ॥
पूर्ववादी क्रियां यावत्सम्यङ्नैव निवेदयेत् ।
मया गृहीतं पूर्वं नो तद्व्यस्तपदमुच्यते ॥

पूर्वपक्षनिश्चयादर्वाक् दीयमानं मिथ्येत्याद्युत्तरं व्यस्तपदमित्यर्थः।

"तर्त्किं तामरसं कश्चिदगृहीतं न दास्यति ।
निगूढार्थं तु तज्ज्ञेयमुत्तरं व्यवहारतः ॥"

इति । तामरसशब्दस्य सार्वभौमप्रयोगासिद्धत्वात् । वक्रोक्त्यादिमच्च निगूढार्थमित्यर्थः । अनन्वितानेकपदार्थवदाकुलार्थमिति । यथा—

किं तेनैव सदा देयं मया देयं भवेदिति ।

इत्यादि। व्याख्यागम्यं—स्वरूपतो दुरवबोधम्। काकदन्तसद्भावोत्तरवन्निष्प्रयोजनमसारवदित्यर्थः। एकस्यां भाषायां वदत्यसत्यं मिथ्येत्याद्यनेकोत्तरमनुत्तरमिति। यथाऽऽह नारदः—

"पक्षैकदेशे यत्सत्यमेकदेशे च कारणम्।
मिथ्या चैवैकदेशे च सङ्करात्तदनुत्तरम्॥"

उत्तराणां साङ्कर्ये अनुत्तरं नान्यथेति ज्ञापनार्थं सङ्करादिति हेतुप्रयोगः।

न चैकस्मिन् विवादे तु क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयोः।
न चात्र सिद्धिरुभयोः न चैकत्र क्रियाद्वयम्॥"

इति कात्यायनोक्तेः। मिथ्याकारणयोस्सङ्करे अर्थिप्रत्यर्थिनोर्द्वयोरपि क्रिया प्राप्नोति।

"मिथ्या क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिवादिनि"

इति स्मरणात्। तदुभयमेकस्मिन् व्यवहारे विरुद्धम्। यथा—रूपकशतं सुवर्णं चानेन गृहीतमित्यभियोगे रूपकशतं न गृहीतं सुवर्णं च गृहीतं प्रतिदत्तं चेति। कारणप्राङ्न्यायसङ्करे तु प्रत्यर्थिन एव क्रियाद्वयम्।

"प्राङ्न्यायप्रत्यवस्कन्दे प्रत्यर्थी निर्दिशेत् क्रियाम्"

इति। यथा—सुवर्णं प्रतिदत्तं रूपकशते व्यवहारमार्गेण पराजित इति। अत्र प्राङ्न्याये जयपत्रेण वा प्राङ्न्यायदर्शिभिर्भावयितव्यम्। कारणोत्तरे तु साक्षिलेखकादिभिर्भावयितव्यमित्यविरोधः। एवमुत्तरात्रितयसङ्करेऽपि द्रष्टव्यम्। यथाऽनेन सुवर्णं रूपकशतं वस्त्राणि च गृहीतानीत्यभियोगे सत्यं सुवर्णं गृहीतं प्रतिदास्यामि रूपकशतं तु न गृहीतं वस्तुविषये पूर्वन्यायेन

पराजित इति। एवं चतुष्कसङ्करेऽपि। एतेषां चानुत्तरत्वं यौगपद्येन तस्यतस्याङ्गस्य तेनतेन विना असिद्धेः क्रमेणोत्तरत्वमेव। एतदुक्तं भवति—यत्र पुनस्सर्वथा एकमसङ्कीर्णमुत्तरं न लभ्यते तत्रागत्या एकैकांशमुत्तरं कृत्वा क्रमेणैकैकप्रतिज्ञाया एकैकमुत्तरं ग्राह्यम्। अन्यथा तत्र निर्णयाभावात्। अत एवोक्तं "सङ्करात्तदनुत्तरम्" इति। उक्तविधया सङ्करे निराकृते स्यादेवोत्तरमित्यभिप्रायः। यत्र सङ्करे यस्य प्रभूतार्थविषयत्वं तत्क्रियोपादानेन पूर्वं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः पश्चादल्पविषयोत्तरोपादानेन। यत्र संप्रतिपत्तेरुत्तरान्तरस्य च सङ्करः तत्र उत्तरान्तरोपादानेन व्यवहारो द्रष्टव्यः। संप्रतिपत्तौ क्रियाया अभावात्। हारीतस्तु—

"मिथ्योत्तरं कारणं च स्यातामेकत्र चेदुभे।
सत्यं चापि सहान्येन तत्र ग्राह्यं किमुत्तरम्"॥

इत्युक्त्वा—

यत्प्रभूतार्थविषयं यत्र वा स्यात् क्रियाफलम्।
उत्तरं तत्र विज्ञेयमसङ्कीर्णमतोऽन्यथा॥"

इत्युक्तम्—

अतोऽन्यथा सङ्कीर्णं भवतीति शेषः।

अत एव पक्षव्यापकानेकोत्तरविषये नारदः—

"मिथ्याकारणयोर्वाऽपि ग्राह्यं कारणमुत्तरम्॥"

इति कारणस्यानन्यथासिद्धत्वात्। मिथ्यातो गुरुत्वादित्यभिप्रायः। अतश्चोत्तरान्तरसान्निपातेऽपि गुरुतरं ग्राह्यम्। अस्मिन्

वचने मिथ्याकारणयोः उदाहरणमात्रत्वात् । यत्र पुनः वादिप्रतिवादिनां त्रैवर्णिकत्वं तत्र वर्णानुक्रमेण गौरवापेक्षया व्यवहारो निर्णेतव्यः । तथाच हारीतः—

“ वर्णिनां सङ्करो यत्र ब्राह्मणादिक्रमेण तु ।
व्यवहारस्तु निर्णेयो गौरवापेक्षया भवेत् ॥ ”

इति । गौरवापेक्षया ब्राह्मणादिक्रमेण, ब्राह्मणक्षत्रिययोर्विवादे ब्राह्मणस्याल्पतरं साध्यम्, क्षत्रियस्य बहुतरम्, तथाऽपि वर्णगौरवापेक्षया अल्पीयस्साध्यमेव ग्राह्यमिति वचनार्थः । यत्र पुनस्सङ्करोत्तरे तुल्यबलतया न पूर्वोक्तक्रमहेतुरस्ति तत्राप्यैच्छिकक्रमेणोत्तरं ग्राह्यम्, निर्णयस्यावश्यकत्वात् । तथाहि—प्राङ्न्यायसङ्करे तदुभयनिर्णायकजयपत्रादिलिखितसाक्ष्यादिसंभवे व्यवहारानिर्णये प्रत्यर्थिनाऽन्यतरपक्षमवलम्ब्य स्थातव्यम्, नोभयमिति यथारुचि शब्दस्यार्थः । एवं चन्द्रिकायामपि प्रस्रवस्कन्दप्राङ्न्यायसङ्करे प्रत्यर्थिना यथारुचि स्थीयतामित्यत्र यथारुचि शब्दार्थोऽनुसन्धेयः । नन्वेवं संप्रतिपत्त्युत्तरस्य पक्षोपमर्दकत्वाभावादनुत्तरत्वमिति चेत्, मैवम्, संप्रतिपत्तेरपि साध्यत्वेन उपादिष्टस्य पक्षस्य सिद्धत्वेन उपन्यासासाध्यत्वनिराकरणादेवोत्तरत्वमिति । ननु कारणमिथ्योत्तरे तु पूर्वोक्तन्यायप्रसरः । “ इयं गौर्मदीया अमुकस्मिन् काले नष्टा अस्य गृहे दृष्टा इति ” शृङ्गग्राहिकया वदति । अन्यस्तु “ मिथ्यैतत् एतत्प्रदर्शितकालात्पूर्वमेव स्थिता मद्गृहे जाता च ” इति वदति । इदं तावत्पक्षनिराकरणसमर्थत्वान्नानुत्तरम् । नापि मिथ्यैव, कारणोपन्यासात् । नापि कारणम्, एकदेशस्याभ्युपगमा

भावात्। तस्मादेतत्सकारणमिथ्योत्तरम्। अत्र प्रतिवादिनः क्रिया "कारणे प्रतिवादिनि" इति वचनात्। ननु, "मिथ्याक्रिया पूर्ववाद" इति पूर्ववादिनः कस्मात् क्रिया न भवति। तस्य च शुद्धस्याविषयत्वात्। नन्वेवं "कारणे प्रतिवादिनि" इति वचनं शुद्धकारणविषयं कस्मान्न भवतीति चेत्, मैवम् सर्वस्यापि कारणोत्तरस्य मिथ्यासहचरितरूपत्वात्। शुद्ध कारणस्योत्तरस्याभावात्। प्रसिद्धकारणोत्तरे प्रतिज्ञातार्थे एकदेशस्याभ्युपगमेन एकदेशस्य मिथ्यात्वम्। यथा "सत्यं रूपकशतं गृहीतं न धारयामि दत्तत्वात्" इत्येकदेशस्याभ्युपगमोऽस्ति, प्रकृतोदाहरणे तु प्रतिज्ञातार्थस्यैकदेशस्याभ्युपगमो नास्तीति शेषः। एवं निरूपितमुत्तरं प्रतिवादिना स्वत एव देयम्।

तत्राभियोगानुगतमुत्तरं प्रतिवादिना।
निष्कृष्यार्थं प्रदेयं स्यात् दोषसंज्ञाविवर्जितम्॥

इति स्मृतेः। यदा पुनः स्वयमेव ददाति उत्तरप्रदानकालश्चातिक्रान्तः, तदा—

"पूर्वपक्षे यथार्थं तु न दद्यादुत्तरं यदा।
प्रत्यर्थी दापनीयस्स्यात् सामादिभिरुपक्रमैः"॥

इति। दापनीयो नृपेणेति शेषः।

यथार्थमुत्तरं दद्यात् अथ तद्दापयेन्नृपः।

इति स्मृतेः। सामादिसप्तोपायाः प्रकरणादावेवोक्ताः। एतैरप्युपायैरसाध्यं प्रत्याह हारितः—

उपायैश्चोद्यमानैस्तु न दद्यादुत्तरं तु यः ।
अतिक्रान्ते सप्तरात्रे जितोऽसौ दातुमर्हति ॥

इति उत्तरस्वरूपनिरूपणम्.

अथ प्रतिज्ञोत्तरनिरूपणानन्तरं प्रमाणनिरूपणप्रकारो निरूप्यते—

एवमुत्तरपत्रे निवेशिते साध्यसिद्धेः साधनायत्तत्वात् साधननिर्देशं कः कुर्यादित्यपेक्षायां याज्ञवल्क्यः—

"ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्" ॥

ततः–उत्तरानन्तरमर्थी साध्यवान, सद्यः अनन्तरमेव लेखयेत् । प्रतिज्ञातार्थः—साध्यः साध्यते अनेनेति साधनम्—प्रमाणम् । प्रतिज्ञातार्थसाधनमर्थी लेखयेदित्यनेन प्राङ्न्यायस्यैव साध्यत्वात् कारणवाद्येव अर्थीति स एव लेखयेत् । मिथ्योत्तरे पूर्ववाद्येवार्थी स एव साधनं निर्दिशेदित्युक्तमित्याभिप्रायः । अर्थिग्रहणेन संप्रतिपत्युत्तरे तु साध्याभावेन भाषोत्तरवादिनोः द्वयोरप्यर्थित्वाभावात् साधननिर्देश एव नास्तीति तात्रैव व्यवहारः परिसमाप्त इति गम्यते । अत एव हारीतः—

"प्राङ्न्याय कारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम् ।
मिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत्" ॥

इति । इति प्रतिपत्तिः । अत्र विशेषमाह कात्यायनः ।

"उभयोर्लिखिते वाक्ये प्रारब्धे कार्यनिर्णये ।
अयुक्तं तत्र यो ब्रूयात् तस्मादर्थात्सहायतः" ॥

इति । अनेनैव हि वचनेन मन्युकृतविवादेषु प्रमादाभिधाने प्रकृतादप्यर्थाद्धीयत इति गम्यते । यथाऽहमनेन शिरसि पादेन ताडित इत्यावेदनसमये अभिधाय भाषाकाले हस्तेन वा पादेन वा ताडित इति वदन् न केवलं दण्ड्यः, अपितु पराजित एव । अस्मिन्नर्थेऽर्थिनः प्रत्यर्थिनश्च प्रमादपरिहारार्थ एवोपदेशो याज्ञवल्क्येन कृतः—

"अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्" ॥

इति । अभियुज्यत इत्यभियोगोऽपराधः । तमभियोगमनिस्तीर्य—अपरिहृत्य एनमभियोक्तारं न प्रत्यभियोजयेत्—अपराधेन न संयोजयेत् । यद्यपीदं प्रत्यवस्कन्दनरूपं प्रत्यभियोगः, तथापि स्वाभियोगोपमर्दनरूपत्वान्न निषेधविषयः । इदं प्रत्यर्थिनमधि कृत्योक्तं, अर्थिनं प्रत्याह स एव—

"अभियुक्तं च नान्येन नोक्तं विप्रकृतं नयेत्" ॥

इति । अन्येन अभियुक्तम्—अनिस्तीर्णाभियोगमन्योऽर्थी नाभियोजयेत् । किञ्च आवेदनसमये यदुक्तं तद्विप्रकृतं विरुद्धस्वभावं न नयेत् । एतदुक्तं भवति—यद्वस्तु येन रूपेण वेदनसमये निवेदितं तद्वस्तु भाषाकाले तथैव लेखनीयम् । नान्यथेति ॥

ननु,

"प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यदावेदितमर्थिना"

इत्यत्रेदमुक्तं, किमर्थं पुनरुच्यते 'नोक्तं विप्रकृतं नयेत्'

इति, उच्यते, 'यथाऽऽवेदित मर्थिना' इत्यनेन आवेदनसमये यद्वस्तु निवेदितं तदेव भाषासमयेऽपि लेखनीयम्। एतस्मिन् पदे वस्त्वन्तरं नेत्युक्तं। यथा अनेन रूपकशतं वृद्ध्या गृहीतमित्यावेदनसमये प्रतिपाद्य प्रत्यर्थिसान्निधौ भाषासमये वस्तुशतं वृद्ध्या गृहीतमिति न वक्तव्यम्। तथा सति पदान्तरागमनेऽपि वस्त्वन्तरगमनाद्धीनवादी दण्ड्यस्स्यादिति। यत्र तु रूपकशतं वृद्ध्या गृहीत्वा अयं न प्रयच्छतीत्यावेदनकालेऽभिधाय भाषाकाले रूपकशतं बलादपहृतवानिति वदति, तदा साहसादिपदान्तरगमकं "नोक्तं विप्रकृतं नयेत्" इत्यनेनोक्तमिति न पौनरुक्त्यम्। एतदेव स्पष्टीकृतं नारदेन—

"पूर्ववादं परित्यज्य योऽन्यमालम्बते पुनः।
पदसङ्क्रमणात् ज्ञेयो हीनवादी स वै नरः"॥

इति। अत्रापवादमाह स एव।

"कुर्यात्प्रत्याभियोगं तु कलहे साहसेषु च"॥

इति। प्रत्यपराधसंभव इति शेषः। कलहे पारुष्यद्वय इत्यर्थः।

### पञ्चविधा हीनवादिनः.

नारदस्तु हीनवादित्वं पञ्चधेत्याह—

"अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थाता निरुत्तरः।
आहूतव्यपवायी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः"॥

इति। अन्यवादी—अन्यथावादी, तथा हीनस्य लक्षणमाह—

"पूर्ववादं परित्यज्य योऽन्यमालम्बते पुनः।
पदसङ्क्रमणाद्ज्ञेयो हीनवादी स वै नरः"॥

इति। पदसङ्क्रमणं—ऋणादानादिपदान्यतमं पदं विहाय अन्यतमपदस्वीकारपूर्वमावेदनं। तथाच कात्यायनः—

"श्रावयित्वा तदा कार्यं सजेदन्यद्वदेदसौ।
अन्यपक्षाश्रयस्तेन कृतो वादी स हीयते॥
समयाभिहितं कार्यमभियुज्य परं वदेत्।
विब्रुवंश्च भवेदेवं हीनं तमपि निर्दिशेत्॥
लेखयित्वा तु यो वाक्यं न्यूनं वाऽप्यधिकं पुनः।
वदेद्वादी स हीयेत नाभियोगं तु सोऽर्हति"॥

अभियोगः—पूर्वपक्षः तं कर्तुं नार्हतीत्यर्थः।

क्रियाद्वेषितया हीनस्य लक्षणमाह—

"सभ्याश्च साक्षिणश्चैव क्रिया ज्ञेया मनीषिभिः।
तां क्रियां द्वेष्टि यो मोहात् क्रियाद्वेषी स उच्यते"॥

इति। अनुपस्थातृलक्षणमाह—

"आह्वानादनुपस्थानात् सद्य एव प्रहीयते"।

इति। आह्वानानन्तरमनागमने तदानीमेव हीनो भवतीत्यर्थः॥

निरुत्तरतया हीनं निरूपयति—

"ब्रूहीत्युक्तो हि न ब्रूयात्सद्यो बन्धनमर्हति।
द्वितीयेऽहनि दुर्बुद्धेर्विद्यात्तस्य पराजयम्॥"

पराजयो—हीनता। आहूतव्यपवायी तु अभियोगपरिहारार्थमाह्वानं बुध्वा प्रच्छन्नचारी। अत्रैषां तु उत्तरोत्तरस्य हीनतागुरुत्वज्ञापनार्थं हीनः पञ्चविधः स्मृत इत्युक्तम्। न पुनः पञ्चविध एव हीन इत्यवधारणार्थम्, विधान्तराणामपि स्मरणात्॥

हीनवादिनां पञ्चानां क्रमेण दण्डः.

हीनतायास्तु गुरुत्वज्ञापनं दण्डभूयस्त्वज्ञापनार्थम्। उक्तं च कात्यायनेन।

"अन्यवादी पणान् पञ्च क्रियाद्वेषी पणान् दश।
नोपस्थाता दश द्वौ च षोडशैव निरुत्तरः॥
आहूतव्यपवायी तु पणान ग्राह्यस्तु विंशतिम्"।

प्रकारान्तरेण हीनस्तेनैव दर्शितः—

"श्रावितव्यवहाराणामेकं यत्र प्रभेदयेत्।
वादिनं लोभयेच्चैव हीनं तमपि निर्दिशेत्।
भयं करोति भेदं वा भीषणं वा निरोधनम्॥
एतानि वादिनोऽर्थस्य व्यवहारे स हीयते"।

अर्थव्यवहारे भयादीनि समस्तान्यसमस्तानि वा येन वादिना कृतानि सहीयत इत्यर्थः, भीषणं—मुखान्तरेण भयोत्पादनं इति न पौनरुक्त्यम्—

त्रिपक्षानन्तरं हीनवादिनः पराजयः.

अत्र नारदो विशेषमाह—

"प्रपलायन् त्रिपक्षेण मौनकृत्सप्तभिर्दिनैः।
साक्षिभिन्नस्तत्क्षणेन प्रतिपन्नश्च हीयते"॥

इति। साक्षिभेदे विशेषमाह स एव—

"साक्षिणस्तु समुद्दिश्य यस्तु तान् न विवादयेत्।
त्रिंशद्रात्रात्त्रिपक्षाद्वा तस्य हानिः प्रजायते"॥

कामत इति शेषः। अकामतस्तु—

"आचारकरणे दिव्ये कृत्वोपस्थाननिर्णयम्।
नोपस्थितो यदा कश्चित् छलं तत्र न कारयेत्" ॥

आचारकरणं—व्यवहारनिर्णयः। तत्रापि विशेषो दर्शितः।

"हीनोऽन्यवाक्येन बुधः तस्योद्धारं विदुर्बुधाः।
स्ववाक्यभिन्नो यस्तु स्यात तस्योद्धारो न विद्यते ॥

मनुरपि—

"आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः" ॥

दुष्टमिति शेषः।

सन्धिप्रकारः.

बृहस्पतिस्तु सन्धिप्रकारमाह—

"पूर्वोत्तरे तु लिखिते प्रकृते कार्यनिर्णये।
द्वयोस्सन्तप्तयोस्सन्धिस्स्यादयःपिण्डयोरिव ॥
साक्षिसभ्यविकल्पस्तु भवेत्तत्रोभयोरपि।
डोलायमानयोः सन्धिं प्रकुर्यातां विचक्षणौ ॥
प्रमाणसंमतो यत्र भेदश्शास्त्रचरित्रयोः।
तत्र राजाज्ञया सन्धिरुभयोरपि शस्यते" ॥

इति। एकस्य वादिन एकान्ते पराजयादर्वाक् सन्धिं प्रकुर्यातां तौ विचक्षणावित्यर्थः।

उभयोः सन्ध्यनङ्गीकारे सभ्यकृत्यम्.

उभयोस्सन्ध्यनङ्गीकारे सभ्यकृत्यमाह बृहस्पतिः—

"शोधिते लिखिते सम्यगिति निर्दोष उत्तरे ।
प्रत्यर्थिनोऽर्थिनो वाऽपि क्रिया कारणमिष्यते" ॥

प्रत्यर्थिनोऽर्थिनो वाऽपि साध्यसिद्ध्ये प्रमाणलेखनं कुर्यादित्यर्थः । एतदेव चन्द्रिकाकारादयः प्रत्याकलनमित्याहुः ॥ किं तत्प्रमाणमित्यपेक्षिते याज्ञवल्क्य आह—

"प्रमाणं लिखितं भुक्तिस्साक्षिणश्चेति कीर्तितम् ॥
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥"

इति । नारदोऽपि—

लौकिकदिव्यप्रमाणानि.

"क्रिया तु द्विविधा प्रोक्ता मानुषी दैविकी तथा ।
मानुषी लेख्यसाक्षिभ्यां धटादिर्दैविकी स्मृता ॥"

लेख्यसाक्षिग्रहणं भुक्तेरप्युपलक्षकम् । तस्या अपि मानुषसंबन्धित्वाविशेषात् । धटादयो बृहस्पतिना दर्शिताः—

"धटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्च पञ्चमः ।
षष्ठं च तण्डुलाः प्रोक्तं सप्तमं तप्तमाषकम् ।
अष्टमं फालमित्युक्तं नवमं धर्मजं भवेत् ।

दिव्यान्येतानि सर्वाणि निर्दिष्टानि स्वयम्भुवा ॥"

शपथास्तु तेनैव दर्शिताः—

"सत्यं वाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च ॥
देवता पितृपादाश्च दत्तानि सुकृतानि च ॥"

चशब्दादन्येषामपि पुत्रशिरस्स्पर्शनादीनां सङ्ग्रहः ॥

शपथभेदाः.

"सप्तर्षयस्तथेन्द्राद्याः पुष्करार्थे तपोधनाः ॥
शेपुश्शपथमव्यग्राः परस्परविशुद्धये ॥"

इति। यद्यपि अशपथानामपि दिव्यशब्दवाच्यत्वमस्ति—

"यस्माद्देवैः प्रयुक्तानि पुष्करार्थे मनीषिभिः।
परस्परविशुद्ध्यर्थं तस्माद्दिव्यानि नामतः ॥"

इति। तथाऽपि गुरुषु दिव्यशब्दः लघुषु शपथ इति केचित्, तन्न,

"दिवाकृते कार्यविधौ ग्रामेषु नगरेषु च।
संभवे साक्षिणां चैव दैवी न भवति क्रिया"
"अशेषमानुषाभावे दिव्येनैव विनिर्णयः ॥
संभवे साक्षिणां प्राज्ञो दैविकीं तु विवर्जयेत् ॥"

इति वचनेषु दिव्यशपथयोरेकवाक्यतयोपादानत् तथैव लोकप्रसिद्धेश्च, किन्तु—

"अर्थानुरूपाश्शपथाः स्मृतास्सत्यधटादयः ॥"
"साक्षी यत्र न विद्येत विवादे वदतां नृणाम्।
तदा दिव्यैः परीक्षेत शपथैश्च पृथग्विधैः ॥"

इति दिव्यशपथयोर्भेदग्रहणं तयोर्न भेदकथनाय, अपि तु शपथो लघुषु प्रायिक इति दर्शयितुमित्यवगन्तव्यम्।

कात्यायनादयस्तु—

"यद्येकदेशं व्याप्ताऽपि क्रिया विद्येत मानुषी।
सा ग्राह्या न तु पूर्णाऽपि दैविकी वदतां नृणाम् ॥

एकदेशे मानुषसंभवे एकदेशविभावितन्यायेन विशेषणांशसिद्धिः। यद्वा अल्पशपथेनापि कार्यमित्यभिप्रायः।

"यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्यो ब्रूयात्तु दैविकीम्।
मानुषीं तत्र गृह्णीयात् न तु दैवीं क्रियां नृपः॥
स्वल्पाऽपि मानुषी यत्र दैवीं तत्र न कल्पयेत्।"

इति। अतस्सर्वथा मानुषासंभवे दिव्यमित्युत्सर्गः। क्वचिदस्यापवादमाह स एव—

"प्रक्रान्ते साहसे वादे पारुष्ये दण्डवाचिके।
बलोद्भवेषु कार्येषु साक्षिणो दिव्यमेव वा॥"

ऋणादानादिषु विशेषमाह स एव—

"ऋणे लेख्यं साक्षिणो वा युक्तिलेशादयोऽपि वा।
दैविकी च क्रिया प्रोक्ता प्रजानां हितकाम्यया॥
प्रमाणैर्हेतुना वाऽपि दिव्येनैव तु निश्चयः।
सर्वेष्वर्थविवादेषु सदा कुर्यान्नराधिपः॥
लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।
अनुमानं विदुर्हेतुं तर्कं चैव मनीषिणः"॥

इति। एवं दृष्टप्रमाणेनासिद्धौ अदृष्टप्रमाणमाश्रयणीयम्, नान्यथेति तात्पर्यार्थः। क्वचिदपवादमाह बृहस्पतिः—

"प्रथमे वा तृतीये वा प्रमाणं दैवमानुषम्।
उत्तरे स्याच्चतुर्थे तु स साक्षिजयपत्रकम्"॥

मिथ्यासंप्रतिपत्तिप्रत्यवस्कन्दप्राङ्न्यायरूपचतुर्विधोत्तरेषु प्रथमे मिथ्योत्तरे तृतीये कारणोत्तरे दैविकी मानुषी च क्रिया

कार्या, चतुर्थे प्राङ्न्यायोत्तरे साक्षिजयपत्रयोरन्यतरावलम्बनेनैव निर्णयः, तत्र दिव्यावतार इत्यक्षरार्थः । संप्रतिपत्तौ भाषायामुत्तरे च साध्यार्थाभावात् द्विपाद्व्यवहारोऽयम् ।

द्विपाद्व्यवहारनिर्णयः.

तथा च कात्यायनः—

"मिथ्योक्तौ स चतुष्पात्तु प्रत्यवस्कन्दने तथा ।
प्राङ्न्याये च स विज्ञेयो द्विपात्संप्रति पत्तिषु" ॥

येन संप्रतिपत्तौ क्रियानिर्देशाद्यभावात् उत्तरान्त एव व्यवहारस्समाप्यते । एवं च मिथ्याकारणयोर्मानुषी दैविकी वा, प्राङ्न्याये तु मानुष्येव, सत्ये तु न कदाचिदिति तात्पर्यार्थः ।

क्वचित् साक्षिषु सत्स्वपि अवश्यं दिव्यनियमः.

क्वचिद्दिव्यनियममाह—

महाशापाभिशस्तेषु निक्षेपहरणे तथा ।
दिव्यैः कार्यं परीक्षेत राजा सत्स्वपि साक्षिषु ॥

कात्यायनोऽपि—

"प्राणान्तिकाविवादे च विद्यमानेषु साक्षिषु ।
दिव्यमालम्बते वादी न पृच्छेत्तत्र साक्षिणः" ॥

बृहस्पतिरपि—

"लिखिते साक्षिवादे च सन्देहो जायते यदा ।
अनुमाने च संभ्रान्ते तत्र दैवं विशोधनम्" ॥

एतच्च वाक्पारुष्यादिव्यतिरिक्तविषयम्—

"वाक्पारुष्ये महीवादे निषिद्धा दैविकी क्रिया"

इति। तत्र तान् न कल्पयेदित्यभिप्रायः।

"वाक्पारुष्ये च भूमौ च दिव्यं न परिकल्पयेत्"

इति स्मरणात्, इदं तु वाक्पारुष्येऽल्पे, महति वाक्पारुष्ये दिव्यविधानात्। भूमाविति स्थावरोपलक्षणम्।

अत एव पितामहः—

स्थावरविवादे दिव्याभावः.

"स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्।
साक्षिभिर्लिखितेनाथ भुक्त्या चैनं प्रसाधयेत्"॥

एतद्वचनं विज्ञानयोगिना पराजयविषये अवष्टम्भविषयमित्युक्तम्। अन्यथा व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गादिति। चन्द्रिकाकारादिभिस्तु मानुषासंभवे हेतुना निर्णयः, तदसंभवे राजाज्ञयेति मन्तव्यमिति। एतच्च धर्मस्थानविहीनेषु विवादेषु राजाज्ञारूपप्रमाणनिरूपणासंभवाद्धेयम्। न च राजाज्ञाप्रमाणस्य निरवकाशत्वमिति वाच्यम्। "उत्तरः पूर्वबाधकः" इति तद्व्याख्यानावसरे पूर्वमेव प्रपञ्चितत्वात्। अत एव विज्ञानेश्वरमतमेव सम्यक्।

व्यासोऽपि—

"न मयैतत्कृतं लेख्यं कूटमन्येन कारितम्।
अधरीकृत्य तत्पत्रमर्थे दिव्येन निर्णयः॥
पूगश्रेणिगणादीनां या स्थितिः परिकीर्तिता।
तस्यास्तु साधनं लेख्यं न दिव्यं न च साक्षिणः"॥

इति । दिव्यनिषेधो लेख्यस्य गुरुत्वकथनार्थः ।

"द्वारमार्गक्रियाभोगजलवाहादिके तथा ।
भुक्तिरेव तु गुर्वी स्यात् न लेख्यं न च साक्षिणः ।
दत्तादत्ते च भृत्यानां स्वामिनां निर्णये सति ।
विक्रयाऽऽदानसंबन्धे क्रीत्वा धनमयच्छति ।

द्यूतसमाह्वये लेख्यदिव्ययोरनवकाशः.

द्यूते समाह्वये चैव विवादे समुपस्थिते ॥
साक्षिणस्साधकं प्रोक्तं न दिव्यं न च लेख्यकम्" ।

अत्रापि साक्षिण एव गरीयांस इत्यभिप्रायः । एवमुक्तप्रमाणव्यवस्था परीक्षकैः कल्पनीया । यत आह नारदः—

"प्रमाणानि प्रमाणज्ञैः परिपाल्यानि यत्नतः ।
सीदन्ति हि प्रमाणानि प्रमाणैरव्यवस्थितैः" ॥

अयमर्थः– अव्यवस्थितैः प्रमाणैः प्रमाणकर्तारो यतो विनश्यन्ति अतः कस्यात्र किं प्रमाणमिति प्रत्याकलने कुशलैः प्रत्याकलयितव्यमिति । ततः किं कार्यमित्यपेक्षिते नारदः—

"पूर्ववादेऽभिलिखिते यथाऽक्षरमशेषतः ।
अर्थी तृतीयपादे तु क्रियायाः प्रतिपादयेत्" ॥

पूर्ववादो—भाषा, अभिलिखितं—पूर्वपक्षाभिभावकतया लिखितं–उत्तरमिति यावत् । क्रियाप्रमाणं तृतीयपादः । प्रत्याकलिताख्यः भाषोत्तरप्रत्याकलिताख्यपादत्रये सति स्वकार्यमर्थी प्रमाणेन साधयेदित्यर्थः ।

### क्रियास्वरूपभेदौ.

क्रियायाः भेदमाह व्यासः—

"कार्यं तु साध्यमित्युक्तं साधनं तु क्रियोच्यते ।
द्विविधा सा पुनर्ज्ञेया मानुषी दैविकी तथा" ॥

बृहस्पतिस्तु—

"द्विप्रकारा क्रिया प्रोक्ता मानुषी दैविकी तथा ।
एकैकाऽनेकधा भिन्ना मुनिभिस्तत्ववेदिभिः" ॥

कात्यायनोऽपि—

"पञ्चप्रकारं दैवं स्यात् मानुषं त्रिविधं स्मृतम्" ।

इति। अत्र पञ्चप्रकारमिति न नियम्यते। तण्डुलतप्तमाषादि-विधानान्तरस्यापि स्मृत्यन्तरे दर्शनात्, त्रिविधमिति तु नियमार्थं, स्मृत्यन्तरविरोधात्।

"लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्" ॥

इति। नारदोक्तेः—

"लिखितं साक्षिणश्चात्र द्वौ विधी परिकीर्तितौ"

इत्युक्तम्; लिखितसाक्षिणोः भुक्तितो गरीयस्त्वाभिप्रायं वेदितव्यम्।

### लेख्यनिरूपणम्.

लिखितस्य द्वैविध्यमाह सङ्ग्रहकारः—

"राजकीयं जानपदं लिखितं द्विविधं स्मृतम्" ।

### राजकीयं पञ्चविधम्.

राजकीयं शासनजयपत्राज्ञापत्रप्रसादलेख्यभेदात्पञ्चविधम्। शासनं नाम यत्र भूम्यादिकं निबन्धं वा दत्वा

ताम्रपट्टे पटे वा स्थानवंशादिसंयुक्तं धरणिवराहप्रतिपादक वच नाशीर्वादपूर्वकमात्मपितृपितामहप्रपितामहादीनां शौर्यादिवर्णनद्वारा आत्मानमभिलेख्य प्रतिग्रहपरिमाणादिकं लिखित्वा समामासपक्षाहस्संप्रदानग्रामादि लिखित्वा आगामिनृपबोधनार्थं "दातुः पालयितुः स्वर्गं हन्तुर्नरकमेव वा"।

षष्टिर्वर्षसहस्राणि दानच्छेदफलं लिखेत्।

"सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नराणाम्"

इत्यादि लेखनीयम्। ततो राजा स्वहस्तसङ्केतं लिखेत्, तद्राजशासनमिति। तच्च प्रतिग्रहीत्रेऽर्पणीयम्। तस्योपयोगित्वात्। तदपि शासनदानं न दानसिद्ध्यर्थं, तस्य प्रतिग्रहेणैव सिद्धेः। किन्तु दत्तस्य स्थैर्यकरणार्थम्। स्थिरत्वे अक्षयफलश्रुतेः।

जयपात्रिका नाम—

"यद्वृत्तं व्यवहारे तु पूर्वपक्षोत्तरादिकम्।
क्रियाऽवधारणोपेतं जयपत्रेऽखिलं लिखेत्"॥

आदिशब्देन साक्षिवचनसभ्यप्राड्विवाककुलानां शास्त्रस्य मतं स्वहस्तेनान्यहस्तेन वा लिखेदिति तज्जयपत्रम्। अन्यदपि जयपत्रं बृहस्पतिराह—

"अन्यविद्यादिहनिभ्यः उत्तरेषां प्रदीयते।
व्यक्तानुवादसंसिद्धं तच्च स्याज्जयपत्रिकम्"॥

उत्तरेषामहीनवाद्यादीनां, यथाऽऽह वृद्धवसिष्ठः—

"प्राड्विवाकादिहस्ताङ्कं मुद्रितं राजमुद्रया।
सिद्धेऽर्थे वादिने दद्यात् जयिने जयपत्रिकाम्"॥ इति।

### आज्ञापत्रिका.

आज्ञापत्रं तु—

" सामन्तेष्वथ भृत्येषु राष्ट्रपालादिकेषु वा ।
कार्यमादिश्यते येन तदाज्ञापत्रमुच्यते " ॥

प्रज्ञापत्रं तु—

" ऋत्विक्पुरोहिताचार्यमान्येष्वभ्यर्हितेषु तु ।
कार्यं निवेद्यते येन पत्रं प्रज्ञापनात्मकम् " ॥

### प्रसादपत्रं

प्रसाद लेख्यं तु—

" देशादिकं यस्य राजा लिखितेन प्रयच्छति ।
सेनाशौर्यादिना तुष्टः प्रसादलिखितं हि तत् " ॥

इति । जानपदस्य लक्षणमाह व्यासः—

" लिखेज्जानपदं लेख्यं प्रसिद्धं स्थानलेखकः ।
राजवंशक्रमयुतं वर्षमासार्धवासरैः ॥
पितृपूर्वं नामजातिधनिकर्णिकयोर्लिखेत् ।
द्रव्यभेदं प्रमाणं च पृथ्वीं चोभयसंमताम् " ॥

चशब्देन साक्षिदेशाचारादि गृह्यते, अत एव नारदः—

" लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यमविलुप्तक्रमाक्षरम् ।
देशाचारक्रमयुतं समग्रं सर्ववस्तुषु " ॥

इति । याज्ञवल्क्यस्तु विशेषमाह—

" समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत् ।
मतं मेऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितम् " ॥

व्यासोऽपि—

"साक्षिणस्तु स्वहस्तेन पितृनामपूर्वकं लिखेयुः"

इति। ते च गुणैश्च सङ्ख्यया समा एव, न विषमाः। सङ्ख्यासाम्यमदृष्टार्थं प्राबल्यार्थं वा। गुणसाम्यं दृष्टार्थम्। साक्षिण इति बहुवचनं गुरुकार्यलेख्यविषयम्।

"उत्तमर्णाधमर्णौ च साक्षिणौ लेखकस्तथा।
समवायेन चैकेषां लेख्यं कुर्वीत नान्यथा"॥

इति हारीतेन लेख्यमात्रे साक्षिणाविति द्वित्वोक्तेः। अतश्च उत्तमर्णाधमर्णसाक्षिलेखकलेखनीयरूपपञ्चविधगमकारूढत्वात् तदभेदात्पत्रस्य लेख्यं पञ्चारूढमिति लौकिकप्रसिद्धिः। ननु "पत्रं हि लिपिसंयुक्तमुच्यते" इत्यस्य लिपेर्लेखनीयार्थनिरूपकतया तदभेदात्पत्रस्य तदारूढत्वोक्तिः पञ्चसङ्ख्योक्तिश्चायुक्तेति चेत्, मैवम्, यथा लेख्यस्य लेखकानिरूपकतया तदभेदेऽपि तद्गतविशेषाकारस्वीकारेण लेखकारूढत्वोक्तिरविरुद्धा तथैवात्रेति। यद्यपि स्वहस्तलेख्ये लेखकाभावात् पञ्चारूढत्वं नास्ति, तथापि तस्मिन्नवस्थाद्वयविवक्षयाऽवस्थितं गमकत्वमवलम्ब्यतदुक्तिर्न विरुद्धा। न च वाच्यं—स्वहस्तलेख्यसाक्ष्यभावपक्षे पञ्चारूढत्वं गौणमिति, साक्षिकृत्यं स्वकृतलिपावेव तिष्ठति। स्वस्यैव साक्षित्वाङ्गीकारात्। केचित्त्वन्यकृतलेख्ये पञ्चारूढत्वं पत्रस्येत्याहुः। चन्द्रिकाकारादयस्तु अन्यकृतलेख्यस्य उत्तमर्णाधमर्णसाक्षिद्वयलेखकरूपपञ्चपुरुषारूढत्वात् पञ्चारूढं पत्रमिति लोकव्यवहारः, साक्षिसङ्ख्याधिक्ये त्वयं व्यवहारो गौण इति मन्तव्य इत्याहुः। तस्मिन्मते पञ्चशब्दः पुरुषमात्रपरो न तु

गमकपरः। अत्र पत्रस्य पञ्चारूढत्वे पुरुषमात्रं न निमित्तं, अपि तु तद्गतगमकत्वं, अतश्चेतरप्रमाणापेक्षया पत्रस्य प्राबल्यसिद्धिः। किंच साक्षिसङ्ख्याधिक्ये त्वयं व्यवहारो गौण इत्यसमञ्जसम्। षडादिसङ्ख्याविशिष्टसाक्षिमत्पत्रस्थलेऽपि शते पञ्चाशन्न्यायेन मुख्यतायां गौणत्वाङ्गीकारोक्तेरयुक्तत्वात्। केचित्तु तन्मतानुवर्तिन एवं तत्परिहारमाहुः—एकोऽप्युभयसंमत इति वचनात् श्रुताध्ययनसंपन्नस्य तस्य वादिनोऽप्येकस्यैव साक्षित्वाङ्गीकारात्। पुरुषचतुष्टयारूढत्वे पञ्चारूढत्वोक्तिर्गौणीति। तत्तु पूर्वापरविरुद्धाभिधानमित्यनादर्तव्यम्। तथापि पूर्वोक्तदोषदुष्टत्वादस्मदुक्तप्रकार एव सम्यक्। नारदस्तु विशेषमाह—

"अलिपिज्ञो ऋणी यस्स्यात लेखयेत्स्वमतं तु सः।
साक्षिणा साक्षिणोऽन्येन सर्वसाक्षिसमन्वितः।
विजातीयलिपिज्ञोऽपि स्वयमेव लिखेत् पदम्"॥

पदमिति स्वसङ्केतमित्यर्थः। तदनन्तरकृत्यं याज्ञवल्क्य आह—

"उभयाभ्यर्थितेनैतन्मयाऽप्यमुकसूनुना।
लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकस्त्वन्ततो लिखेत्"

व्यासोऽपि—

"मयोभयाभ्यर्थितेनाऽमुकेनाऽमुकसूनुना।
स्वहस्तयुक्तं स्वं नाम लेखकोऽन्ते ततो लिखेत्"॥
एवं जानपदे लेख्ये व्यासेनाभिहितो विधिः"॥

इति।

लेख्यमष्टविधं.

एतज्जानपदं लेख्यं अष्टविधम्। विभागपत्र, दानपत्र,

संवित्पत्र, स्थितिपत्र, सन्धिपत्र, विशुद्धिपत्र, आधिपत्र, क्रय-पत्रभेदात् ।

### विभागपत्रदानपत्रादिक्रमः.

विभागपत्रस्वरूपं तु नारद आह—

" भ्रातरः संविभक्ता ये स्वरुच्या तु परस्परम् ।
विभागलेख्यं कुर्वन्ति भागलेख्यं तदुच्यते " ॥

इति । दानपत्रस्वरूपं स एवाह—

" भूमिं दत्वा तु यत्पत्रं कुर्याच्चन्द्रार्कसाक्षिकम् ।
अनाच्छेद्यमनाहार्यं दानपत्रं तदुच्यते " ॥

इति । संवित्पत्रं तु पितामह आह—

" ग्रामो देशश्च यत्कुर्यान्मते लेख्यं परस्परम् ।
राजाविरोधि धर्मार्थं संवित्पत्रं वदन्ति तत् " ॥

स्थितिपत्रमाह बृहस्पतिः—

" पूगश्रेण्यादिकानां तु समयस्य स्थितेः कृतम् ।
स्थितिपत्रं तु तत्प्रोक्तं मन्वादि स्मृतिवेदिभिः " ॥

इति । सन्धिपत्रस्वरूपमाह हारीतः—

" सन्धिपत्रं तु विज्ञेयमार्थिप्रत्यर्थिनोर्यदा ।
परस्परानुमत्या च निर्मितं तु ससाक्षिकम् " ॥

इति । विशुद्धिपत्रस्वरूपं तु स एवाह—

" अभिशापे समुत्तीर्णे प्रायश्चित्ते कृते जनैः ।
विशुद्धिपत्रं विज्ञेयं लेख्यसाक्षिसमन्वितम् " ॥

इति । आधिपत्रमाह यमः—

"आधिं कृत्वा तु यो द्रव्यं प्रयुङ्क्ते स्वधनं धनी ।
यत्तत्र क्रियते लेख्यमाधिपत्रं तदुच्यते" ॥

क्रयपत्रस्वरूपमाह वसिष्ठः—

"क्रीते क्रयप्रकाशार्थं द्रव्ये यत्क्रियते क्वचित् ।
विक्रेत्रनुमतं क्रेतुर्ज्ञेयं तत्क्रयपत्रकम्" ॥

इति । एतेष्वेवाष्टसु पत्रेषु अन्वाधिपत्रगोप्याधिपत्रक्रयलेख्यसीमापत्रादीनां यथायोगमन्तर्भावः कार्यः । एतदप्यष्टविधं पत्रं चिरकाचिरकभेदेन द्विविधम् । द्विविधमपि स्वहस्तकृतमन्यहस्तकृतं चेति द्विविधम् । चिरकं नाम पुत्रपौत्रादिदृष्टं साक्ष्यादिपश्चारूढं तदानीं गमकानां विद्यमानत्वाच्चिरकमिति । तदन्यदचिरकम् ।

तदयमत्र निष्कर्षः—पत्रं द्विविधम्—राजशासनं जानपदशासनं चेति । राजशासनं पञ्चविधम्—शासनजयपत्राज्ञापत्रप्रज्ञापत्रप्रसादलेख्यभेदात् । शासनं द्विविधम्—भूम्यादिविषयत्वेन निबन्धनविषयत्वेन च । जानपदमष्टविधम्—विभागदानसंवित्स्थितिसन्धिविशुद्धाधिक्रयभेदात् । एतत्सर्वं स्वहस्तकृतमन्यहस्तकृतं चेति द्विविधम् । स्वहस्तकृतं साक्षिमत्त्वासाक्षिमत्त्वाभ्यां द्विविधम् ।

"स्वहस्तलिखितं पत्रं साक्ष्यभावेऽपि तद्बलि"

इति । लेख्यप्रयोजनमाह मरीचिः—

"स्थावरे विक्रयाधाने विभागे दान एव च ।

लिखितेनाप्नुयात्सिद्धिमपि संवादमेव च" ॥

लेख्यान्तरोत्पत्तिविषयः.

लेख्यस्य नाशे वा कार्याक्षमत्वे वा लेख्यान्तरमुत्पादनीयम् ।

"देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा ।
भिन्ने दग्धे तथा छिन्ने लेख्यमन्यत्तु कारयेत्" ॥

इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः । देशान्तरस्थे—सर्वथाऽऽनेतुमशक्यस्थाने स्थिते । दुर्लेख्ये—दुर्बोधाक्षरे । भिन्ने—द्विधा जाते । छिन्ने—शीर्णे कृते । हृते तस्करादिना । एतच्चार्थिप्रत्यर्थिनोः परस्परानुमतौ सत्याम् । असत्यां तु व्यवहारप्राप्तौ देशान्तरस्थपत्रानयनाय आध्यपेक्षया कालो दातव्यः । दुर्देशावस्थिते नष्टे वा पत्रे साक्षिभिरेव व्यवहारनिर्णयः कर्तव्यः । यथाऽऽह नारदः—

"लेख्ये देशान्तरन्यस्ते शीर्णे दुर्लेखिते हृते ।
सतस्तत्कालकरणमसतो द्रष्टृदर्शनम्" ॥

इति । सतो विद्यमानस्यानयनाय कालकरणं कालावधिर्दातव्यः । असतः पुनरविद्यमानस्य पूर्वं ये द्रष्टारः साक्षिणस्तैः दर्शनं व्यवहारपरिसमापनं कार्यम् । यदा तु साक्षिणो न सन्ति तदा दिव्येन निर्णयः कार्यः ।

"अलेख्यसाक्षिके दैवीं व्यवहारे विनिर्दिशेत्" ।

इति स्मरणात् । इयमेव व्याख्या समीचीना । कालान्तरे धने देये लेख्यान्तरं तु कार्यमेवेति चन्द्रिकाकारव्याख्यानं तु धनस्य कालान्तरदेयत्वे पत्रान्तरकरणमुत्सर्गतः प्राप्तमित्यवसेयम् ।

## लेख्यपरीक्षा.

लेख्यं लेख्याचारेण साक्ष्यं साक्ष्याचारेण विचारयेदि-
त्याह कात्यायनः—

"राजा क्रियां [1] समाहूय यथान्याय्यं विचारयेत्।
लेख्याचारेण लिखितं साक्ष्याचारेण साक्षिणः" ॥

इति। राज्ञा साक्षिण आहूय साक्ष्याचारेण लिखितं विचारयेत्। यद्वा लेख्याचारेण लिखितं विचारयेत्। अस्मिन् व्याख्याने क्रियामिति लक्षणे द्वितीया। क्रियानिर्णयार्थं लिखितं साक्षिणश्च विचारयेदिति। क्रियां समादायेति पाठे ऋजुरेवान्वयः। लेख्याचारमाह स एव—

"वर्णवाक्यक्रियायुक्तमसन्दिग्धं स्फुटाक्षरम्।
अहीनक्रमाचिह्नं च लेख्यं तत्सिद्धिमाप्नुयात्" ॥

## दुष्टलेख्यम्.

क्रियानाम—साध्यम्।

दुष्टलेख्यस्वरूपमाह हारीतः—

"मुमूर्षुबालभीतार्तस्त्रीमत्तव्यसनातुरैः।
निशोपाधिबलात्कारैः कृतं लेख्यं न सिध्यति" ॥

बालस्त्रीशब्दावस्वतन्त्रोपलक्षकौ। यथाऽऽह कात्यायनः—

"मत्तेनोपधिभीतेन तथोन्मत्तेन पीडितैः।
स्त्रीभिर्बालास्वतन्त्रैश्च कृतं लेख्यं न सिध्यति"॥

---

[1] समादाय.

इति । अत्र बृहस्पतिः—

“ लेख्यदोषास्तु ये केचित्साक्षिणश्चैव ये स्मृताः ।
वादकाले तु वक्तव्याः पश्चादुक्तान्न दूषयेत् ” ॥

### लेख्यसन्देहे निर्णयनिमित्तानि.

लेख्यसन्देहे निर्णयनिमित्तान्याह याज्ञवल्क्यः—

“ सन्दिग्धलेख्यशुद्धिस्स्यात्स्वहस्तलिखितादिभिः ।
युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः ” ॥

शुद्धमशुद्धं वेति सन्दिग्धस्य लेख्यस्य शुद्धिस्स्वहस्तलिखितादिभिः स्यात् । स्वहस्तेन यल्लिखितं लेख्यान्तरं तेन शुद्धिः । यदि सदृशाक्षराणि भवन्ति। तदा शुद्धिस्स्यादित्यर्थः। आदिशब्दात्साक्षिलेखकस्वहस्तलिखितान्तरसंवादाच्छुद्धिरिति युक्त्या प्राप्तिः। देशकालपुरुषाणां द्रव्येण सह संबन्धः प्राप्तिः। अस्मिन् काले अस्य पुरुषस्य इदं द्रव्यं घटत इति युक्तिप्राप्तिः। क्रिया—तत्साक्ष्युपन्यासः । चिह्नमसाधारणं श्रीकारादि तत्संबन्धः। अर्थिप्रत्यर्थिनोः पूर्वमपि परस्परविश्वासेन दानग्रहणसंबन्ध आगमः । अस्य एतावतोऽर्थस्य संभावितप्राप्त्युपाया एव हेतवः । एभिर्हेतुभिस्सन्दिग्धलेख्यशुद्धिस्स्यादित्यर्थः ।

### साक्षिभिर्लेख्यनिर्णयः.

यदा तु लेख्यसन्देहे निर्णयो न जायते तदा साक्षिभिः निर्णयः कार्यः । यथाऽऽह कात्यायनः—

“ दूषिते पत्रके वादी तदारूढांस्तु निर्दिशेत् ”।

इति स्मरणात् । यत्तु हारीतवचनं—

"न मयैतत्कृतं पत्रं कूटमेतेन कारितम् ।
अधरीकृत्य तत्पत्रमर्थे दिव्येन निर्णयः" ॥

इति, तत्तु साक्ष्यभावविषयम् ।

### शासन शुद्धिः.

शासनमधिकृत्याह प्रजापतिः—

"कार्यो यत्नेन महता निर्णयो राजशासने ।
राजस्वहस्ततन्मुद्रालेखकाक्षरदर्शनात् ॥

कात्यायनः—

मुद्राशुद्धं क्रियाशुद्धं भुक्तिशुद्धं [1]सचिह्नितम् ।
राजस्वहस्तसंशुद्धं शुद्धिमायाति शासनम्" ॥

इति । क्रियाशुद्धमपशब्दानन्वयादि रहितम् ।

### विंशतिवर्षोपभोगानन्तरं लेख्यशुद्धिः.

जानपदलेख्यमपि क्वचिद्भुक्त्या शुद्धिमायातीत्याह स एव—

"शक्तस्य सन्निधावर्थो [2]यस्य लेख्येन भुज्यते ।
वर्षाणि विंशतिं यावत्तत्पत्रं दोषवर्जितम्" ॥

स्मृत्यन्तरे तु—

"अथ विंशतिवर्षाणि आधेः भुक्तेस्स निर्णयः ।
येन लेख्येन तात्सिद्धं लेख्यं दोषविवर्जितम् ॥
सीमाविवादे निर्णीते सीमापत्रं विधीयते ।
तस्य दोषाः प्रवक्तव्याः यावद्वर्षाणि विंशतिः" ॥

---

[1] स चिह्नकम्. स्मृ-चं-पा. [2] येन. स्मृ-चं-पा.

पत्रसाक्षिमृतावपि लेख्यसिद्धिविवेकः.

तदपवादमाह स एव—

"यदि लब्धं भवेत्किञ्चित्प्रज्ञप्तिर्वा कृता भवेत् ।
प्रमाणमेव लिखितं मृता यद्यपि साक्षिणः" ॥

प्रज्ञप्तिमेव प्रपञ्चयति—

"दर्शितं प्रतिकालं [1]यद्राहितं स्मारितं तथा ।
लेख्यं सिध्यति सर्वत्र मृतेष्वपि च साक्षिषु" ॥

बृहस्पतिस्तु विशेषमाह—

अन्यनामाङ्कलेखने दिव्येन निर्णयः.

"स्त्रीबालार्तान् लिप्यविज्ञान् वञ्चयन्ति स्वबान्धवाः ।
लेख्यं कृत्वाऽन्यनामाङ्कं ज्ञेयं युक्त्यागमैस्तु तत् ॥
ज्ञात्वा काले देशकार्ये कुशलाः कूटकारकाः ।
कुर्वन्ति सदृशं लेख्यं तद्यत्नेन विचारयेत्" ॥

इति । प्रजापतिस्तु—

"यन्नामगोत्रैस्तत्तुल्यरूपं लेख्यं क्वचिद्भवेत् ।
अगृहीते धने तत्र कार्यो दिव्येन निर्णयः" ॥

तत्तुल्यरूपं–अविप्रतिपन्नलेख्यान्तरतुल्यरूपम् । अगृहीते (धने) प्रतिवादिनि दृढ इत्यर्थः ।

लेख्यविरोधे निर्णयः.

लेख्यानां मिथो विरोधे बाधकनिर्णयार्थमाह व्यासः—

"स्वहस्तकाज्जानपदं तस्मात्तु नृपशासनम् ।
प्रमाणतरमिष्टं हि व्यवहारार्थमागतम्" ॥

---

1 यच्छ्रावितम्.

लेख्यसाक्ष्योः मध्ये लेख्यस्य प्राबल्यम्.

लेख्यप्राबल्यमाह संवर्तः—

"लेख्यस्योपरि यत्साक्ष्यं कूटं तदभिधीयते ।
अधर्मस्य हि तद्वारं ततो राजा निवर्तयेत्" ॥

बृहस्पतिरपि—

"वाचकैर्यत्र सामर्थ्यमक्षराणां विहन्यते ।
क्रियाणां सर्वनाशस्स्यादनवस्था च जायते" ॥

क्रियाणां लेख्यक्रियाणाम् । कात्यायनोऽपि—

"न दिव्यैस्साक्षिभिर्वाऽपि हीयते लिखितं क्वचित् ।
लेख्यधर्मस्सदा[1] श्रेष्ठो ह्यतो नान्येन हीयते" ॥

लेख्येन तु हीयत इत्याह स एव—

"तद्युक्तः प्रतिलेख्येन तद्विशिष्टेन वा सदा ।
लेख्यक्रिया निरस्येत निरस्यान्येन न क्वचित्" ॥

अन्येन साक्ष्यादिनेत्यर्थः । अत्र विशेषमाह व्यासः—

"अदृष्टं श्रावितं लेख्यं प्रमीतधनिकार्णिकम् ।
अबन्धलग्नकं चैव बहुकालं न सिध्यति ॥"

अत्र न सिध्यतीत्येतत् पुरस्तात् "पश्यतोऽब्रुवतो भूमेः" इत्यादिवचनव्याख्यानावसरे निवेदयिष्यामः ।

भुक्तेरपि निर्णायकत्वम्.

भुक्तेरपि निर्णायकत्वमाह नारदः—

"कृत्वोत्तरं क्रियावादे लेख्यं साधनमुद्दिशेत् ।
सामन्तलक्षणोपेता भुक्तिर्वा चिरकालिकी ॥"

---

[1] श्रेष्ठस्तेन.

अत्र साधनशब्देन साक्षिण उच्यन्ते, वा शब्दः परस्परमभिसंबध्यते । लिखितं वा साक्षिणो वा भुक्तं वा संप्रदिशेदित्यर्थः । कैश्चिद्विशेषणैर्युक्ताया भुक्तेः प्रामाण्यं दर्शयति कात्यायनः—

प्रमाणेषु भुक्तेः प्राबल्यम्.

"लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणत्रयमिष्यते ।
प्रमाणेषु [1] स्थिरा भुक्तिः सल्लेख्या संमता नृणाम् ॥

इति । सल्लेख्यमनवद्यलेख्यम् । ननु लिखितस्य साक्षिणां च शब्दाभिव्यक्तिद्वारेण शब्दान्तर्भावाद्युक्तं प्रामाण्यम् । भुक्तेस्तु कथं प्रामाण्यमिति चेदुच्यते । भुक्तिरपि कैश्चिद्विशेषणैर्युक्ता स्वत्वहेतुभूतक्रयदानादिकमव्यभिचारादनुमापयति । अन्यथाऽनुपपद्यमाना कल्पयतीत्यनुमानेऽर्थापत्तौ वाऽन्तर्भवतीति प्रमाणमेव ।

भुक्तेरेव प्राबल्यस्थलानि.

क्वचिद्भुक्तेरेव श्रैष्ठ्यमितराभ्यामित्याह स एव—

"रथ्यादिनगरद्वारजलवाहादिसंशये ।
भुक्तिरेव तु गुर्वी स्यात्प्रमाणेष्विति निश्चयः ॥"

इति । स्थावरेषु विशेषमाह नारदः—

"विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि च साक्षिषु ।
विशेषतस्स्थावराणां यन्न भुक्तं न तत् स्थिरम् ॥"

---

[1] स्मता भुक्तेस्सल्लेख्यसमता नृणाम् स्मचंपा.

कस्याश्चिद्भुक्तेः कार्यान्तरमाह याज्ञवल्क्यः —

“ पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ।
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ ”

परेण असंबन्धेन भुज्यमानां भुवं धनं वा पश्यतः अब्रुवतः मदीयेयं भूः त्वया न भोक्तव्येत्यप्रतिषेधतस्तस्या भूमेः विंशतिवार्षिकी विंशतिवर्षोपभोगनिमित्ता हानिर्भवति धनस्य तु हस्त्यश्वादेर्हानिः दशवार्षिकी । नन्वेतदनुपपन्नम् न ह्यप्रतिषेधात्स्वत्वमपि गच्छति । अप्रतिषेधस्य दानविक्रयादिवत् स्वत्वनिवृत्तिहेतुत्वस्य लोकशास्त्रयोरप्रसिद्धत्वात् । नापि विंशतिवर्षभोगात्स्वत्वम् । उपभोगस्य स्वत्वे अप्रमाणत्वात् । प्रमाणस्य प्रमेयं प्रत्यनुत्पादकत्वात् । रिक्थक्रयादिषु स्वत्वकारकहेतुष्वपाठाच्च । तथाहि—स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु । ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम् । क्षत्रियस्य विजितम्, निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोरित्यष्टावेव स्वत्वकारकहेतून् गौतमः पठति । न भोगम् । नचेदमेव वचनं विंशतिवर्षोपभोगस्य स्वत्वापत्तिहेतुत्वं प्रतिपादयतीति युक्तम् । स्वत्वस्य स्वत्वहेतूनां च लोकसिद्धत्वेन शास्त्रैकसमधिगम्यत्वाभावस्य धनार्जननयव्युत्पाद्यत्वात् । एतच्च विभागप्रकरणे निपुणतरमुपपादयिष्यते । गौतमवचनं तु नियमार्थम् । अपि च—

“ अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि ।
चोरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥ ”

इत्येतदप्यनागमोपभोगस्य स्वत्वहेतुत्वे विरुध्यते । न च “ अनागमं तु यो भुङ्क्ते ” इत्येतत्परोक्षभोगविषयम् । “ पश्यतोऽब्रुवत ”

इत्येतत् प्रसक्षविषयं युक्तं वक्तुम्। "अनागमं तु यो भुङ्क्ते" इति अविशेषाभिधानात्।

"नोपभोगे बलं कार्यमाहर्त्रा तत्सुतेन वा।
पशुस्त्रीपुरुषादीनामिति धर्मो व्यवस्थितः॥"

इति कात्यायनवचनाच्च। समक्षभोगे च हानिकारणाभावेन हानेरसंभवात्। न चैतन्मन्तव्यं; आधिप्रतिग्रहक्रयेषु पूर्वस्याः क्रियायाः प्राबल्यापवादेन भूमिविषये विंशतिवर्षोपभोगयुक्ताया धनविषये दशवर्षोपभोगयुक्तायाः उत्तरस्याः क्रियायाः प्राबल्यमनेनोच्यत इति। यतस्तेषु उत्तरैव क्रिया तत्वतो नोपपद्यते। स्वयमेतच्चाधेयं देयं विक्रेयं च भवति। न चापि तस्य विक्रीतस्य दत्तस्य वा स्वत्वमस्ति अस्वत्वस्य दाने प्रतिग्रहे च दण्डः स्मर्यते—

"अदेयं यश्च गृह्णाति यश्चादेयं प्रयच्छति।
उभौ तौ चोरवच्छास्यौ दाप्यौ चोत्तमसाहसम्॥"

इति। अथ आध्यादीनां त्रयाणामपवादत्वे अस्य वचनस्य—

"आधिसीमोपनिक्षेपजलबालधनैर्विना।
तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि॥"

इत्याध्यादिषु पश्यतोऽब्रुवतोऽपि भूमेः विंशतेर्धनस्य दशभ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वमप्युपचयहानिर्भवतीति उत्तरे वचने अपवादो नोपपद्यते। तस्माद्भूम्यादीनां हानिरनुपन्नैव। नापि व्यवहारहानिः। यतः—

"उपेक्षां कुर्वतस्तस्य तूष्णीं भूतस्य तिष्ठतः ।
काले ऽतिपन्ने पूर्वोक्तव्यवहारो न सिध्यति" ॥

इति । नारदेन उपेक्षालिङ्गाभावकृतव्यवहारहानिरुक्ता । न स्वभावकृता । तथा मनुनाऽपि—

"अजडश्चेदपौगण्डो विषये चास्य भुज्यते ।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्धनमर्हति" ॥

इति व्यवहारतो भङ्गो दर्शितो न वस्तुतः व्यवहारभङ्गः । एवं भोक्ता किल वदति—"अजडोऽयमपौगण्डो बालः अस्य सन्निधौ विंशतिवर्षाणि अनाक्रोशं मया भुक्तम् । तत्र बहवस्साक्षिणस्सन्ति । यद्यस्य स्वमन्यायेन मया भुज्येत तदायं किमित्येतावन्तं कालमुदास्त" इति । तत्र चायं निरुत्तरो भवति । एवं निरुत्तरस्यापि वास्तवो व्यवहारो भवत्येव ।

"छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान् नयेन्नृपः" ।

इति नियमात् । अथ मतं; यद्यपि न वस्तुहानिः, नापि व्यवहारहानिः, तथापि पश्यतः अब्रुवतः अप्रतिषेधतश्च व्यवहार हानिशङ्का भवतीति तन्निवृत्तये तूष्णीं न स्थातव्यमिति उपदिश्यत इति । तच्च न, स्मार्तकालसहिताया भुक्तेः व्यवहारहानिशङ्काकारणत्वाभावात् । तूष्णीं न स्थातव्यमित्येतावन्मात्राभिधित्सायां विंशतिग्रहणमविवक्षितं स्यात् । अथोच्येत विंशतिग्रहणं ऊर्ध्वं पत्रदोषोद्भावननिराकरणार्थम् यथाऽऽह कात्यायनः—

"शक्तस्य सन्निधावर्थो यस्य लेख्येन भुज्यते ।
विंशद्वर्षाण्यतिक्रान्तं तत्पत्रं दोषवर्जितम् ॥

इति । तदपि न; अध्यादिष्वपि विंशतेरूर्ध्वं पत्रदोषोद्भावनस्य तन्निरासकरणस्य च समत्वेनापवादासंभवात् । यथाऽऽह कात्यायनः—

"अथ विंशतिवर्षाणि आधिभुक्तिस्सुनिश्चिता ।
तेन लेख्येन तत्सिद्धिः लेख्यं तद्दोषवर्जितम् ।
सीमाविवादे निर्णीते सीमापत्रं विधीयते ।
तस्य दोषाः प्रवक्तव्याः यावद्वर्षाणि विंशतिः" ॥

इति । अतश्च धनस्य दशवार्षिकीत्येतदपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । एतेन चन्द्रिकाकारोक्तं "हानिश्चात्र लिखितबलेन आत्मीयत्वप्रसाधनमात्रस्याभिप्रेता । न पुनर्भूम्यादौ तत्फले वा स्वत्वस्य वेति । नोपेक्षामात्रेण स्वत्वमपैतीत्युक्तत्वादित्यपास्तम् । विंशतिवार्षिकीत्यत्र वचने विंशतिग्रहणेन विंशतेरूर्ध्वं पत्रदोषोद्भावननिराकरणार्थत्वस्य प्रत्युक्तत्वात् ।

### भोगबलाबलव्यवस्था.

तदयमत्र निष्कर्षः—भूमेर्धनस्य च न स्वरूपहानिः । नापि व्यवहारहानिः । किन्तु फलहानिरिह विवक्षिता । निराक्रोशविंशतिवर्षोपभोगादूर्ध्वं यद्यपि स्वामी व्यवहारतः क्षेत्रं लभते । तथाऽपि फलानुसरणं न लभते । अप्रतिषेधलक्षणात्स्वापराधादस्माच्च वचनादेव ।

परोक्षभोगे तु विंशतेरूर्ध्वमपि फलानुसरणं लभत एव । पश्यत इति वचनात् । प्रत्यक्षभोगे च साक्रोशे अब्रुवत इति वचनात् । विंशतेः प्राक् प्रत्यक्षे निराक्रोशे च लभते । विंशतिग्रहणात् । अतश्च स्वाम्युपेक्षालक्षणस्वापराधात् । अस्माच्च वचनाद्विंशतेरूर्ध्वं नष्टं फलं न लभते । अनागमभोगे तु—

भोक्ता—

" अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि ।
चोरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥ "

इत्यनेन प्रोक्तं दण्डं नार्हति, हानिर्विंशतिवार्षिकीत्यनेन तदुक्तदण्डस्यापोद्यत्वादिति स्थितमिति विज्ञानेश्वरः । [1] एतेन दशवार्षिकीत्येतदपि व्याख्यातम् । अत एव व्यासः—

" वर्षाणि विंशतिर्यस्य भूमिर्भुक्ता परैरिह ।
सति राज्ञि समर्थस्य तस्य सेह न सिध्यति " ॥

अत्रापवादमाह मनुः—

" संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते " ॥

अत एव मनुः—

" आधिश्च सीमाऽऽत्मधनं निक्षेपोपनिधिस्त्रियः ।
राजस्वं श्रोत्रियद्रव्यं नोपभोगेन नश्यति " ॥

आधेः भुक्तौ आधित्वौपाधिक एव भोग इत्युपेक्षायामपि न पुरुषापराधः । सीम्नः चिरकृततुषाङ्गारादिगोप्यचिह्नैस्सुसाधनत्वादुपेक्षा संभवति । नात्मधनस्य बन्धुभिरुपयोगे संबन्धित्वेनोपेक्षा संभवः । केचिन्नाटधनं–शैलूषधनमित्याहुः । तेषामभिनयाद्यभ्यासादिनिविष्टचित्तत्वाद्युक्तमुपेक्षणम् । निक्षेपोपनिध्योर्लक्षणमष्टादशपदनिरूपणापसरे निरूपितम् । तयोरुपनिधाननिक्षेपणकाले भुक्तेः प्रतिषिद्धत्वात्प्रतिषेधातिक्रमोपभोगे सोदयलाभादुपेक्षोपपत्तिः । स्त्रीणामप्रागल्भ्यादज्ञानाच्च

[1] एतेन धनस्य दशवा.

श्रोत्रियस्याध्ययनाध्यापनतदनुष्ठानव्याकुलत्वात् राज्ञो बहुकार्यव्याकुलत्वादुपेक्षा युक्तैवेत्येवमादिषु सर्वत्रोपेक्षाकारणसंभवात् प्रत्यक्षभोगे निराक्रोशे च न कदाचिदपि फलहानिः। कस्याश्चिद्युक्तेः प्रामाण्यमाह पितामहः—

"सागमा दीर्घकाला च विच्छेदोपरवोज्झिता।
प्रत्यर्थिसन्निधाना च भुक्तिः पञ्चविधा स्मृता"॥

उपरवः—आक्रोशः। पञ्चविधेति–पञ्चाङ्गेति यावत्। अत एव व्यासः—

"सागमो दीर्घकालश्च विच्छेदोपरवोज्झितः।
प्रत्यर्थिसन्निधानश्च पञ्चाङ्गो भोग इष्यते"॥

इति वदन् एकाङ्गवैकल्येऽप्यप्रामाण्यमेव भोगस्येति दर्शयति, तथा च नारदः—

"[1]संभोगं केवलं यस्तु कीर्तयेन्नागमं क्वचित्।
भोगच्छलापदेशेन विज्ञेयस्स तु तस्करः"॥

तेन सभ्यसन्निधावागमादिकमप्यङ्गं कीर्तनीयमित्यभिप्रायः। अत एवाऽऽह कात्यायनः—

"प्रणष्टाऽऽगमलेख्येन भोगाऽऽरूढेन वादिना।
कालः प्रमाणं दानं च कीर्तनीयानि संसदि"॥

इति। दानग्रहणमागमोपलक्षणार्थम्। चशब्दः सातत्यादिविशेषणग्रहणार्थः। तदयमत्र निष्कर्षः—भोगैकप्रमाणवादिना भोगाऽऽख्यप्रमाणं तद्विशेषणानि आगमदीर्घकालादीनि च कीर्तनीयानि। कीर्तितानि च तद्विप्रतिपत्तौ साधनीयानि। कीर्तनमात्रेण निश्चयाभावात्॥

---

[1] भोगं केवलतो यस्तु.

### आगमभुक्त्योः परस्परसापेक्षत्वम्.

एवं च दीर्घकालभुक्तिरागमानुगृहीता प्रमाणम् । आगमस्तु दीर्घकालभुक्त्यनुगृहीत इति । अत एव पितामहः—

" नागमेन विना भुक्तिः नागमो भुक्तिवर्जितः ।
तयोरन्योन्यसंबन्धात्प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् " ॥

इति । अनेनैवाभिप्रायेण बृहस्पतिरपि—

" भुक्त्या केवलया नैव भूमिस्सिद्धिमवाऽऽप्नुयात् ।
आगमेनापि शुद्धेन द्वाभ्यां सिध्यति नान्यथा " ॥

केवलया–आगमरहितयेत्यर्थः । अत एव हारीतः—

" न मूलेन विना शाखा अन्तरिक्षे प्ररोहति ।
आगमस्तु भवेन्मूलं भुक्तिश्शाखा प्रकीर्तिता " ॥

### स्तोकभुक्त्यभावे आगमदौर्बल्यं.

आगमस्य भोगनिरपेक्षत्वेन प्रामाण्यं नास्तीत्याह याज्ञवल्क्यः—

"आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिस्स्तोकाऽपि यत्र नो" ॥

इति । यस्मिन्नागमे स्वल्पाऽपि भुक्तिर्नास्ति तस्मिन्नागमे बलसंपूर्णता नैवास्ति । अयमभिसन्धिः–स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादनं च परो यदि दानं स्वीकरोति तदा संपद्यते । तथा स्वीकारश्च त्रिविधः मानसो वाचिकः कायिकश्चेति । तत्र मानसो ममेदमिति सङ्कल्परूपः । वाचिकस्तु ममेदमिति अभिव्याहारोल्लेखी सविकल्पकप्रत्ययः । कायिकःपुनरुपादानाभिमर्शनादिरूपोऽनेकविधः । तत्र च निमयस्स्मर्यते—

"दद्यात्कृष्णाजिनं पुच्छे गां पुच्छे करिणं करे ।
केसरेषु तथैवाश्वं दासीं शिरसि दापयेत्" ॥

इति । तत्र त्रिविधोऽपि स्वीकारः उदकदानानन्तरमेव । क्षेत्रादौ पुनः फलोपभोगव्यतिरेकेण कायिकस्वीकारासंभवात् स्वल्पेनाप्युपभोगेन भवितव्यम् । अन्यथा दानविक्रयोदः संपूर्णता न भवतीति फलोपभोगलक्षणकायिकस्वीकारविकलतया आगमो दुर्बलो भवतीति । अत्राऽऽगमस्य दौर्बल्यमात्रमित्याह नारदः—

"आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तु साऽऽगमा" ॥

इति । अयमर्थः—आद्ये पुरुषे साक्षिलेख्याभ्यां भावित आगमो भोगादप्यधिको बलवान् । पूर्वक्रमाऽऽगतस्तु भोगो विनाऽपि भावितादागमाच्चतुर्थपुरुषे लिखितेन भावितादागमाद्बलवान् । मध्ये तु भोगरहितादागमात् स्तोकभोगसहितोऽप्यागमो बलवानिति । अत्रेदमुपतिष्ठते याज्ञवल्क्योक्तं—

"आगमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात्" ।

इति । ननु विना पूर्वक्रमागतादित्यनेन आगमनिरपेक्षत्वेन प्रामाण्यमुक्तं भोगस्य, तच्च आगमोऽभ्यधिको भोगादित्यनेन विरुध्यते इति चेत्, मैवं, स्मार्तास्मार्तकालविषयत्वाद्वचनस्य, आगमोऽभ्यधिको भोगादिति स्मार्तकालविषयम् । विना पूर्वक्रमागतादित्येतदस्मार्तकालविषयं वेदितव्यम्। अतश्च स्मरणयोग्यकाले योग्यानुपलब्ध्या आगमाभावनिश्चयसंभवात् आगमज्ञानसापेक्षस्यैव भोगस्य प्राणाण्यम् । अस्मार्तकाले तु योग्यानु-

पलब्ध्यभावेन आगमाभावनिश्चयासंभवात् आगमज्ञाननिरपेक्ष एव सातत्यविशेषणविशिष्टो भोगः प्रमाणम्। अत एवोक्तं कात्यायनेन—

"स्मार्तकाले क्रिया भूमेस्सागमा भुक्तिरिष्यते।
अस्मार्तेऽनुगमाभावात्क्रमात्त्रिपुरुषाऽऽगता" ॥

इति। अनुगमाभावः—योग्यानुपलब्ध्यभावेनागमाभावनिश्चयासंभवः। स्वत्वहेतुप्रतिग्रहक्रयादिरागमः। ननु यच्च—

"अन्यायेनापि यद्भुक्तं पित्रा [1]पूर्वतमैस्त्रिभिः।
न तच्छक्यमपाकर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागमम्" ॥

इति। पित्रेति सहार्थे तृतीया। क्रमात्त्रिपुरुषागममिति तु स्मार्तकालोपलक्षणम्। त्रिपुरुषविवक्षायामेकवर्षाभ्यन्तरेऽपि पुरुषत्रयातिक्रमसंभवाद्द्वितीये वर्षे निरागमस्यापि भोगस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्।

"स्मार्तकाले क्रियाभूमेस्सागमा भुक्तिरिष्यते"।

इति। स्मृतिविरोधश्च स्यात्। किन्तु अन्यायेनापि भुक्तमपहर्तुं न शक्यम्। किं पुनरन्यायानिश्चय इत्येवं परम्। यत्तूक्तं—

"यद्विनाऽऽगममसन्तं भुक्तं पूर्वैस्त्रिभिर्भवेत्।
न तच्छक्यमपाकर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषाऽऽगतम्" ॥

इति, तत्रात्यन्तमागमं सातत्यादिगुणविशेषणविशिष्टमुपलभ्यमानं विनेति व्याख्येयम्। न पुनरागमस्वरूपं विनेति। आगमस्वरूपाभावे भोगशतेनापि न स्वत्वं भवतीत्युक्तं विज्ञानयोगिना—

[1] पूर्वतरै (नै)

## स्मार्तकालप्रमाणम्.

स्मार्तकालस्वरूपमाह पितामहः—

"त्रिंशत्समा या तु भुक्ता भूमिरव्याहता परैः।
भुक्तिस्सा पौरुषी ज्ञेया द्विगुणा तु द्विपौरुषी॥
त्रिपौरुषी तु त्रिगुणा तत ऊर्ध्वं चिरन्तनी"।

अत्र नारदः—

"अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि।
चोरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः"॥

इति। अनागममिति सिद्धवन्निर्देशादन्वाहितादीनां भोगे दण्ड इति ज्ञापितम्। अन्यथा पूर्वोक्तवचनविरोधात्। निश्चितागमाश्च तेनैव दर्शिताः।

"अन्वाहितं हृतं न्यस्तं बलावष्टब्धयाचितम्।
अप्रत्यक्षं च यद्भुक्तं षडागमविवर्जिताः"॥

अन्वाहितं—अन्यस्मै दातुमर्पितम्। बलावष्टब्धं—राजप्रसादादिदिबलेन भुक्तम्। तथा च संवर्तः—

"या राज्ञा क्रोधलोभाभ्यां छलान्नयायेन वा कृता।
प्रदत्ता चापि तुष्टेन न सा सिद्धिमवाऽऽप्नुयात्"॥

या खल्वन्यस्य भूमिः क्रोधादिना राज्ञा परभोग्यतया कृता तुष्ट्या च अन्यस्मै दत्ता सा चिरन्तनभोगेनापि न भोक्तुस्सिद्ध्यतीत्यर्थः। [1] पूर्वस्यापवादमाह याज्ञवल्क्यः—

"योऽभियुक्तः परेतस्स्यात्तस्य रिक्थी तमुद्धरेत्।
न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विना कृता"॥

---

1 विनापूर्वक्रमागतादित्यस्याप

अभियुक्तः—अकृतव्यवहारानिर्णय एव। परेतः—परलोकं गतः। तदा तस्य रिक्थी—पुत्रादिः। तमागममुद्धरेत्। पूर्वाभियोगेन भोगस्य सापवादत्वात्। अत एवोक्तं नारदेन—

"तथारूढविवादस्य प्रेतस्य व्यवहारिणः।
पुत्रेण सोऽर्थस्संशोध्यो न तं भोगान्निवर्तयेत्" ॥

इति। एवं च विज्ञानयोगिना स्मार्तकालः शतवर्षपर्यन्तः शतायुः पुरुष इति श्रुतेः इत्युक्तम्। चन्द्रिकाकारेण तु पञ्चाधिक शतवर्षपर्यन्तं स्मार्तकाल इत्युक्तम्। तत्तु प्रायिकाभिप्रायिकम्। नवतिवर्षपर्यन्तायास्त्रिपुरुष्याः प्रतिपादितत्वात्।

अत्रमतान्तरम्.

अत्र वरदराजः—विंशतावागमप्राबल्यम्। भोगस्य तदानुगुण्यम्। द्वितीये भुक्तेः प्राबल्यम्। चतुर्थपुरुषे पञ्चाङ्गभोग एव प्रमाणम्। नागमापेक्षेति सिद्धमिति।

अत्र बृहस्पतिस्तु विशेषमाह—

"त्रिवर्षं भुज्यते येन समग्रा भूरवारिता।
तस्य सा नापहर्तव्या क्षमालिङ्गं न चेद्वदेत् ॥
चतुष्पाद्धनधान्यादि वर्षाद्धानिमवाप्नुयात्" ॥

एतद्वचनं भुक्तेरादरार्थं यथाश्रुतं व्याख्येयं बहुप्रतिपक्षत्वादिति वरदराजः।

इति लिखितभुक्तिनिरूणम्

## अथ साक्षिप्रकरणम्.

(सक्षिस्वरूपम्.)

साक्षिस्वरूपमाह नारदः—

"ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याश्शूद्रा ये चाप्यनिन्दिताः।
प्रतिवर्णं भवेयुस्ते सर्वे सर्वेषु वा पुनः" ॥

इति। अत्र सति संभवे व्यवहर्तुस्सवर्णा एव साक्षिण इत्यर्थः। अत एव नारदः—

"श्रेणिषु श्रेणिपुरूषाः तेषु वर्गेषु वर्गिणः।
बहिर्वासिषु बाह्यास्स्युः स्त्रियः स्त्रीषु च साक्षिणः"

इति। एतदप्युपलक्षणम्। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

"तपस्विनो दानशीलाः कुलीनास्सत्यवादिनः।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः॥
त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः।
यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः" ॥

इति। त्रय अवरा न्यूना एषां ते त्र्यवराः। त्रिभ्योऽर्वाङ्न भवन्ति। जातयो—मूर्धावसिक्तादयः। मूर्धावसिक्तानां मूर्धावसिक्तास्साक्षिणः। अत्र वर्णा—ब्राह्मणादयः। तत्र ब्राह्मणानां ब्रह्मणा एव साक्षिणो भवन्ति। एवं क्षत्रियेष्वपि द्रष्टव्यम्। अत्रापवादमाह नारदः—

"श्रेण्यादिषु तु वर्गेषु कश्चिद्द्वेष्यतामियात्।
तस्य तेभ्यो न साक्ष्यं स्यात् द्वेष्टारस्सर्वं एव ते" ॥

इति। श्रेण्यादिग्रहणं वर्णादिप्रदर्शनार्थम्। द्वेष्यादिग्रहणं प्रमादालस्यविप्रलिप्सादीनामुपलक्षणार्थम् ॥

साक्षिपरीक्षा.

यथाऽऽह पितामहः—

"नियमेनैव संशोध्याः सर्वे एव हि साक्षिणः।
विप्रलिप्सादयो दोषा विज्ञेयाश्रमचक्षुषा ॥
प्रतिवाक्यमपेक्ष्यं स्यात् प्रामाण्यं [1]धर्मनिश्चितम्।"

इति। आदिशब्देन प्रमादालस्यद्वेषादयो गृह्यन्ते। प्रतिवाक्यं प्रामाण्यमपेक्ष्यम्। न तु प्रतिपुरुषम्, अवस्थाभेदेन विप्रलिप्सादीनां संभावयितुं शक्यत्वात् ॥

साक्षियोग्याः.

इति। अत एव मनुः—

"आप्तास्सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धान् विपरीतांस्तु वर्जयेत्" ॥

इति। यत्तु सङ्ग्रहकारः—

"कर्तव्यास्सर्वकार्येषु त्रिभ्यः आरभ्य साक्षिणः।
द्व्येकयोः प्रतिषेधस्यादेकोऽप्युभयसंमतः ॥

इति। अपिशब्दादुभयसंमतत्वे द्वयोरपि ग्रहणम्।

तथा च नारदः—

"उत्तमर्णाधमर्णौ द्वौ साक्षिणौ लेखकस्तथा।
समवायेन चैतेषां लेख्यं कुर्वीत नान्यथा" ॥

---

[1] धर्ममिच्छता—D.

इति । अत्र साक्षिणाविति द्वित्वोक्तिः । यत्तूक्तं बृहस्पतिना—

“नव सप्त पञ्च वा स्युश्चत्वारस्त्रय एव वा ।
उभौ वा श्रोत्रियौ शान्तौ नैकं पृच्छेत् कदाचन” ॥

इति । तच्च उभयसंमतव्यतिरिक्तविषयम् । नव पञ्च सप्त त्रयाणां विषमसङ्ख्यात्वेऽपि सङ्ख्यासाम्यप्रतिपादनं प्राबल्यार्थमित्युक्तत्वाद्दोषः । नवादिसङ्ख्यानामपवादमाह याज्ञवल्क्यः—

एकस्यापि साक्षित्वम्.

“उभयानुमतस्साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् ॥”

इति । ज्ञानपूर्वकं नित्यनैमित्तिकधर्मानुष्ठाता धर्मवित् । अत एव शङ्खलिखितौ—

“मौलाः प्रतिष्ठितास्साक्ष्यर्थं विदितवन्तः कुलीना ऋजवः जन्मतः कर्मतोऽर्थतश्शुद्धाः पुत्रिणस्सत्यवादिनः श्रौतस्मार्तक्रियायुक्ताः विगतद्वेषमत्सराः अप्रवासिनो युवानो लोभमोहविवर्जिताः त्र्यवराः नवसंख्याका न जातु कूटतां प्रतिपद्यन्त” इति ॥ अत एव नारदः—

“ज्ञात्वा कार्यं देशकालौ कुशलाः कूटकारकाः ।
कुर्वन्ति सदृशं लेख्यं नैते स्युः साक्षिणो यथा” ॥

विपरीतांस्तु वर्जयेदित्युक्तम् ।

वर्जनीयसाक्षिणः.

तानाह मनुः—

“नार्थसंबन्धिनो नाप्ताः न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ताः न दूषिताः॥

न साक्षी नृपतिः कार्यः न [1]कामुककुशीलवाः ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विवर्जितः ॥
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ।
नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ॥
नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ।
न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥"

इति । अर्थसंबन्धिनः—प्रतिपाद्यार्थसंबन्धिनः—प्रतिभूप्रभृतय इत्यर्थः । यद्वा विप्रतिपद्यमानार्थसंबन्धिनस्सहायाः । दूषिताः महापातकैरभियुक्ताः । श्रोत्रियो वेदोक्तकर्मानुष्ठानतत्परः न तु वेदपाठकः । तस्य साक्षित्वेनाभिधानात् । लिङ्गस्थो ब्रह्मचारी । सङ्गेभ्यो विवर्जितः वानप्रस्थः । एक इति उभयाननुमतः । एकस्योभयानुमतस्य एकोऽप्युभयसंमत इति साक्षित्वाभिधानात् । अन्त्यः चण्डालादिः । एतच्चण्डालादिव्यतिरिक्तव्यवहारविषयम् । तत्कुलव्यवहारेषु तदीयानामेव साक्षित्वनियमात् । 'तत्कुलीनास्तत्कुलव्यवहारे साक्षिणः, इति स्मृतेः । [2]वक्तव्यः बोध्यः । दस्युः पश्यतो हरः । मत्तादीनां लक्षणं पूर्वमेवोक्तम् । तस्कररसुरुङ्गादेर्निर्माता । असाक्षिणां पाञ्चविध्यमाह नारदः—

असाक्षिणः.

"असाक्ष्यपि विनिर्दिष्टः शास्त्रे पञ्चविधो बुधैः ।
वचनाद्दोषतो भेदात् स्वयमुक्तिर्मृतान्तरः ॥"

अयमर्थः—असाक्षिहेतूनां पञ्चविधत्वात् तन्मूलेन असाक्ष्यपि पञ्चविध इति । वचनादसाक्षिणो याज्ञवल्क्य आह—

---

[1] कारुत. [2] वक्तव्यः—कुष्ठादिना कुत्सितदेहः—(इति स्मृति चं)

" श्रोत्रियास्तापसा वृद्धाः ये तु प्रव्रजितादयः ।
असाक्षिणस्ते वचनान्नात्र हेतुरुदाहृतः " ॥

इति । तापसः—वानप्रस्थः । आदिशब्देन पित्रा विवदमानानां ग्रहणम् । यथाऽऽह शङ्खः—" पित्रा विवदमानगुरुकुलवासिवानप्रस्थनिर्ग्रन्था असाक्षिणः " इति । नारदेन दोषादसाक्षिणो दर्शिताः—

" स्तेनास्साहसिकाश्चण्डाः कितवा वधकास्तथा ।
असाक्षिणस्तु दुष्टत्वात् तेषु सत्यं न विद्यते " ॥

इति । भेदादसाक्षिणां च स्वरूपं तेनैव दर्शितम् ।

" साक्षिणां लिखितानां च निर्दिष्टानां च वादिनाम् ।
तेषामेकोऽन्यथावादी भेदात्सर्वे न साक्षिणः " ॥

इति । अत्र लिखितग्रहणात् अकृतसाक्षिणां भेदेऽपि न साक्ष्यहानिरित्युक्तम् । स्वयमुक्तिस्वरूपं स एवाह—

" स्वयमुक्तिरनिर्दिष्टः स्वयमेवैत्ययो वदेत् ।
सूचीत्युक्तस्स शास्त्रेषु न स साक्षित्वमर्हति " ॥

इति । मृतान्तरस्यापि लक्षणमाह व्यासः—

" अर्थी यत्र न विद्येत तत्र साक्षी मृतान्तरः ।
प्रत्यर्थी वा मृतो यत्र तत्राप्येवं प्रकल्पयेत् " ॥

अयमर्थः—अर्थिना वा प्रत्यर्थिना वा साक्षिणो 'यूयमत्रार्थे साक्षिण' इति योऽर्थः श्रावयितव्यो भवेत् तास्मिन् अर्थिनि प्रत्यर्थिनि वा असति मृते वा साक्षी मृतान्तर इति ॥

यत्तु विज्ञानयोगिनोक्तं यत्र तु मुमूर्षुणा स्वस्थेन वा पित्रा पुत्रादयः श्राविताः 'अमी साक्षिण' इति अत्र मृतान्तरोऽपि साक्षी"। यथाऽऽह नारदः—

"मृतान्तरोऽर्थिनि प्रेते मुमूर्षुश्राविते दृढः"॥

इति। तत्तु श्रावितस्य साक्षित्वं नापगतमित्येवं परम्। न पुनर्मृतान्तरस्यापि साक्षित्वविधानार्थमित्यवगन्तव्यम्। मृतान्तरस्य साक्षित्वासंभवात्। ननु भेदादसाक्षिण इत्यनुपपन्नम्। 'साक्षिद्वैधे बहूनां वा गुणवत्तमानां वा वचनं ग्राह्यम्' इति विष्णुस्मरणात्। समसङ्ख्यानां वा समगुणानां वा द्वैधे युक्तिसध्रीचीनं वचनं ग्राह्यमित्यर्थादुक्तं भवतीति निबन्धनकारवचनादिति चेन्नैवम्। बहवस्साक्षिणो मिळित्वा साक्ष्यभावमेकस्मिन् निवेश्य संसदि अनेन यदुक्तं तदस्माकं संमतमित्यवोचन्; तदाऽसावेकोऽपि विसंवादी, सर्वे ते साक्षिणो विसंवादिन इत्येवं परं वचनमिति न कश्चिद्विरोधः।

### साक्षिविभागादि.

साक्षी तु द्विविधः—दर्शनश्रवणभेदात्। यथाऽऽह पितामहः—

"समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति"।

इति। स च द्विविधः कृताकृतभेदात्। अकृतष्षड्विधः यथाऽऽह नारदः—

"ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम्।
कार्येष्वधिकृतो यस्स्यादर्थिना प्रहितश्च यः॥
कुल्याः कुलविवादेषु विज्ञेयास्तेऽपि साक्षिणः"॥

इति । प्राड्विवाकग्रहणं लेखकस्याप्युपलक्षणार्थम् ।

"लेखकः प्राड्विवाकश्च सभ्याश्चैवानुपूर्वशः ।
नृपे पश्यति तत्कार्यं साक्षिणस्समुदाहृताः" ॥

इति । कृतसाक्षिणां पञ्चानां स्वरूपमाह नारदः—

"लिखितस्स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च ।
गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधस्स्मृतः ॥

इति । तेषां स्वरूपं—

"अर्थिना स्वयमाहूतः यो लेख्ये सन्निवेश्यते ।
स साक्षी लिखितो नाम स्मारितः पत्रकादृते" ॥

इति । पत्रकादृते—पत्रकं विहाय स्वकार्यसिद्ध्यर्थं दृष्ट्वा पुनः पुनः स्मार्यते स साक्षी स्मारित इत्यर्थः, यदृच्छयागतस्साक्षी क्रियते यः स यदृच्छाभिज्ञः—

"प्रयोजनार्थमानीतः प्रसंगादागतश्च यः ।
द्वौ साक्षिणौ चालिखितौ पूर्वपक्षस्य साधकौ" ॥

स्मारितयदृच्छाभिज्ञयोः पत्रानारूढत्वेऽपि प्रसङ्गादागतत्वप्रयोजनार्थमानीतत्वाभ्यां भेद इत्यर्थः—

"अर्थिना स्वार्थसिद्ध्यर्थं प्रत्यर्थिवचनं स्फुटम् ।
यश्श्राव्यते स्थितो गूढो गूढसाक्षी स उच्यते" ॥

इति ।

"साक्षिणामपि यस्साक्ष्यमुपर्युपरि भाषते ।
श्रवणाच्छ्रावणाद्वाऽपि स साक्ष्युत्तरसंज्ञितः" ॥

इति । लिखिते तु विशेषमाह नारदः—

"सुदीर्घेणापि कालेन निश्चितस्सिद्धिमाप्नुयात् ।

आत्मनैव लिखेज्ज्ञातमज्ञस्त्वन्येन लेखयेत्" ॥

यत्पुनस्तेनैवोक्तम्—

"अष्टमाद्वत्सरात्सिद्धिं स्मारितस्येह साक्षिणः ।
आपञ्चमात्तथा सिद्धिं यदृच्छोपगतस्य तु ॥
आतृतीयात्तथा वर्षात् सिद्धिं गूढस्य साक्षिणः ।
आ च संवत्सरात्सिद्धिं वदन्त्युत्तरसाक्षिणः" ॥

इति । तत्तु न नियमार्थम् । अत एवाह स एव—

"अथ वा कालनियमो न दृष्टस्साक्षिणं प्रति
स्मृत्यपेक्षं हि साक्षित्वमाहुश्शास्त्रविदो जनाः ।
यस्य नोपहता बुद्धिः स्मृतितन्त्रेषु साक्षिणः
सुदीर्घेणापि कालेन स साक्षी साक्ष्यमर्हति" ॥

इति । तत्र निर्दुष्टास्साक्षिणस्सन्ति चेन्निर्देष्टव्याः सदोषेषु साक्षिषु दूषयितव्या इत्याह बृहस्पतिः—

"साक्षिणोऽर्थिसमुद्दिष्टान् सत्सु दोषेषु दूषयेत् ।
अदुष्टान् दूषयन्वादी तत्समं दण्डमर्हति ॥

तत्समो दुष्टसाक्षिदण्डसमः । दोषास्तु विवादकाल एव वक्तव्याः नान्यत्रेत्याह कात्यायनः—

"लेख्यदोषास्तु ये केचित् साक्षिणां चैव ये स्मृताः ।
वादकाले तु वक्तव्या पश्चादुक्तं न दूषयेत्" ॥

न दूषयेदित्यनेन दण्डाभावोऽपि प्रतिपादितः । यत आह स एव—

"उक्तेऽर्थे साक्षिणो यस्तु दूषयेत् प्रागदूषितान् ।
न च तत्कारणं ब्रूयात् प्राप्नुयात् पूर्वसाहसम् ॥

किञ्च

नावद्येन प्रमाणं तु दोषेणैव तु दूषयेत् ।
मिथ्याभियोगे दण्ड्यस्स्यात् साध्यार्थाच्चापि हीयेत" ॥

इति । अयमर्थः—दोषेणैव तु दूषयेत् । न तु गुणाभावेन तस्य वचनप्रामाण्यविघातकारित्वादित्यभिप्रायः । अत एव ऋणादानादौ निषिद्धेतरस्यापि साक्षित्वमभ्यनुज्ञातम् । अतो न गुणाभावोद्भावनमात्रेण ऋणादानादौ निर्दिष्टसाक्षिणामसाक्षित्वसिद्धिः । किन्तु दासकितवत्वादिनिषेधनिमित्तोत्थापनेनेत्यव गन्तव्यम् । साहसादौ न तावन्मात्रेण, किन्तु अज्ञानासत्यशीलत्वादिदोषोद्भावनेनेत्यवगन्तव्यम् ।

"अन्यैस्तु साक्षिभिस्साध्ये दूषणे पूर्वसाक्षिणाम् ।
अनवस्था भवेद्दोषः तेषामप्यन्यसंभवात्" ॥

एवं प्रतिवादिनां दूषणप्रतिपादनं । न प्रकटदूषणं कार्यम् । वैयर्थ्यात् । सभ्यैरेव तत्प्रसिद्धेरित्यर्थः । यदि पुनरपि प्रसिद्धं दूषणं कीर्तितं, तत्र तदसाधयतो दण्डमाह कात्यायनः—

"असाधयन् दमं दाप्यः प्रत्यर्थी साक्षिणः स्फुटम् ।
भाविनस्साक्षिणो वर्ज्याः साक्षिधर्मनिराकृताः" ॥

स्फुटं यथा च भवति तथा साक्षिदोषमसंभावयन् इत्यर्थः । दोषित्वेन साधिताः साक्षिणो वर्ज्याः न तु दण्ड्या इत्यभिप्रायः ।

"प्रत्यर्थिनोऽर्थिनो वाऽपि साक्षिदूषणसाधने ।
न तु साक्ष्यभियोगस्स्यात् व्यवहारान्तरं तथा" ॥

इति । प्रमाणदोषविवादनिर्णयः पूर्वव्यवहारमध्य एव कर्तव्य इत्यभिप्रायः । न च व्यवहारमध्ये व्यवहारान्तरनिर्णयस्य अनुचितत्वादयुक्तमिति वाच्यम्, प्रमाणदोषविवादानिर्णयस्य पूर्वव्यवहारशेषत्वेन तत्रैव कार्यत्वात् । पृथक्फलाभावेन व्यवहारान्तरत्वाभावाच्चेति । साक्षिणः सर्वे यस्य वादिनः प्रतिवादिनो वा साध्योक्तिं सत्यामूचुः तस्य जय इत्याह याज्ञवल्क्यः—

साक्षिफलम्.

"[1]यस्योचुस्साक्षिणस्सत्यां प्रतिज्ञां विजयी भवेत्" ।

इति । बृहस्पतिरपि—

"यत्रादोषः प्रतिज्ञार्थस्साक्षिभिः प्रतिवर्णितः ।
स जयी स्यात्"

इति । प्रतिज्ञा—साध्योक्तिः । यस्य पुनः प्रतिज्ञां साक्षिणः असत्यामूचुः तस्य पराजय इत्याह याज्ञवल्क्यः—

"अन्यथावादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः" ।

इति ।

क्वचिदनृतसाक्ष्यभ्यनुज्ञा.

ननु याज्ञवल्कीयवचने—"वर्णिनां हि वधो यत्र साक्ष्ये तत्रानृतं वदेत्" इति साक्षिणामनृतवचनेन वर्णिनां विजयित्वात् सत्यवचनेनैव विजयित्वमिति न नियम्यत इति प्रतीयत इति चेन्मैवं, तत्रानृतवचनस्य विहितत्वात्प्रायश्चित्ताददोष इति । न चात्र अनृतवचनं न विहितमिति वाच्यम् । उत्तरार्धे 'तत्पा-

[1] य[illegible]ाशेषः पा स्मृ चं अत्रपाठे सत्यत्वेनेतिशेषः.

वनाय निर्वाप्यश्चरुस्सारस्वतो द्विजैः" इति अनृतवचनजनित-दुरितापनोदनप्रायश्चित्तस्मरणात् । नन्वत्रानृतवचनस्य विहितत्वात् तत्प्रायश्चित्तमनुपपन्नमिति चेत्, उच्यते, अत्र विज्ञानयोगिनो मतं—उत्तरार्धपूर्वार्धयोरेकवाक्यताऽङ्गीकारात् उत्तरार्धार्थानुसारेण अनृतवचनजनितदुरितनिवृत्त्यर्थं सारस्वतश्चरुः कार्यः इति । भगवत्पादमतं तु क्षामवतीष्टिवत् सारस्वतः, अयमर्थः—तत्पावनाय शुद्ध्यर्थं—दोषिणां संरक्षणार्थं; एतत्पर्यन्तमेकं वाक्यं, यत्र वर्णिनां वधस्तत्र तत्पावनाय साक्ष्यमनृतं वदेत् अतो नैमित्तिकक्रतुरिति सारस्वतश्चरुर्नैमित्तिक इति । अत्र नैमित्तिकत्वे तत्पावनाय इति पदं नान्वीयादिति अन्यथेति पदमध्याहृत्य व्याचष्टे टीकाकारः, अयमर्थः—सत्यमेव वदित्वा सारस्वतश्चरुर्नैमित्तिकः । न च सत्यवचनानन्तरं प्राणिव्यापादे जाते तदपनोदनाय सारस्वतश्चरुः प्रायश्चित्तमात्रमिति वाच्यम् । अनृतवचनस्य विहितत्वात्, विहितानुष्ठान एव प्रायश्चित्तस्मरणात् । अत्र केचिदेतद्वचनमन्यथा पठित्वा व्याचक्षते—तत्वावनाय निर्वाप्यत इति । तत्वावनाय—सत्यसंरक्षणाय । अस्मिन्ननृतेऽपि सारस्वतश्चरुर्नैमित्तिक एव, तत्त्वावनायेत्यस्यायमर्थः—तत्त्वस्य अवनं रक्षणम् । तादृशे समये सत्यमनृतवचनेनैव सेत्स्यतीत्यभिप्रायः । क्रियाग्रहणमात्रे चतुर्थी । यत्र केचित् साक्षिणस्साध्योक्तिं सत्यां केचिदसत्यामूचुः तत्र मनुराह—

साक्षिद्वैविध्ये निर्णयः.

"बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु च गुणोत्कृष्टान् गुणद्वैधे द्विजोत्तमान" ॥

नारदोऽपि—

"साक्षिविप्रतिपत्तौ तु प्रमाणं बहवो यतः ।
तत्साम्ये शुचयो ग्राह्याः समे तु शुचिमत्तराः" ॥
तत्साम्यात् साक्षिसाम्ये च विवादो यत्र दृश्यते ।
सूक्ष्मत्वात् साध्यधर्मस्य साध्यं व्यावर्तयेत्ततः" ॥

इति ।

साक्षिभिरन्यूनाधिकमेव वक्तव्यम्.

पृष्टादूनाधिकं न कर्तव्यमिति कात्यायन आह—

"निर्दिष्टेष्वर्थजातेषु साक्षी चेत् साक्ष्य आगते ।
न ब्रूयादक्षरसमं न तन्निगदितं भवेत्" ॥

साक्ष्ये—साक्ष्यवादे। आगते—प्राप्ते । अक्षरसमं अक्षरानुरूपं पृष्टार्थमिति यावत् । पृष्टार्थासमर्पकमपार्थमित्यर्थः । एवं पृष्टादूनाधिकं च न वक्तव्यम् ।

"ऊनमभ्यधिकं वाऽर्थं विब्रूयुर्यत्र साक्षिणः ।
तदप्ययुक्तं विज्ञेयं एष साक्षिविनिश्चयः" ॥

कूटसाक्षिचिह्नानि.

विष्णुः—

स्वभावाद्विकृतौ मुखवर्णविनाशे च असंबद्धप्रलापे च कूटसाक्षिणं विन्द्यात्, इति । स्वभावविकृतिमाह याज्ञवल्क्यः—

"देशाद्देशान्तरं याति सृक्किणी परिलेढि च ।
ललाटं स्विद्यते यस्य मुखं वैवर्ण्यमेति च" ॥
अभियोगेऽथ साक्ष्ये वा दुष्टस्स परिकीर्तितः ॥

इति ॥

जानतोऽकथयितुः कूटसाक्षिदण्डः.

"न ददाति हि यस्साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः ।
स कूटसाक्षिणां पापैः तुल्यो दण्डेन चैव हि" ॥

यो विप्रतिपद्यमानमर्थं जानन्नपि दौरात्म्यात् साक्ष्यं नाङ्गीकरोति "नाहमत्र साक्षी" इति असौ कूटसाक्षिवद्दण्ड्यः तद्वत्पापीति चार्थः । बृहस्पतिस्तु विशेषमाह—

"आहूतो यस्तु नागच्छेत् साक्षी रोगविवर्जितः ।
ऋणं दमं च दाप्यस्स्यात् त्रिपक्षात्परतस्तु सः" ॥

तथा च मनुः—

"त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यं ऋणादिषु नरो यदि ।
तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः" ॥

अगदः-स्वस्थः । दशबन्धशब्देन दशमोंऽश उच्यते । स तु दण्डो राजग्राह्यः । यत्तु—

"न कालहरणं कार्यं राज्ञा साक्षिप्रभाषणे ।
महान् दोषो भवेत्काले धर्मव्यावृत्तिलक्षणः" ॥

इति तत् स्पष्टसाक्षिविषयम् । अत आह कात्यायनः—

"सम्यक्क्रियापरिज्ञाने ज्ञेयः कालस्तु साक्षिणाम् ।
सन्दिग्धं पत्रसाक्ष्यं तु स्पष्टं सद्यो विवादयेत्" ॥

इति । याज्ञवल्क्यस्तु कूटसाक्षिणो विशेषमाह—

कूटसाक्षिदण्डः.

"पृथक् पृथक् दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा ।
विवादाद्द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणस्स्मृतः" ॥

इति। अस्यार्थः—ये धनादानादिना कूटं कूटसाक्ष्यं कुर्वन्तीति-कूटकृतस्साक्षिणो मिथ्यावादिन इति यावत्; ते राज्ञा पृथग्दण्डनीयाः। ब्राह्मणस्तु निर्वास्यः—राष्ट्रान्निर्वास्यः न दण्ड्यः। एतच्च लोभादिकारणविशेषपरिज्ञाने अनभ्यासे च बोद्धव्यम्। यथाऽऽह मनुः—

"लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्स्यात् मोहात्पूर्वं तु साहसम्।
भयाद्वै मध्यमो दण्डो [1] मैत्र्या पूर्वं चतुर्गुणम्॥
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानात् द्विशते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु" ॥

एतद्दण्डस्य कालः.

अत्र लोभोऽर्थलिप्सा। मोहो विपर्ययज्ञानम्। भयं संत्रासः। मैत्री स्नेहातिशयः। कामः स्त्रीव्यतिकराभिलाषः। क्रोधोऽमर्षः। अज्ञानमस्फुटज्ञानम्। बालिश्यं ज्ञानानुत्पादः। एतत्सर्वं सप्ताहादिसाक्ष्यविहितकालप्रतीक्षणानन्तरं वेदितव्यम्। यदि साक्षिद्वैधे गुणवत्तमानां समसङ्ख्याकानामपि आर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरोऽन्यतरस्य साक्षिणो वचनं नानुमन्यते तत्र वादानन्तरं सप्ताहद्विसप्ताहत्रिसप्ताहषट्चत्वारिंशद्दिवसावधि राजकदैविकप्रतीक्षणं कार्यम्। द्रव्यतारतम्यादित्याह निबन्धनकारः। अत्र कात्यायनः—

"सप्ताहात्तु प्रतीयेत यत्र साक्ष्यनृतं वदेत्।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणं द्विसप्ताहात्त्रिसप्त वा॥
षट्चत्वारिंशके वाऽपि द्रव्यजात्यादिभेदतः"।

[1] मैत्रात्पूर्वं, स्मृ, च. पा.

द्रव्यभेदः–द्रव्यतारतम्यम् । जातिभेदः–जातितारतम्यमित्यर्थः । तथा च विष्णुः—

"शतनाशे षट्चत्वारिंशद्दिवसप्रतीक्षणम् ।
द्विशतनाशे त्रिसप्ताहप्रतीक्षणम् ॥
पञ्चशतनाशे द्विसप्ताहप्रतीक्षणम् ।
सहस्रनाशे सप्ताहप्रतीक्षणम्" ॥

इति ।

### अत्र पणविवेकः.

अथ शतादिसङ्ख्यासङ्ख्येयत्वं ताम्रिकपणानामित्याह भारुचिः । सुवर्णमाषाणामित्याह वरदराजः । दण्डविधाने 'सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यः' इत्यादौ सहस्रसङ्ख्यासङ्ख्येयत्वं ताम्रिकपणानामित्याह विज्ञानयोगी । भारुचिस्तु—सहस्रसङ्ख्यासङ्ख्येयत्वं सुवर्णमाषाणामित्याह । अत्र देशतो व्यवस्था ।

### कूटसाक्षिदण्डविवेकः.

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणान् त्रीन् वर्णान् धार्मिको नृपः ।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥

इति । एतच्चाभ्यासविषयं । कुर्वाणान् इति वर्तमाननिर्देशात् । क्षत्रियादीन् त्रीन् वर्णान् दण्डयित्वा प्रवासयेत्—मारयेत् प्रवासशब्दस्यार्थशास्त्रे मारणे प्रयोगात् । अस्य काण्डस्यार्थशास्त्ररूपत्वात् । तत्रापि प्रवासनं ओष्ठच्छेदनं जिह्वाच्छेदनं प्राणावियोजनं च कौटसाक्ष्यविषयानुसारेण द्रष्टव्यं । ब्राह्मणं तु दण्डयित्वा विवासयेत्—स्वराष्ट्रान्निर्वासयेत् ।

यद्वा विवासनं— वाससो राहित्यं नग्नीकरणमित्यर्थः । अथ वा वसत्यस्मिन्निति वासो-गृहं; विवासयेत्—भग्नगृहं कुर्यादिति यावत् । ब्राह्मणस्यापि लोभादिविशेषापरिज्ञाने अनभ्यासे च तत्र तत्रोक्तार्थदण्ड एव । अभ्यासे त्वर्थदण्डो विवासनं च । न च ब्राह्मणस्यार्थदण्डो नास्तीति मन्तव्यं, अर्थदण्डाभावे शारीरदण्डे च निषिद्धे स्वल्पेऽप्यपराधे नग्नीकरणं गृहभङ्गोऽङ्कनं विवासनं दण्डाभावो वा प्रसज्येरन् ।

महत्यपराधे ब्राह्मणस्यापि धनदण्डश्शारीरदण्डश्चास्ति.

चतुर्णामपि वर्णानां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।
शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥

इति स्मरणाच्च—

सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यः गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन् ।

इति स्मरणाच्च । तत्रापि जातिद्रव्यानुबन्धाद्यपेक्षया विवासनं नग्नीकरणं गृहभङ्गो देशान्निर्वासनं चेति व्यवस्था द्रष्टव्या । लोभादिकारणविशेषापरिज्ञाने अनभ्यासे चाल्पविषये कौटसाक्ष्ये ब्राह्मणस्यापि क्षत्रियादिवदर्थदण्ड एव । महाविषये तु देशान्निर्वासनमेव । अभ्यासे सर्वेषां नग्नीकरणं गृहभङ्गः देशान्निर्वासनं धनदण्डश्च मिळिताश्च । यदप्युक्तं मनुना—

राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ।

इति । तत्प्रकृतसाहसविषयं । न सर्वसाहसविषयं ।

शारीरदण्डो ब्राह्मणस्य न कदाचिद्भवति ।
न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम् ॥

इति । सामान्येन मनुवचनाच्च—

ब्राह्मणस्य वधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।
तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत् ।

इति—

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् ।
कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनाच्च । अतश्चतुर्णामपि वर्णानामित्यत्र चतुर्णां वर्णानां धनदण्डः । शारीरसहितधनदण्डस्तु ब्राह्मणव्यतिरिक्तत्रैवर्णिकानामवगन्तव्यः ।

ननु द्वितीयकाण्डोऽर्थशास्त्रमित्युक्तं । अर्थशास्त्रे आततायिनो ब्राह्मणस्य हननं विधीयते—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
आततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥

तथा—

आततायिनमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
जिघांसन्तं जघांसीयान्न तेन भ्रूणहा भवेत् ।

इति । भ्रूणो—ब्राह्मणः । आततायित्वं कूटसाक्षिणोऽप्यस्ति । यथाऽऽह विष्णुः—

परदाराभिमर्शकः परक्षेत्रापहारी उद्यतासिः अग्निदो गरदः परद्रव्यापहारी महाभियोगेषु कूटसाक्षी मिथ्यामहाभियोगी चेत्याततायिनः इति,। अत्र पर शब्देन ब्राह्मण उच्यते । ब्राह्मण

दाराभिमर्शी ब्राह्मणक्षेत्रापहारी ब्राह्मणधनापहारी ब्राह्मणे महापातकाभियोक्ता शस्त्रपाणिः ब्राह्मणे ब्राह्मणे महाभियोगे कूटसाक्षी ब्रह्मगृहेष्वग्निदः ब्राह्मणे गरदश्चेति। अत्र गरदत्वं औषध्यादिना निवृत्ते विषे। अन्यथा महापातकित्वप्रसङ्गात् ॥

उद्यतासिविषाग्निश्च [1]शापोद्यतकरस्तथा।
आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥
भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः।
एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥

इति। अतश्च—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते आततायिनः ॥

इति उपलक्षणं वेदितव्यम्।

धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोर्बलाबलविवेचना।

अत्र केचिदेवं परिहारमाहुः—धर्मशास्त्रान्तर्गतमेव अर्थशास्त्रमिह विवक्षितं, नोशनसादिनिर्मितमर्थशास्त्रम्। अतश्च धर्मशास्त्रविरोधे अर्थशास्त्रं दुर्बलम्। यथोक्तं याज्ञवल्क्येन—

अर्थशास्त्रात्तु बलवत् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः।

इति। यद्यपि समानकर्तृकतया अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रयोः स्वरूपतो विशेषो नास्ति, तथाऽपि प्रमेयस्य धर्मप्राधान्यात् अर्थस्याप्राधान्यात् धर्मशास्त्रं बलवदित्यभिप्रायः। अतश्च धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोर्विरोधे अर्थशास्त्रस्य बाध एव, न विषयव्यवस्था नापि विकल्प इति। तदयुक्तम्—अनयोरेकविषय-

[1] चापोद्यत.

[1]त्वसम्भवेन विरोधाभावान्न बलाबलचिन्ताऽवतरति । तथाहि—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।

इत्युपक्रम्य—

आत्मना स्वपरित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे ।
स्त्रीवित्तादिविपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दूष्यते ॥

इत्यात्मनो रक्षणे दक्षिणादीनां यज्ञोपकरणानां च युद्धे च स्त्रीब्राह्मणहिंसायां च आततायिनमकूटशास्त्रेण घ्नन् न दण्डभागित्युक्त्वा तस्य अर्थवादार्थमिदमुच्यते—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इत्यादि। गुर्वादीनत्यन्तावध्यानप्याततायिनो हन्यात्किमुतान्यानिति वाशब्दग्रहणात् 'अपि वेदान्तपारगम्' इत्यत्राप्यपिशब्दश्रवणान्न गुर्वादीनां वध्यत्वप्रतीतिः । तथा च सुमन्तुः—

महत्यपराधेऽपि ब्राह्मणस्य शरीरदण्डाभावः ।

आततायिवधे न दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणेभ्यः ।

इति । यत्तु भवदेवेनोक्तं—आततायिवधे दोषो नेत्यन्वयः । गोशब्देन गोः शृङ्गस्थानं ब्राह्मणशब्देन ब्राह्मणरूपवेदवाक्यमित्युक्तं, तत्तु सकलस्मृतिविरोधात्क्लिष्टकल्पनया हेयम् । यत्त्वपरार्केणोक्तं—

उद्यतासिं च विषदं [2]शापोद्यतकरं तथा ॥

इत्याततायिलक्षणे उद्यतासि[2]शापोद्यतकरपदद्वयसामर्थ्याद्वधे व्याप्रियमाणा ब्राह्मणा अप्याततायिनो वध्या इति तत्सकलविद्वदसम्मतत्वाद्धेयम् ।

---

[1] त्वासम्भवेन. [2] चापोद्यत.

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद्ब्राह्मणं गां च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥

इति मनुवचनाच्च ब्राह्मणवधे दोषस्स्मर्यते । अतश्चेदं वचनं 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति सामान्यशास्त्रेण निषेधस्य सिद्धत्वादाततायिनां हिंसाप्रतिषेधेनार्थवदिति ।

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥

इति वचनं ब्राह्मणव्यतिरिक्तविषयमेव । ब्राह्मणस्य कूटसाक्ष्ये यथार्हं देशान्निष्कासनं ग्रामान्निष्कासनं नग्नीकरणमङ्कनं गृहभङ्गोऽर्थदण्डश्च कार्याः ॥ कदाचिदपि ब्राह्मणस्य शारीरदण्डो नास्तीति सर्वस्मृतिसिद्धमित्यवगन्तव्यमित्यलं[1] विस्तरेण ।

साक्ष्यनुयोगप्रकारः.

साक्ष्यानुयोगप्रकारमाह मनुः—

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेन्नृपो द्विजान् ।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिश्शुचीन् ॥

नारदस्तु—

आहूय साक्षिणः पृच्छेत् नियम्य शपथैर्भृशम् ।
समस्तान्विदिताचारान् विज्ञातार्थान् पृथक्पृथक् ॥

भयावहैश्शपथैः सत्यनिष्ठान् कृत्वा प्रत्येकं पृच्छेदित्यर्थः । शपथास्तेनैव दर्शिताः ॥

वर्णभेदेन सत्ये वस्तुभेदः.

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।

[1] ल्मतिविस्तरेण.

गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥

इति । अतश्च द्विजानिति द्विजग्रहणं साक्षिमात्रोपलक्षक[1]मिति मन्तव्यं, शूद्रं सर्वैस्तु पातकैरिति शूद्रस्य शापविधानात् ॥

अत्र मनुना विशेषस्स्मृतः—

ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ।

इति । वैश्यप्रश्ने विशेषानुक्तेः गोवीजकाञ्चनैर्वियोगः स्याद्यद्यन्यथा ब्रूयादिति । शूद्रे तु [2]प्रश्नवाक्यप्रकारो मनुना प्रपञ्चितः—

ब्रह्मघ्ना ये स्मृता श्चौरा ये च स्त्रीबालघातिनः ।
मित्रद्रुहः कृतघ्नाश्च ते ते स्युर्वदतो मृषा ॥
जन्मप्रभृति यत्किञ्चित् पुण्यं भद्र त्वया कृतम् ।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥
यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥
नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।
[3]अधश्शत्रुगृहं गच्छेत् यत्साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदेत् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥
एतान् दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं सत्यमेवाञ्जसा वदेः ॥

कुरून् कुरुक्षेत्रम् । अञ्जसा शुद्धेन हृदयेन । जातानजाता-

[1] मित्यवगन्तव्यम्. [2] प्रश्नप्रकारो. [3] अन्धः शत्रु.

निति स्वकुल इति शेषः । [1]अयं च शूद्रप्रश्ने विधिरनापदि हीनवृत्त्युपजीविनां द्विजानामपि भवति, तेषामल्पशपथेन नियन्तुमशक्यत्वात् । अत एव मनुः—

[2]येऽनुपाताः स्वकर्मभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।
द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ते तांश्च शूद्रवदाचरेत् ॥

साक्ष्ये इति शेषः । तत्र कात्यायनः—

सभान्तस्स्थैस्तु वक्तव्यं साक्ष्यं नान्यत्र साक्षिभिः ।
सर्वसाक्ष्येष्वयं धर्मोऽन्यत्र स्यात् स्थावरेषु तु ॥

अन्यत्र [3]स्थावरेऽपीत्यर्थः ।

वधे चेत्प्राणिनां साक्ष्यं वादयेच्छवसन्निधौ ।
तदभावे तु चिह्नस्य नान्यथैव प्रवादयेत् ॥

चिह्नस्य शृङ्गादेः ।

## साक्ष्यवादप्रकारः.

साक्ष्यवादप्रकारमाह बृहस्पतिः—

विहायोपानदुष्णीषं दक्षिणं बाहुमुद्धरेत् ।
हिरण्यगोशकृद्दर्भान् समादाय ऋतं वदेत् ॥

दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् प्रावृतं वस्त्रं यज्ञोपवीतवत्कुर्यादित्यर्थः । तथाच श्रुतिः—

'दक्षिणं बाहुमुद्धरते वधत्ते सव्यमिति यज्ञोपवीतम्' ।

इति । तथाच वसिष्ठः—

प्राङ्मुखो यस्स्थितस्साक्षी शपथैश्शापितस्स्वकैः ।
हिरण्यगेशकृद्दर्भानुपस्पृश्य वदेदृतम् ॥

---

[1] एवं च. [2] येनुत्प ता:. [3] स्थावरस्योपरीत्यर्थ:.

इति । ऋतं सत्यम् । स्वकान् शपथानाह मनुः—

सत्येन पूयते साक्षी धर्मस्सत्येन वर्धते ।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥

इति ।

वदन् साक्ष्यनृतं पाशैर्बध्यते वारुणैर्नरः ।
विवशं शतमाजाति तस्मात्साक्षी वदेदृतम् ॥
आत्मैव ह्यात्मनस्साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः ।
मावमंस्थास्त्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥

शतमाजाति शतजन्मपर्यन्तमित्यर्थः । विवशमिति क्रियाविशेषणम् । नारदोऽपि—

कुबेरादित्यवरुणशक्रवैवस्वतादयः ।
पश्यन्ति लोकपालाश्च नित्यं दिव्येन चक्षुषा ॥

बृहस्पतिरपि—

कूटसभ्यः कूटसाक्षी ब्रह्महा च समास्स्मृताः ।
भ्रूणहा वित्तहा चैषां नाधिकस्समुदाहृतः ॥

इति । वसिष्ठोऽपि—

अथ चेदनृतं ब्रूयात्सर्वतोऽमेध्यभक्षणम् ।
मृतो नरकमायाति तिर्यग्गच्छेदनन्तरम् ॥

अमेध्यभक्षणयुतं नरकं मृतो गच्छतीत्यर्थः ।

कूटसाक्ष्ये दोषाः

व्यासोऽपि—

पीड्यन्ते वारुणैः पाशैः साक्षिणोऽनृतवादिनः ।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि नरके वसतिर्ध्रुवम् ॥

तेषां वर्षशते पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते ।
कालेऽतीते मुक्तपाशः तिर्यग्योनिषु जायते ॥

कूटसाक्ष्यं प्रकृत्य वसिष्ठः—

सूकरो दशवर्षाणि दशवर्षाणि गार्दभः ।
श्वा चैव दशवर्षाणि भासो वर्षाणि विंशतिम् ।
कृमिकीटपतङ्गेषु चत्वारिंशत्तथैवच ॥
मृगस्तु दशवर्षाणि जायते मानवस्ततः ।
मानुष्यं तु यदाऽऽप्नोति मूकोऽन्धस्तु भवेत्तु सः ।
दारिद्र्यं तु भवेत्तस्य पुनर्जन्मनि जन्मनि ॥
बुभुक्षितश्शत्रुगृहे भिक्षते भार्यया सह ।
ज्ञात्वा त्वनृततो दोषान् ज्ञात्वा सत्ये च सद्गुणान् ॥
श्रेयस्करामिहामित्रे सत्यं साक्षी वदेदतः ॥

अत्रापिशब्दोऽध्याहर्तव्यः । अमित्रेऽपि साक्ष्ये सत्यं वदेदित्यर्थः । एवं संशोधनमेतैरेव वचनैः कार्यम् ॥

### क्वचित्साक्ष्ये प्रत्यवायाभावः

क्वचिद्विषयेऽपवादमाह मनुः—

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं ताद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥

इति । तथा च याज्ञवल्क्यः—

वर्णिनां हि वधो यत्र वदेत्साक्ष्यं तथाऽनृतम् ।

इति । साक्ष्यभावेऽप्यग्निदत्वादिविवादेषूल्काहस्तादिचिह्नान्येव साक्षिकार्यं कुर्वन्तीत्याह नारदः—

उल्काहस्तोऽग्निदो ज्ञेयः शस्त्रपाणिश्च घातकः ।
केशाकेशिगृहीतश्च युगपत्पारदारिकः ॥

कुद्दालपाणिर्विज्ञेयः सेतुच्छेत्ता समीपगः ।
तथा कुठारपाणिश्च वनच्छेत्ता प्रकीर्तितः ॥
प्रत्यक्षचिह्नैर्विज्ञेयो दण्डपारुष्यकृन्नरः ।
असाक्षिप्रत्यया ह्येते पारुष्ये तु परीक्षणम् ॥

इति । हारीतस्तु—

कश्चित्कृत्वाऽऽत्मनश्चिह्नं द्वेषात्परमुपद्रवेत् ।
[1]युक्तिहेत्वर्थसम्बन्धैस्तत्र युक्तं परीक्षणम् ॥

तथा च नारदः—

यात्यचोरोऽपि चोरत्वं चोरश्चायात्यचोरताम् ।
अचोरश्चोरतां प्राप्तो माण्डव्यो व्यवहारतः ॥

अतः परीक्षणमावश्यकमित्यभिप्रायः । अयमभिसन्धिः—अत्राक्रोशाभावविशिष्टा एव लिखितादयः प्रमाणपदवीमवगाहन्ते, नान्यथा । अत एवाह विष्णुः—'आसिद्धमनासिद्धमेव' इति । एतद्व्याचष्टे भारुचिः—

आसिद्धं सर्वलिखितं भुक्तिप्रभृति [2]अवरुद्धं आसमन्तात्सिद्धं न भवति [3]कदापि सिद्धं न भवतीत्यर्थः ।

यत्तु नारदेनोक्तं—

वक्तव्येऽर्थे न तिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं च तद्वचः ।
आसेधयेद्विवादार्थी यावदाह्वानदर्शनम् ॥

इति । एतद्व्याख्यातं चन्द्रिकाकारेण—सान्दिग्धार्थनिर्णय उदासीनं तन्निर्णयाय प्रवर्तितव्यमित्यादि चार्थिनो वचनमव-

---

[1] हेत्वर्थगतिसामर्थ्यैस्तत्र. इति नारदस्मृतौ दृश्यते. [3] कदाचिदपि न सिध्यतीत्यर्थः.

मन्यमानं प्रत्यर्थिनं स्वयं चार्थी आसेधयेत् । राजाज्ञया व्यवहारदर्शनपर्यन्तं निरोधयेत् इति स्वरूपासेधनमुक्तं; तत्तु प्रत्यर्थिगृहीतप्रसर्पणीयद्रव्यद्वारा स एवासेध्यत इति स्वरूपासेधमात्रपरं वेदितव्यं । भारुचिस्तु—

वक्तव्येऽर्थे न तिष्ठन्तं उत्क्रामन्तं च तद्वचः ।
असेधयेद्विवादार्थी वादी तत्प्रतिवादिनम् ॥

सिषाधयिषितार्थविषये आसेधयेत्—तद्गृहीतं स्वं सिषाधयिषितार्थं राजाज्ञयाऽवरोधयेत् । तदभावे [1] तद्गृहीतारं तन्नाशकं वाऽ[2]वरोधयेत् । इति मुख्यवृत्त्या द्रव्यासेधपरमिदं वचनमित्याह । अतो भारुचिव्याख्यानमेव सम्यक् । विष्णुवचनानुरोधित्वात् । नन्वेवमयुक्तं विष्णुवचनानुरोधाभावात् । तथा च विष्णुः—

‘आसेद्धुः फलमेवासेध्य’ इति, मैवं । भवता वैष्णववचनतात्पर्यापरिज्ञानात् । तत्तात्पर्यं तु लिखितासेधात्फलासेधनं बलवत् । सर्वेषां फलार्थमेव प्रवृत्तेः । फलासेधाकरणे तत्पूर्वं कृता लिखिता[3]द्यासेधा अप्रयोजका एवेति तत्प्राबल्यज्ञापनार्थत्वात्त [4] द्वचनस्य इति । तथाच गौतमसूत्रं—

‘फलासेधःकौत्तिकवत्’ इति ।

तस्यार्थो विवृतो निबन्धकारेण—अत्र द्वितीयार्थे वतिः कौत्तिकः—कुत्ताजीविकः, यथा आसेधविषयः । एवं सर्वत्र फलमेवासेधविषय इति । यथा कौत्तिकः कुत्ताकारेण गृहीतपारिभाषिकार्थातिरिक्तोपचितद्रव्यस्वीकारदशायामासेध्यः।

[1] तद्गृहीतारं B. [2] वारोधयेत् B. [3] लिखिताद्याअप्रयोजकाः B.
[4] B पुस्तके.

एवं सर्वेषु व्यवहारेषु फलस्वीकारदशायामासेधः कर्तव्य इति । फलस्वीकारदशायां फलमेवासेध्यं न स्वरूपमिति तात्पर्यम् । कौत्तिकग्रहणं तु कुत्ताविषये इतरव्यवहारवत् पूर्वकालासेधा न सन्ति । किन्तु कुत्तायां फलमेवासेधविषय इति तावन्मात्रविशेषज्ञापनार्थमित्यवगन्तव्यम् ।

आसेधाक्रोशबलाबलम् ।

नन्वासेधो नाम फलस्यावरोधः । मध्यस्थजनगोचरे विवादास्पदीभूतद्रव्यनिधापनमिति यावत् । फलानुत्पत्तौ तत्स्वीकारोद्योगोपरोधः । फलनाशकरणोद्योगे स्वरूपासेधो राजाज्ञया निरोधनं—आसेधः । आक्रोशस्तु; तादृशो न भवति । किन्तु—फलं न भोक्तव्यं। पत्रं न लेखनीयं। साक्षिभिर्न भवितव्यं। मया सार्धं न्यायनिर्णयायागन्तव्यं । अन्यथा राजाज्ञामुल्लङ्घितवानित्याद्याकारकवाग्व्यापाररूपो न कायिकव्यवहाररूपः । अतश्चासेधादाक्रोशो दुर्बल एव । तत आसेध एव व्यवहारबीजं नाक्रोश इति चेत्, मैवं, आक्रोशासेधयोः विषयभेदो न स्वरूपभेदः। दुर्बलेनार्थिना कृतोपरोध आक्रोशपदाभिधेयः । बलवता तु कृत आसेधपदाभिधेय इति । तथाच विष्णुः—

दुर्बलप्रबलकृतवाक्रोशासेधौ[1] ।

इति । अयमर्थः—

'दुर्बलस्य बलं राजा' इति राजपुरुषैर्दुर्बलेनापि कारित आसेध आक्रोशमूलोऽपि प्रबलकृतत्वादासेध एवेति । [2]दुर्बलेनैवाक्रोश इति लक्षणं सुष्ठु, [3]परत्रासेधादाक्रोशस्येयान्विशेषः—आक्रोशः कालान्तरे धर्मनिर्णयानन्तरं फलगतमपि स्वत्वमाकर्ष-

[1] द्याकारःकारित B. [2] दुर्बलेनैवक्रआक्रोश B. [3] परन्त्वासे B.

यति। आसेधस्त्वासेधसमय एव फलमप्युपरुणद्धीति । अत्राहुः—बलवता आसेध एव कर्तव्यो नाक्रोश इति भारुच्यादयः । अत्रा[1]क्रोशकर्तुः निरूपणं स्फुटत्वान्न कृतं, अतश्चा[2]सेधसद्भावे तु तदभावविशिष्टत्वरूपधर्मोपमर्दनद्वारा विशिष्टं कृत्स्नं प्रमाणमुपमृद्गात्याक्रोश इति ।

कुत्तालेखबलाविचारः

ननु लिखितादीनां प्रामाण्यमागमनिरूपणद्वारा, आगमाभावे तत्प्रामाण्यं प्रशिथिलमूलतया दृढं न भवति, आगमास्तु केषाञ्चिन्मते सप्त । तथा च स्मृतिः—

'सप्त वित्तागमा धर्म्याः'

इति । गौतमादीनां मते तु रिक्थक्रमसंविभागपरिग्रहाधिगमप्रतिग्रहानिर्वेशादयोऽष्ट वित्तागमा इति । भारद्वाजमते तु परिवृत्तेरपि वित्तागमरूपतया निगदितत्वात्तया सार्धं नव वित्तागमाः । एतेषां मध्ये कुत्ताकाराकारितपरिभाषितार्थस्यापरिगणनादागमप्रकारनिरूपणाशक्तौ कुत्तालेखस्य तदारूढसाक्षिणां च दौर्बल्यं प्राप्तं ।

[3]अनागमेन यो भु बहून्यब्दशतान्यपि ।
चोरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥

इति स्मृतेः । आगमशून्याया भुक्तेः प्रमाणकोटिनिवेशाभावः प्रतीयते । यत्तु भोगागमयोः साम्यं बृहस्पतिवचनात्प्रतीयते; तत्तु केवलभुक्तेः दौर्बल्यज्ञापनपरतया न विरुद्धं । तथा च बृहस्पतिः—

भुक्त्या केवलया नैव भूमिसिद्धिमवाप्नुयात् ।
आगमेनापि शुद्धेन द्वाभ्यां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

---

[1] अत्रासेधकर्तुर्निरूपणम् B. [2] अतश्चाक्रोश. [3] अनागमं तु.

तथा च व्यासः—

सागमो दीर्घकालश्च विच्छेदोपरवोज्झितः ।
प्रत्यर्थिसन्निधानं च पञ्चाङ्गो भोग इष्यते ॥

इति । अत्र 'पञ्चाङ्गो भोग इष्यत' इति वदन्नेकाङ्गवैकल्येऽप्यप्रामाण्यं भोगस्येति दर्शयतीत्युक्तं प्राक्, अतश्चागमानिरूपणे तदभावप्रतीतेः मूलशुद्ध्यभावात् तद्गमकप्रमाणदार्ढ्याभाव इति, अत्रोच्यते—क्वचित्परिभाषाऽपि वित्तागम एव, यथा—

आधिः प्रणश्येद्द्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते ।

इत्यत्र धनद्वैगुण्यनिबन्धनपरिभाषा वित्तागममध्येऽपरिगणिताऽपि सोपाधिकं स्वत्वमवगमयतीति विज्ञानेश्वरः । चन्द्रिकाकारस्तु—धनद्वैगुण्यपरिभाषा परिवृत्तिरूपेण तिलव्रीहिविनिमयवत् स्वत्वापादिकेत्याह । विज्ञानेश्वरमतावलम्बनेन परिभाषाया वाचिकदानान्तर्गततया स्वत्वापादकत्वमस्ति । औपाधिकस्थलेऽप्युपाधिनिवृत्तौ स्वत्वस्य दृढत्वात् । तथाहि–क्षेत्रादेतस्मादेतावद्धनमस्मभ्यं दीयतां अवशिष्टं गृह्यताम् । यद्वा–एतावद्द्रव्यं गृहीत्वा तदृणं संशोध्यतां अवशिष्टं गृह्यतां इति परिभाषायामवशिष्टद्रव्ये स्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापत्तिपर्यन्ता भवत्येवेति दृश्यते । अथवा भारुचिमतावलम्बनेन कृत्ताकारकारितापरिभाषावष्टम्भितमानसिकदानान्ततया स्वत्वापादकत्वं परिभाषायास्समस्ति । ननु सङ्कल्पमात्रात् स्वत्वं नोत्पद्यते किन्तु सङ्कल्पात् स्वत्वमपैति । स्वत्वोत्पत्तिस्त्वार्जनादेवेति धनार्जननयसिद्धत्वात्तद्व्याकोपो मानसिकदानान्ततया परिभाषाया स्स्वत्वहेतुत्वोक्ताविति चेत्, मैवं, यदि धनार्जननयस्स्वत्वापाय

हेतुमानसिकक्रियैवेति स्यात्तदाऽयं दोषः प्रादुष्यात्, न च तथा, स्वत्वापायहेतुः क्वचित्सङ्कल्पः क्वचिन्महापातकादिरित्युक्तम् । अतश्च तस्याप्यधिकरणस्य लौकिकव्यवहारानुरोधितया स्वत्वस्यापि लौकिकत्वाच्च । यथा लोके दृष्टं तथा स्वीकर्तव्यम् । कुत्तादिव्यवहारे मनासिकी क्रियैव स्वत्वहेतुरिति संमतं लौकिकानाम् । तथा च दृश्यते—बहुशो बहवः कायस्थाः क्षेत्रादिकं देशग्रामादिकं वा कुत्ताकारेण गृह्णन्तः पाक्षिकापचय भारसहिष्णवो दृश्यन्ते । तत्र ग्रामादिक्षेत्रादिदेशाद्युपचितपारिभाषिकद्रव्ये तेषां व्यवहाराणां स्वाम्यं विद्यत एव । स चाऽगमस्साधीयानेव । ननु कुत्ताकारेण गृहीतद्रव्ये उपचयो विद्यते चेत्तमुपचयं कुत्ताप्रदातार उत्तमपदाभिलप्यास्स्वीकुर्वन्ति परिदृश्यन्ते च, मैवं, यदि कौत्तिकस्त्वपचयभारसाहिष्णुर्न भवे[1]त्तदाऽप्युत्तमस्याप्युपचयापायसहिष्णुत्वं न स्यात् । कौत्तिकत्वप्रसिद्धिर्याम(दुग्ध)त्वरुद्धभोगप्रदानान्यथाकरणमूला । अत एवोक्तं विष्णुना—

कौत्तिकोऽपचयभारसहिष्णुरुत्तमस्तूपचयापायसहिष्णुरिति । अत्र भारुचिः—

कुत्तोपजीवी—कौत्तिकः । कुत्ताप्रदातोत्तमः । कुत्ता-नाम-गृहक्षेत्रारामग्रामदेशादिपदार्थसमृद्धफलप्राप्त्यर्थं यस्मैकस्मैचिद्व्यवहारिणे तद्गृहादिपदार्थजातसन्दानामिति । सन्दानं नाम-सम्यग्दानं न भवति, औपाधिकदानरूपत्वात् कुत्तायाः, अपि तु सन्दानं—बन्धनं उत्तमस्याप्युपचयानङ्गीकारेण कौत्तिक एव बन्धनरूपत्वात् सन्दानं । कुत्तेत्युपचर्यते । सदानं नाम—त्यागमात्रमिति केचित्, अत्राऽयं विशेषः—यद्यनयोः कौत्तिकोत्तमयोः

[1] तदाऽत्यन्तमस्याप्यु.

र्वीयते समयः 'उपचयश्चेन्मयोत्तमेन सोढव्यः अपचयश्चेत्त्वया कौत्तिकेन सोढव्य' इति, तदा संविदनुसरणे उपचये विद्यमानेऽपि विष्णुवचनानुसारेण पादमात्रोपचय एव स्वाम्यं कौत्तिकस्य । तथा च विष्णुः—

पादमात्रोपचये कौत्तिकस्य स्वाम्यम् ।

इति । अत्र भारुचिः—

सोऽयमुपचयः कुत्तातः ,पादमात्रं चेत्तस्मिन्नेवोपचये उत्तमो मनसा इममुपचयं कौत्तिको गृह्णीत, अन्यदायनाशयो स्स्वाम्यधीनत्वं न तु कौत्तिकस्य । पादाधिक्यएव स्वाम्या त्तस्येति स्मरति । तदा तस्मिन् पादमात्रोपचितद्रव्ये उत्तमस्य स्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापत्तिपर्यन्ता भवतीति तात्पर्यमिति । अयमाशयः—मानसिकमपि दानं त्यागात्मकं स्वत्वापादकमिति वैष्णवं मतमिति । उत्तमो मनसाऽयं कौत्तिक इममुपचयं गृह्णात्विति वदता भारुचिना यावत्युपचिते द्रव्ये उत्तमस्य मानसिकत्यागः तावत्यापि स्वत्वं वैष्णवं पादमिति मतं ; ततो न्यूनेन न भवितव्यमिति । अत्र केचिदाहुः—अनेनैव न्यायेन कुत्तायाः अपचये विद्यमानेऽपि पादमात्रमुत्तमेन सोढव्यं । ततो न्यूनं दूरत एव, तत्राधिकमैच्छिकमिति विष्णुवचनस्य तात्पर्यार्थ इति—

इति मानुषप्रमाणनिर्णयः

अथ दिव्यप्रमाणनिरूपणम्.

अथ दिव्यप्रमाणनिरूपणम् ।

अत्र नारदः—

यथा विधानेन सदा पञ्च दिव्यानि सर्वतः ।
ददद्राजाऽभियुक्ताय प्रेत्य स्वर्गेऽभिनन्दति ॥

पञ्च दिव्यानि — तुलाऽग्निरापो विषं कोश इति, यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानाहुर्विशुद्धये।

इति। अनेन अभियोक्तॄणामेतानि दिव्यानि भवन्तीत्यर्थादुक्तं भवति। यथाऽऽह कात्यायनः—

न कश्चिदभियोक्तारं दिव्येषु विनियोजयेत्।
अभियुक्ताय दातव्यं दिव्यं दिव्यविशारदैः॥

इति। कश्चित्—सभापत्यादिः दिव्यविशारदाः—प्राड्विवाकादयः। अनेनार्थिप्रत्यर्थिनोरन्योन्येच्छया दिव्याङ्गीकारेणायं नियम इत्यर्थादुक्तं भवति। उक्तं च याज्ञवल्क्येन—

रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः॥

इति। शिरो नाम व्यवहारस्य चतुर्थः पादो जयपराजयलक्षणः। तेन च दण्डो लक्ष्यते। रुच्या—अभियोक्त्रभियुक्तयोः परस्परानुमत्या अन्यतरः—अभियोक्ता अभियुक्तो वा दिव्यं कुर्यात्। इतरः अभियुक्तः अभियुक्तो वा शिरः—शारीरमर्थदण्डं वा वर्तयेत्—अङ्गीकुर्यात्। पञ्च दिव्यानीति महाभियोगविषयं। यदाह याज्ञवल्क्यः—

महाभियोगेष्वेतानि।

इति। एतानि महाभियोगेष्वेव नान्यत्रेति नियम्यते।

घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशस्तथैव च।
तण्डुलाश्चैव दिव्यानि सप्तमं तप्तमाषकम्॥

इति। इदमपि फालधर्मयोरुपलक्षणाम्। यथाऽऽह बृहस्पतिः—

घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्च पञ्चमः।
षष्ठं तु तण्डुलाः प्रोक्तं सप्तमं तप्तमासकम्॥

अष्टमं फालमित्युक्तं नवमं धर्मजं स्मृतम् ।
दिव्यान्येतानि सर्वाणि निर्दिष्टानि स्वयम्भुवा ॥

इति। नन्वल्पाभियोगेऽपि कोशोऽस्त्येव, 'कोशमल्पेऽपि दापयेत्' इति स्मरणात्, सत्यं, कोशस्य तुलादिषु पाठो न महाभियोगेष्वेवेति नियमार्थः, किन्तु सावष्टम्भाभियोगेषु प्राप्त्यर्थः, अन्यथा शङ्काभियोग एव स्यात् ॥

अवष्टम्भाभियुक्तानां धटादीनि विनिर्दिशेत् ।
तण्डुलाश्चैव कोशश्च शङ्कास्वेव न संशयः ॥

इति स्मरणात्। शङ्कास्विति विश्वासादीनामुपलक्षणार्थं। यथाऽऽह कात्यायनः—

शङ्काविश्वाससन्धाने विभागे रिक्थिनां तथा ।
क्रियासमूहकर्तृत्वे कोशमेव प्रदापयेत् ॥

इति । अत्र कोशश्शिरोरहितः—

शिरस्थायिविहीनानि दिव्यानि परिवर्जयेत् ।
धटादीनि विषान्तानि कोश एकोऽशिरास्स्मृतः ॥

इति । शङ्काभियोगादिविषय इति शेषः—

महातत्वाभियोगे तु कोशोऽपि शिरस्स्थायिविहीनो वर्ज्यः 'शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि' इति पञ्चदिव्यशेषतया याज्ञवल्क्ये नोक्तत्वात् । महाभियोगेष्वपि राजप्राड्विवाकसभाव्यतिरिक्तसभायां धटादिदिव्यपञ्चके न शिरःकल्पनमस्ति ॥

वाग्दण्डो धिग्दमश्चैव विप्रायत्तावुभौ स्मृतौ ।
अर्थदण्डवधावुक्तौ राजायत्तावुभावपि ॥

राजप्राड्विवाकसभायामेव दण्डस्य व्यवहारशिरस्थानीयस्योक्तत्वात् । ततश्च—

वाग्दण्डो धिग्दमश्चैव विप्रायत्तावुभौ स्मृतौ ।
अर्थदण्डवधावुक्तौ राजायत्तावुभावपि ॥

राजप्राड्विवाकसभायामेव दण्ड्यस्य व्यवहारशिरस्थाननियमस्योक्तत्वात् । ततश्च—

शिरस्स्थायिविहीनानि दिव्यानि परिवर्जयेत् ।

इत्यादि वचनं राजप्राड्विवाकादिसभायामेवेति मन्तव्यं । धर्मजं तु दिव्यमल्पविषयमेव । तस्य प्रायश्चित्तादौ शङ्काभियोगे युक्तत्वात् । यथाऽऽह पितामहः—

हन्तॄणां याचमानानां प्रायश्चित्तार्थिनां नृणाम् ।
सन्दिग्धेष्वभिशस्तानां धर्म्याधर्म्यपरीक्षणम् ॥

एतानि च दिव्यानि शपथाश्च यथासंभवमृणाधानादिषु विवादेषु प्रयोक्तव्यानि ।

स्थावरविषये लिखितस्याभावे दिव्यावसरः.

यत्पितामहवचनम्—

स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत् ।

इति । तदा लिखितसाध्यादिसद्भावे दिव्यानि परिवर्जयेदिति व्याख्येयम्—

ननु विवादान्तरेष्वपि प्रमाणान्तरसंभवे दिव्यानामनवतार एव, सत्यं, ऋणादानादिषु विवादेषूक्तलक्षणसाक्ष्युपन्यासे अर्थिना कृतेऽपि प्रत्यर्थी यदि दण्डाभ्युपगमावष्टम्भेन दिव्यमवलम्बते तदा दिव्यमपि भवति, साक्षिणामतिशयदोषसंभवात् । दिव्यस्य निर्दोषत्वेन वस्तुतस्सर्वविषयत्वात् ।

यथाऽऽह नारदः—

तत्र सत्ये स्थिरो धर्मो व्यवहारश्च साक्षिणि।
दैवसाध्ये पौरुषेयीं न लेख्यं वा प्रयोजयेत् ॥

इति। स्थावरेषु तु प्रत्यर्थिना दण्डावष्टम्भनेन दिव्यालम्बने कृतेऽपि सामन्तादिदुष्टप्रमाणसंभवे दिव्यं न ग्राह्यमित्येवमर्थं—

स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्।

इति पितामहवचनं; नात्यन्तिकदिव्यनिराकरणार्थं, लिखितसामन्ताद्यभावे स्थावरविवादेष्वनिर्णयप्रसङ्गात्। यत्तु—

लेख्यं यत्र न विद्येत न भुक्तिर्न च साक्षिणः।
न च दिव्यावतारोऽस्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः ॥

इति। दिव्यावताराभावस्य स्थावरविवादस्यैव विषयत्वात्। तत्र निर्णायकं राजाज्ञेति स्थावरविवादेष्वनिर्णयप्रसङ्गादित्युक्तिरयुक्तेति न वाच्यं। एतच्चन्द्रिकाकारविज्ञानियोगिमतभेदेन व्यवस्था पूर्वमेवोक्तेति नात्र प्रपञ्च्यते। दिव्यानां कालविशेषमाह—

## दिव्यानां कालविशेषः.

पितामहः—

पूर्वाह्णेऽह्नि परीक्षा स्यात् पूर्वाह्णे च धटो भवेत्।
मध्याह्ने तु जलं देयं धर्मतत्वमभीप्सता ॥
दिवसस्य तु पूर्वाह्णे कोशशुद्धिर्विधीयते।
रात्रौ तु पश्चिमे यामे विषं देयं सशीतलम् ॥

इति। अनुक्तवेळाविशेषाणां तण्डुलतप्तमाषप्रभृतीनां पूर्वाह्ण एव प्रधानं परिकीर्तितमिति सामान्यनारदस्मरणात्। तथाच हारीतेन विशेषो दर्शितः—

आग्नेऽशिशिरहेमन्तौ वर्षाश्चैव प्रकीर्तिताः।

शरद्ग्रीष्मे तु सलिलं हेमन्तशिशिरे विषम् ॥
चैत्रो मार्गशिरश्चैव वैशाखश्च तथैव च ।
एते साधारणा मासा दिव्यानामविरोधिनः ॥
कोशस्तु सर्वदा देयः तुला स्यात्सार्वकालिकी ।

दिव्यप्रतिषेधकालः

कोशग्रहणं सत्रशपथानामुपलक्षणं । तण्डुलादीनां पुनर्विशेषेणाभिधानात्सार्वकालिकत्वं । केषां चित्कालानांप्र तिषेधः—

न शीततोये शुद्धिस्स्यान्नोष्णकालेऽग्निशोधनम् ।
न प्रावृषि विषं दद्यात्प्रवाते न तुलां तथा ॥
नापराह्णे न सन्ध्यायां न मन्याह्ने कदाचन ।

शीतः—शीतकालः । अथ विवादिनोर्जात्यादितो दिव्यव्यवस्थामाह बृहस्पतिः—

ऋणादिकेषु कार्येषु संविवादे परस्परम् ।
द्रव्यसंख्या(दिना)न्विता देया पुरुषापेक्षया तथा ॥

पुरुषापेक्षया— वादिनोर्जात्यापेक्षयेत्यर्थः—

वर्णभेदेन दिव्यं

यथाऽऽह स एव—

ब्राह्मणस्य घटो देयः क्षत्रियस्य हुताशनः ।
वैश्यस्य सलिलं देयं शूद्रस्य विषमेव तु ॥
साधारणस्समस्तानां कोशः प्रोक्तो मनीषिभिः ।

इति । अनित्या चेयं व्यवस्था । यथऽऽाह कात्यायनः—

सर्वेषु सर्वदिव्यं वा विषवर्जं द्विजोत्तम ॥

इति। अत्र विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम्।
अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवास्सप्त विषस्य वा॥

स्त्री इति स्त्रीमात्रं; जातिवयोऽवस्थाविशेषानादरेण—

बाल आषोडशाद्वर्षात्। तथा वृद्धः—आशीतिकापरः। एतच्च सव्रतानां अत्यन्तार्तानां स्त्र्यादीनां वेदितव्यं। यथा पितामहः—

स व्रतानां भृशार्तानां याचितानां तपस्विनां।
स्त्रीणां च न भवेद्दिव्यं यदि[1] धर्मानपेक्षते।

इति।

स्त्रीणां तु न विषं प्रोक्तं न चापि सलिलं स्मृतम्।
धटकोशादिभिस्तासामन्तस्तत्वं विचारयेत्।

इति विषसलिलव्यतिरिक्तधटकोशादिभिश्शुद्धिविधानात्। स्त्रीणामिति बालानामुपलक्षणं। सव्रतानामित्यादिसामान्येनाभिधानात्। ब्राह्मणादीनामपि न सार्वकालिकस्तुलादिनियमः—

सर्ववर्णानां कोशाच्छुद्धिः।

सर्वेषामेव वर्णानां कोशाच्छुद्धिर्विधीयते।
सर्वाण्येतानि सर्वेषां ब्राह्मणस्य विषं विना॥

इति। तदयमत्र निष्कर्षः— वर्षास्वग्निरेव सर्वेषां, हेमन्तशिशिरयोस्तु क्षत्रियादित्रयाणामग्निविषयो विकल्पः, ब्राह्मणस्य त्वग्निरेव न कदाचिद्विषं, ग्रीष्मशरदोस्तु सलिलमेव, साधारणे काले बहुदिव्यसमवाये तुलादिनियम इति।

---

[1] धर्मस्त्वपेक्षितः.

पुरुषविशेषे दिव्यविशेषनिषेधः

लोहकारादीनां तु विशेषमाह कात्यायनः—

न लोहशिल्पिनामग्निः सलिलं नाम्बुसेविनाम् ।
मन्त्रयोगविदां चैव विषं दद्याच्च न क्वचित् ॥
तण्डुलैर्न नियुञ्जीत व्रणिनं मुखरोगिणम् ।
कुष्ठिनां वर्जयेदग्निं सलिलं श्वासकासिनाम् ॥
पित्तश्लेष्मवतां नित्यं विषं तु परिवर्जयेत् ।
मद्यपस्त्रीव्यसनिनां कितवानां तथैव च ॥
कोशः प्राज्ञैर्न दातव्यो ये च नास्तिकवृत्तयः ।

इति । नारदोऽपि—

महापराधे निर्धर्मे कृतघ्ने शीलकुत्सिते ।
नास्तिके दृष्टदोषे च कोशदानं विवर्जयेत् ॥

एवं च क्लीबादेरग्निः कोशश्च वर्ज्यः । यथाऽऽह नारदः—

[1] क्लीबातुरान् सत्त्वहीनान् परितश्चार्दितान् नरान् ।
स्त्रीबालवृद्धांश्चान्धांश्च परीक्षेत धटे सदा ॥

नित्या चेयं व्यवस्था । सदेत्यभिधानात् । अत्र विशेषमाह स एव—

येषु वादेषु दिव्यानि प्रतिषिद्धानि यत्नतः ।
कारयेत्स्वजनैस्तानि नाभिशस्तं त्यजेन्मनुः ॥

न त्यजेत् उक्तप्रकारेणाविशोध्येति शेषः ।

द्रव्यसङ्ख्याविशेषेण दिव्यविशेषः ।

कात्यायनस्तु विशेषमाह—

सर्वद्रव्यप्रमाणं तु ज्ञात्वा दिव्येन योजयेत् ।

---

[1] बालवद्धस्त्र्यन्धकांश्च.

ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णानां शतनाशे विषं स्मृतम् ॥
अत्र सुवर्णानां संख्यां ज्ञात्वा अपहृतद्रव्यस्य सुवर्णात्मकतया-संख्यासंख्येयतां कृत्वेत्यर्थः।

अशीतेस्तु विनाशे वै दद्यादेव हुताशनम्।
षष्ट्या नाशे जलं देयं चत्वारिंशति(के)वै धटम् ॥
विंशद्दशविनाशे तु कोशदानं विधीयते।
पञ्चाधिकस्य वा नाशे तदर्धार्धस्य तण्डुलाः ॥
तदर्धार्धस्य नाशे तु [1]पुत्रदारशिरांसि च।
तदर्धार्धस्य नाशे तु लौकिक्यश्च क्रियास्स्मृताः।

अत्र सर्वत्र विनाशशब्देन अपह्नवो लक्ष्यते। तस्यैव प्रमाण-प्रस्तावहेतुत्वात्। चशब्देन स्मार्तशपथास्समुच्चिताः। यथाऽऽह हारीतः—

निष्के तु सत्यवचनं द्विनिष्के पादलम्भनम्।
ऊनत्रिके तु पुष्पं स्यात् कोशदानमतः परम् ॥

अत्र निष्कशब्दो लौकिकनिष्कवचन इति चन्द्रिकाकारः; तथैवात्र व्यवहारादिति। अत्र विशेषमाह विष्णुः—

[2]यथार्हं समयक्रिया। राजद्रोहसाहसेषु यथाकामम्। निक्षेपस्तेयेष्वर्थपरिमा(णं)णात् सर्वेषु अर्थजातेषु मूल्यं कनकं परिकल्पयेत्। तत्र कृष्णलोने दूर्वाकरं शापयेत्। द्विकृष्णलोने तु तिलकरं। त्रिकृष्णलोने रजतकरं। चतुष्कृष्णलोने सुवर्णकरं। पञ्चकृष्णलोने[3] सीरोद्धृतमहीकरं। सुवर्णार्धोने कोशो देयश्शूद्रस्य। ततः परं यथार्हं धटाग्निचम्बुविषाणामन्यतमं, द्विगुणार्धे यथाऽहिता समयक्रिया वैश्यस्य [4]त्रिगुणार्धे-

[1] स्पृशेत्पुत्रादिमस्तकम्. [2] मुद्रितकोशे यथार्हं अर्थपरिमाणात् इत्यंशो नदृश्यते. [3] शिरोधृतमही. [4] त्रिगुणे,

राजन्यस्य। चतुर्गु(णे)णार्थे ब्राह्मणस्य। प्राग्दृष्टदोषब्राह्मणं दिव्यानामन्यतममेव स्वल्पेऽप्यर्थेऽपि दाप(कार)येत्। सुविदितः सच्चरित्रं न महत्यर्थेऽपि इति। एतद्विष्णुवचनं कृत्स्नशः सर्वस्मृत्यनुरोधेन व्याख्यास्यते। समयक्रिया—लौकिकक्रिया। सीरोद्धृतमहीकरं—लाङ्गलोद्धृतलोष्टकरमित्यर्थः। अत्र ऊनग्रहणमधिके शापनिवृत्त्यर्थं। अत्र विशेषमाह मनुः—

एषा सङ्ख्या निकृष्टानां मध्यानां द्विगुणा स्मृता।
चतुर्गुणोत्तमानां तु सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥

इति। एषां सङ्ख्याकृष्णलं तु व्यावहारिकनिष्कस्य विंशतितमो भागः, मतान्तरे तु पञ्चकृष्णलाः पलं, तत्र लौकिकव्यवहारे मानचतुष्टयं कृष्णलमित्युच्यते, तण्डुलपरिमितमानमिति प्रसिद्धम्। मानवयाज्ञवल्क्ययोश्शास्त्रयोः काकणिकद्वयन्यूनमानसप्तकं कृष्णलमित्युच्यते। वैष्णवे धर्मशास्त्रे काकणिकत्रयन्यूनं मानवकृष्णलमित्युच्यते। एवं त्रिविधेषु कृष्णलेषु सत्सु वैष्णवधर्मशास्त्रोक्तकृष्णलमेवाश्रयितुमुचितमिति। काकिणिकत्रयं न्यूनमानषट्कं कृष्णलमेवात्र स्वत आश्रियते, मानवकृष्णलं तु कर्तृगुणादिभिराश्रियते। तत्र यावताऽपहृतद्रव्येण कृष्णलपूर्तिः। तत्कृष्णलापहारे उपोषितस्स्नात आर्द्रपटः शूद्रो देवब्राह्मणसन्निधौ दूर्वाकरश्शपथं कुर्यात्। एवंभूतं द्वितीयकृष्णलादारभ्य आतृतीयकृष्णलाच्छूद्रः तिलकरः शपथं कुर्यात्. तृतीयकृष्णलादारभ्य आचतुर्थाद्रजतपाणिः शपथं कुर्यात्। कृष्णलचतुष्टयादारभ्यापञ्चमाच्छूद्रो हिरण्यपाणिः शपथं कुर्यात्। कृष्णलपञ्चकादारभ्याषष्ठाच्छूद्रो लाङ्गलोद्धृतलोष्टकरः शपथं कुर्यात्।

षष्ठकृष्णलादारभ्य दशमानानां दशकादर्वाक्छूद्रो निकृष्टश्चेत्पुत्रेण भार्यया वा शपथं कुर्यात्। सच्छूद्रश्चेदस्मिन्नेवार्थे सर्वैः पातकैः शपथं कुर्यात्। यद्यप्यत्र—

शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥

पुत्रदारानवाप्यैनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ।

इति। द्रव्यप्रमाणविशेषो नोक्तः; तथाऽप्यौचित्येन कृष्णलपञ्चकपरिसमाप्तेरारभ्य दशमानपणादर्वागेतौ भवितुमर्हतः। तथाच बृहस्पतिना—विषादीनि धर्मजान्तानि दिव्यान्युक्त्वोक्तं—

सत्यं वाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च ।
देवब्राह्मणपादांश्च पुत्रदारशिरांसि च ॥
एते तु शपथाः प्रोक्ताः सत्येर्थे सुकरास्सदा ।

इति। एवमेतेषां धर्मजं प्रत्यल्पार्थविषयत्वात् प्रत्ययस्वरूपपरामर्शनेनैव सीरोद्धृ(शिरोधृ)तमर्हीं प्रति गुर्वर्थविषयत्वावगमात्। पणदशकादर्वाक् कृष्णलपञ्चकादूर्ध्वं एतानि भवन्तीत्युक्तं। पणानां दशकादारभ्य पञ्चदशकादर्वाक् शूद्रस्य धर्मशोधनं भवति। अस्मिन्नेवार्थे हलोपजीविनां कृषिकाणां फालं दातव्यमिति। तथाच बृहस्पतिः—

शते हृतेऽपहुते च दातव्यं धर्मशोधनम् ।
गोचारस्य प्रदातव्यं सभ्यैः फालं प्रयत्नतः ॥

इति। मानानां शतेऽपहुते च शूद्रस्य धर्मशोधनं भवति, मानशतस्य दशपणात्मकत्वात्। पणदशकादारभ्य पणपञ्चदशकादर्वाग्धर्मप्रत्ययो भवतीत्यर्थः। अस्मिन्नेवार्थे गोचारस्य फालं

गोचारस्य—कृषीवलस्य शूद्रस्येत्यर्थः। "शूद्रस्य फालं दातव्यं," इति गौतमस्मरणात् । पञ्चदशपणादारभ्य त्रिंशत्पणादर्वाक् शूद्रस्य कोशदानम्। त्रिंशत्पणादारभ्य चत्वारिंशत्पणादर्वाक् शूद्रस्य तण्डुलभक्षणं भवति । चत्वारिंशत्पणादारभ्य पञ्चाशत्पणादर्वाक् शूद्रस्य तप्तमाषा भवन्ति। तथाच बृहस्पतिः—

चतुश्शताभियोगे तु दातव्यस्तप्तमाषकः ।
त्रिंशतस्तण्डुला देयाः कोशश्चैव तदर्धके ॥

चतुश्शताभियोगे—शतचतुष्टयमानसुवर्णविषयाभियोगे इत्यर्थः । तत्र तप्तमाषो दातव्यः । तेषां चत्वारिंशत्पणात्मकत्वात् । चत्वारिंशत्पणाभियोगे शूद्रस्य तप्तमाषो दातव्यः इति यावत् ॥ त्रिशते तण्डुला देया इत्यत्रापि शतत्रयमानसुवर्णे त्रिंशत्पणात्मके शूद्रस्य तण्डुला देया इति। तथा—"कोशश्चैव तदर्धके" इति पञ्चदशपणात्मके पञ्चाशदधिकशतमानसुवर्णे शूद्रस्य कोशो देय इति । तथा पञ्चाशत्पणादारभ्य सप्ताधिकषष्टिपणादर्वाक् शूद्रस्य तुलाधारणं भवति । सप्ताधिकषष्टिपणादारभ्य पञ्चाधिकसप्ततिपणादर्वाक् शूद्रस्य जलप्रत्ययो भवति। पञ्चाधिकसप्ततिपणादारभ्य शतपणादर्वाक् शूद्रस्य परशुर्भवति । शतपणादारभ्य शूद्रस्य विषभक्षणमेव । तथा च बृहस्पतिः—

विषं सहस्रेऽपहृते पादोने तु हुताशनः ।
त्रिपादो (भागो) ने च सलिलं अर्धे देयो धटस्सदा ॥

पणशतात्मकसहस्रमानसुवर्णे शूद्रस्य विषभक्षणं भवति। मानसहस्रचतुर्भागहीने पञ्चसप्ततिपणात्मके शतसप्तमाने शूद्रस्य परशुधारणं। तथा सहस्रमानसुवर्णस्य तृतीयभागहीने सप्त-

षष्टिपणे शूद्रस्य जलप्रत्ययो भवति। पञ्चाशत्पणात्मके सहस्र मानार्धे शूद्रस्य तुलाधिरोहणं भवतीत्यर्थः।

ननु विषं सहस्र इत्यादौ सहस्रादिसंख्यानां संख्येयत्वेन तण्डुलतुलितमानसुवर्णमेव ग्राह्यमिति कथमवसीयते। उच्यते—

सर्वद्रव्यप्रमाणं तु ज्ञात्वा हेतुं प्रकल्पयेत्।
हेमप्रमाणयुक्तं तु तथा दिव्यं प्रयोजयेत्॥
शते विषं तु पादोने दत्तभुक्ततृतीयके।
आपस्त्रिभागहीने तु शतार्धे तु तुला स्मृता॥
कोशदानं तदर्धे वा दशपञ्चकसप्तसु।
तदर्धे तण्डुला ज्ञेयास्तदर्धे तप्तमाषकम्॥

इति कात्यायनः। तथाच—

ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णस्य शतमाने विषं स्मृतम्।
अशीतेस्तु विनाशे तु हुतभुक्प्रत्ययस्स्मृतः॥

हुतभुक्—परशुः।

षष्ट्या नाशे जलं देयं स्याच्चत्वारिंशके धटः।
त्रिंशाद्विनाशे वा कोशदानं तत्र बृहस्पतिः॥
पञ्चार्धैकस्य वा नाशे तदर्धस्य तु तण्डुलाः।

इति वृद्धमनुः। अनयोः कात्यायनवृद्धमनुवचनयोः शतनाशे विषमुक्तं। बृहस्पतिवचने तु सहस्रनाशे विषमुक्तमिति; अनेन ताभ्यां महान्विरोधोऽस्तीति प्रतीयते। तद्विरोधपरिहारार्थं भूयसांन्यायेन वचनद्वयानुसारेण बृहस्पतिवचनं योजनीयं। तथा च सति धर्मशास्त्रेषु दण्डविधानादौ संख्यादिमात्रे निर्दिष्टे पणानां व्यवहारार्थतया क्लृप्तत्वात्संख्येयतया प्रायेण पणा एव तत्र गृह्यन्त

इति इहापि कात्यायनवृद्धमनुवचनगतशतादिसंख्यानां संख्येयत्वेन पणा एव गृह्यन्ते । एवंच बृहस्पतिवचनगतसहस्रसंख्यादीनां संख्येयतया तण्डुलतुलितमानसुवर्णे गृहीते "मानस्तण्डुलमात्रं स्यात् दशमानः पणः स्मृत" इत्यादिवचनदर्शनाच्छतसहस्रयोरविरोधः । यदपि याज्ञवल्क्यवचनम्—

नासहस्राद्धरेत्फालं न विषं न तुलां तथा ।

अत्र सहस्रशब्दः पादोनार्धोनयोरुपलक्षणार्थ इति न विरोधः । तत्र फालशब्दः परशुपरः । मुख्यफालशब्दस्याल्पार्थविषयत्वस्य दर्शितत्वात् । यत्त्वत्र वृद्धमनुनोक्तं—

अशीतेस्तु विनाशे तु हुतभुक्प्रत्ययस्स्मृतः ।

यच्च कात्यायनेनोक्तं—

शते विषं तु पादोने हुतभुक्तत्र दीयते ॥
आपस्त्रिभागहीने तु शतार्धे तु तुला स्मृता ।

इति । एताभ्यां वचनाभ्यां एवं प्रतीयते—पञ्चसप्तत्या आरभ्य अशीतेरर्वागग्निः उदकं च प्राप्तं; एवं षष्ट्या आरभ्य सप्तषष्टिप्रदेशादर्वाक् जलघटप्राप्तौ पुत्रसहितोत्कृष्टस्य पुरुषस्य लघुप्रत्ययो भवति । अपुत्रस्य गुरुप्रत्ययो भवतीति व्यवस्थामाह वरदराजः ।

तदर्धे तण्डुला देयास्तदर्धे तप्तमाषकम् ।

इति अल्पविषये तप्तमाषविधानं चौर्यादिशङ्काविषयमित्यविरोधः ।

दत्तस्यापह्नवो यत्र प्रमाणं तत्र कल्प्य(ल्पयेत्) ते ।
स्तेयसाहसयोर्दिव्यं स्वल्पेऽप्यर्थे प्रदापयेत् ॥

इति कात्यायनवचनात् । एवमत्र सिद्धान्तितार्थस्य च विरुद्धार्थप्रतिपादकानि स्मृतिवचनानि सन्ति ; तेषामेव व्यवस्थां

कल्पयित्वा तद्विरोधपरिहारः कर्तव्य इत्यनुसन्धेयम् । ब्राह्मणस्यागामिकाल इत्यादि । अयमर्थः—भविष्यत्कार्यविषये तु ब्राह्मणस्यापि कोशो भवतीति । शूद्रस्येति–पूर्वोक्तद्रव्यप्रमाणानि शूद्रविषयाणीत्यर्थः । पूर्वोक्तसर्वविषयेषु द्विगुणार्थे वैश्यस्य शपथक्रिया भवति । त्रिगुणार्थे राजन्यस्य शपथक्रिया । चतुर्गुणार्थे ब्राह्मणस्य शपथक्रियेति द्रष्टव्यं, यत्तूक्तं । बृहस्पतिना—

एषा सङ्ख्या निकृष्टानां मध्यानां द्विगुणा स्मृता ।
चतुर्गुणा चोत्तमानां कल्पनीया परीक्षकैः ॥

इति । तत्तूत्तमादर्वाचीनानां मध्यमादुत्कृष्टानां त्रैगुण्यप्रतिपादनस्याप्युपलक्षकं विष्णुवचनानुरोधात् । अनेनैव व्याख्यानेन एषा संख्या निकृष्टानामित्यादि मनुवचनमपि व्याख्यातम् । शूद्रादर्वाचीनानामपि शूद्रवदेव दिव्यानि देयानि ।

शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजास्स्मृताः ।

इति मनुवचनात् । केषांचिद्ब्राह्मणानामपि शूद्रवदेव दिव्यं देयमित्याह कात्यायनः—

गोरक्षकान् वाणिजकान् शिल्पिनश्च कुशीलवान् ।
प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्राञ्छूद्रवदाचरेत् ॥

एतदुक्तं भवति—शूद्रस्य पुत्रदारादिशपथस्थाने वैश्यस्य गोबीजकाञ्चनैः शपथः । क्षत्रियस्य वाहनशस्त्रैः । ब्राह्मणस्य सत्यवाक्येन । अतश्च यद्वृत्तं ब्राह्मणस्य तत्प्रयुक्ताश्शपथाः कार्या इति । अत्र विवदन्ते वृद्धाः— केचिद्दिव्येषु पणानां संख्येयत्वेऽपि काकणिकचतुष्टये लोके पणव्यवहारात् काकणिकः पणचतुर्भाग इति वैयाकरणप्रसिद्धेश्च काकणिकचतुष्टयात्मकं सुव-

र्णपणमेव सहस्रादिशतादिसंख्यासंख्येयामिति मन्यन्ते । अन्ये तु ताम्रकाकणिकाभिप्राया सर्वदिव्येषु संख्येति मन्यन्ते । अपरे तु—

मानस्तण्डुलमात्रं स्याद्दशमानः पणस्स्मृतः ।

इत्यागमवचनाद्दशमानात्मक एव पण इति मन्यन्ते । अपरे—

माषो विंशतिमो भागो ज्ञेयः कार्षापणस्य तु ।
काकणी तु चतुर्भागो माषस्येति प्रकीर्तितः ॥

इति औशनसवचनात्—

तथा माषं बुधाः प्राहुः काकणीनां चतुष्टयम् ।
विंशातिस्स्यात्पुनस्तेषां स मुख्यः पण उच्यते ॥

इति भारद्वाजवचनात्—

माषो विंशतिमो भागः पणस्य परिकीर्तितः ।

इति कात्यायन (स्मरणा) वचनाच्च विंशतिमाषाः पण इति तद्विषया दिव्येषु संख्येति मन्यन्ते । तदेतदसारम्—

पणो विंशतिमाषस्तु दिव्यादन्यत्र कीर्तितः ।

इति कात्यायनवचनेन दिव्येषु विंशतिमाषस्य पणस्य निषेधात् । तथा ज्ञात्वा सुवर्णस्य संख्यां इति स्मृतेः—

सर्वद्रव्यप्रमाणं तु ज्ञात्वा हेम प्रकल्पयेत् ।

सर्वेष्वर्थजातेषु मूल्यं कनकं कल्पयेदित्येवमादिस्मृतिभ्यः सुवर्णस्यैव संख्येयत्वावगमात् । ताम्रिककार्षापणस्य दिव्येषु संख्येयत्वप्रापकवचनाभावाच्च सुवर्णपणानामेव दिव्येषु संख्येयत्वमुक्तं । यत्तु—चन्द्रिकाकारेण सहस्रादिसंख्यानां लौकिकनिष्कस्य संख्येयत्वमित्युक्तमिति । तत्तूक्तरीत्या सहस्रादिसंख्यानां

पणस्यैव संख्येयत्वस्य न्याय्यत्वात् निष्कप्रतिपादकवचनाभावाच्च हेयं । ननु काकणिकानामष्टकं तण्डुलशब्देनोच्यते । मानशब्देनापि तदेवोच्यते । तत्र दण्डप्रकरणे—

माषानष्टौ तु महिषीं सस्यघातस्य काकिणीम् ।

इति वचनात्—

दापयेत्पणपादं तु गां पादौ माहषीं तथा ।

इति वचनात् । पणपादद्वयाष्टमानमाषशब्दयोरेकार्थत्वावगमात् षोडशमाषात्मकः पण इति गम्यते । तथा च चरके—

उत्थितस्त्वर्कजालेन त्रसरेणुक उच्यते ।
अष्टकं त्रसरेणूनां लिक्षेति परिकीर्त्यते ॥
तास्तिस्रः सर्षपः प्रोक्तः काकिणी स्याच्च सा स्मृता ।
अष्टकं काकिणीनां तु तण्डुलः परिकीर्तितः ॥
तण्डुलं मानकं प्रोक्तं माषकः परिकीर्त्यते ।

यद्वस्तु स्मृतिषु मानशब्देनोच्यते तदेव वैद्यके मानशब्देनोच्यते ।

तद्द्वयं कृष्णलं प्रोक्तं मण्डिका कृष्णलद्वयम् ।
अस्तिकापणशब्दौ तु पर्यायेण प्रकीर्तितौ ॥

इति । अत्र षोडशात्मकः पण इति गम्यते । तथा वैखानससंहितायामपि—

मानस्तण्डुलमात्रं स्यादष्टमाषः पणस्स्मृतः ।

इति । तत्राप्यष्टकमेव काकिणीनां माषशब्देन तण्डुलशब्देन वोच्यते षोडशमानात्मकः पण इति; सत्यमेतत् । षोडशमाषात्मकः दशमाषात्मको वा पणः संख्येयत्वेन गृह्यते इति; तत्र शोध्यस्य गुणवत्त्वे षोडशमाषात्मकस्य संख्येयत्वेन ग्रहणम् ।

निर्गुणस्य शोद्धयत्वेऽस्य दशमाषात्मकस्य पणसङ्ख्येयत्वमिति व्यवस्था। अभिशापव्यवस्थया दिव्यव्यवस्थामाह कात्यायनः—

अपराधविशेषेण दिव्यस्थानानि.

इन्द्रस्थानेऽभिशस्तानां महापातकिनां नृणाम् ।
नृपद्रोहप्रवृत्तानां राजद्वारि प्रयोजयेत् ॥
प्रातिलोम्यप्रसूतानां दिव्यं देयं चतुष्पथे ।
ततोऽन्येषु तु कार्येषु सभामध्ये विदुर्बुधाः ॥

अन्येषु कार्येषु–स्वल्पकार्येषु–अधिककार्येष्वप्युत्तमानां सत्यादिपुष्पान्ताश्शपथा एव । दिव्यं देयमिति दिव्यग्रहणाद्धटादिविषान्तान्यवगन्तव्यानि । इन्द्रस्थानमिति प्रख्यातदेवतायतनमुपलक्षयति । यथाऽऽह नारदः—

सभाराजकुलद्वारदेवताचत्वरा इति ।

इमानि दिव्यानि जनसमक्षमेव देयानि । यथाऽऽह पितामहः—

प्रत्यक्षं दापयेद्दिव्यं राजा वाऽधिकृतोऽपि वा ।
ब्राह्मणानां श्रुतवतां प्रकृतीनां तथैव च ॥

प्रकृतयः—प्रजाः । अधिकृतः—प्राड्विवाकः । प्रतिगतमक्षं–प्रत्यक्षम् । अत्र विशेषमाह हारीतः—

धने प्रमुषिते चोरैः प्रहृतेऽपि धनी स्वयम् ।
परिमाणं स्वरूपं च शपथेन विशोधयेत् ॥

चोरैरपहृते द्रव्ये तद्द्रव्ये गुरुपरिमाणं (स्वरूपंच) वाऽल्पपरिमाणं वाऽनादृत्य शपथेनैव दण्डपाशिकानां द्रव्यपरिमाणं च द्रव्यवान् साधयेदित्यर्थः ।

इति सर्वदिव्योपयोगिनी मातृका समाप्ता ।

## दिव्यनिर्माणप्रकारः

अथ दिव्यनिर्माणप्रकार उच्यते । अत्र प्रजापतिः—

दिव्येषु सर्वकार्याणि प्राड्विवाकः प्रकाशयेत् ।
अध्वरेषु यथाऽध्वर्युः सोपवासो नृपाज्ञया ॥
छित्वा यज्ञीयवृक्षं तु यूपवन्मन्त्रपूर्वकम् ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः तुला कार्या मनीषिभिः ॥

अत्र प्राड्विवाकग्रहणाद्राजनियुक्तसभायामेव तुला न तु ग्रामादिसभासु तत्र प्राड्विवाकाभावात् । सोपवास इति पूर्वोक्तनियमानां उपलक्षणम् । नृपाज्ञया तुला कार्येत्यन्वयः । छित्वा—भेदयित्वा । मन्त्रपूर्वकमित्यत्र मन्त्रमाह—

"सौम्यो वानस्पत्य" इति । सौम्यः—सोमदैवत्यः । सोमो धेनुमित्यादिः । वानस्पत्यो–वनस्पतिदैवत्यः वनस्पते शतवल्शो विरोहेत्यादिः । ऋज्वी तुला कार्या खादिरी वा तैन्दुकी वेति विष्णुः । अत्र प्रजापतिर्विशेषमाह—

खादिरं कारयेत्तत्र निर्व्रणं शुक्लवर्जितम् ।

शुक्लो—निर्यासः ।

शिंशपां तदभावे तु सालं वा कोटरं विना ।
एवंविधानि काष्ठानि धटार्थं परिकल्पयेत् ॥
चतुर्हस्ता तुला कार्या पादौ चापि तथाविधौ ।
अन्तरं तु तयोर्हस्तौ भवेदध्यर्धमेव वा ॥
तोरणे च तथा कार्ये पार्श्वयोरुभयोरपि ।
धटादुच्चतरे स्यातां नित्यं दशभिरङ्गुलैः ॥

घटनिर्माणं

अवलम्बौ च कर्तव्यौ तोरणाभ्यामधोमुखौ ।
मृन्मयौ सूत्रसंबन्धौ घटमस्तकचुम्बिनौ ॥

इति । अत्र तुलार्थं वृक्षच्छेदनं सपरिकरायास्तुलायाः । अतश्च पादस्तम्भार्थमपि तद्वृक्षच्छेदनं कार्यमित्यवगन्तव्यम् । "चतुर्हस्ता तुला कार्या" इत्यनेन सपरिकरायास्तुलायाः प्रमाणमुक्तम् । तथाविधाविति—चतुर्हस्तप्रमाणावित्यर्थः । पादाविति–तुलाधारणार्थकाष्ठधारणार्थस्तम्भौ । तच्चतुर्हस्तमानौ करणीयहस्तद्वयादूर्ध्वम्—

हस्तद्वयनिखेयं तु प्रोक्तं कटकयोर्द्वयोः ।
षड्ढस्तं तु तयोः प्रोक्तं प्रमाणं तु प्रमाणतः ॥

इति । अक्षप्रमाणं तु तयोरन्तरालाभिधानेनैवार्थसिद्धं, तेन पादस्तम्भसक्तकटकाद्बहिर्निसृतो यथा भवति तथा हस्तद्वयात्सार्धहस्ताधिकोऽक्षदण्डः कार्य इत्यवगन्तव्यम् । हस्तः पुनश्चतुर्विंशत्यङ्गुलः—

तिर्यग्यवोदराण्यष्टौ ऊर्ध्वा वा व्रीहयस्त्रयः ।
प्रमाणमङ्गुलस्योक्तं वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलम् ॥

'हस्तौ वितस्तिद्वितयम्' इति स्मृतेः । तुलास्थौल्ये तु विशेषास्मृतेः यावति स्थौल्ये दार्ढ्यं तावत् स्थौल्यं कार्यं । यद्वा—आचारात् स्थौल्यविशेषो वेदितव्यः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं पितामहेन—

चतुर्हस्ता तुला कार्या दृढा ऋज्वी तथैव च ।
कटकानि च देयानि त्रिषु स्थानेषु यत्नतः ॥

कटकानि—लोहवलयानि । उपान्तयोर्मध्ये च देयानि । उपा-

न्तयोश्शिक्यधारणार्थं मध्येऽक्षकाष्ठे तुलाधारणार्थमिति विवेकः॥
यथाऽऽह पितामहः—

आयसेन तु पादेन मध्ये संगृह्य धर्मवित् ।
योजयेत्तु सुसंयुक्तां तुलां प्रागपरायताम् ॥

प्रागपरायतां—पूर्वपश्चिमदीर्घा मित्यर्थः ।

प्राङ्मुखो निश्चलः कार्यः शुचौ देशे धटस्सदा ॥
शिक्यद्वयं समासज्य पार्श्वयोरुभयोरपि ।
प्राङ्मुखान् कल्पयेद्दर्भान् शिक्ययोरिति निश्चयः ॥
[1]एकस्मिंस्तोलयेत्कर्तॄन् अन्यस्मिन् न्मृत्तिकां शुभाम् ।

कर्तुरिति पाठे तु कर्तारं—अभियुक्तमित्यर्थः ॥

पिटकं पूरयेत्तस्मिन इष्टकाग्रावपांसुभिः ।

अत्र मृत्तिकेष्टकाग्रावपांसूनां विकल्पो वेदितव्यः । एतच्च माषाणामुपलक्षणम् । 'माषैर्वा निकटं पूरयेत्, इति स्मृत्यन्तरवचनात् । विकटं—शिक्यान्तर्गतपात्रम् ॥

परीक्षका नियोक्तव्यास्तुलामानविशारदाः ।
वणिजो हेमकाराश्च कांस्यकारास्तथैव च ॥
कार्यः परीक्षकैर्नित्यमवलम्बसमो धटः ।
उदकं च प्रदातव्यं धटस्योपरि पण्डितैः ॥
यस्मिन्न प्लवते तोयं स विज्ञेयस्समो धटः ।
धटं तु कारयेन्नित्यं पताकाध्वजशोभितम् ॥
तोलयित्वा नरं पूर्वं ततस्तमवतारयेत् ।

एवमुक्तविधानां तुलां कृत्वा प्राड्विवाकः किं कुर्यादित्यत आह—

प्राङ्मुखः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्राड्विवाकस्ततो वदेत् ।

---

[1] पश्चिमे

एह्येहि भगवन् धर्म अस्मिन्दिव्ये समाविश ॥
सहितो लोकपालैश्च वस्वादित्यमरुद्गणैः ।
आवाह्य तु घटे धर्म पश्चादङ्गानि विन्यसेत् ॥
इन्द्रं पूर्वे तु संस्थाप्य प्रेतेशं दक्षिणे तथा ।
वरुणं पश्चिमे भागे कुबेरं चोत्तरे तथा ॥
अग्न्यादिलोकपालांश्च कोणभागेषु विन्यसेत् ।
इन्द्रः पीतो यमश्श्यामो वरुणस्स्फटिकप्रभः ॥
कुबेरश्च सुवर्णाभः अग्निश्चैव सुवर्णभः ।
तथैव निरृतिश्श्यामो वायुर्धूम्रः प्रदृश्यते ॥
ईशानस्तु भवेद्रक्तः एवं ध्यायेत्क्रमादिमान् ।
इन्द्रस्य दक्षिणे पार्श्वे वसूना (राध) वाहयेद्बुधः ॥
धरो ध्रुवस्तथा सोम आपश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥
देवेशेशानयोर्मध्ये आदित्यानां तथाऽयनम् ॥
धाताऽर्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा ।
इन्द्रो विवस्वान् पूषा च पर्जन्यो दशमस्स्मृतः ॥
ततस्त्वष्टा ततो विष्णुरजघन्यो जघन्यजः ।
इत्येते द्वादशादित्या नामभिः परिकीर्तिताः ।

अत्राजघन्यो जघन्यज इति त्वष्टृविष्णोर्विशेषणे । अतो न सङ्ख्यातिरेकः ।

अग्नेः पश्चिमभागे तु रुद्राणामयनं स्मृतम् ।
वीरभद्रश्च शम्भुश्च वागीशश्च महायशाः ॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी चापराजितः ।
भुवनाधीश्वरश्चैव कलीपा च विशांपते ॥

स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ।
प्रजेशरक्षसोर्मध्ये मातृस्थानं प्रकल्पयेत् ॥
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी चैव वैष्णवी ।
वाराही चैव माहेन्द्रा चामुण्डागणसंवृता ॥
निरृतेरुत्तरे भागे गणेशायतनं विदुः ।
वरुणस्योत्तरे भागे मरुतां स्थानमुच्यते ॥
[1]गगनस्स्पर्शनो वायुरनिलो मारुतस्तथा ।
प्राणः प्राणेशजीवौ च मरुतोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥

स्मृत्यन्तरे तु—

आवहो विवहश्चैव उद्वहः संवहस्तथा ।
निवहोऽधिवहश्चैव प्रवहोऽभिवहस्तथा ।

इति । एतयोर्विकल्पः—

घटस्योत्तरदिग्भागे दुर्गामावाहयेद्बुधः ।
एतासां देवतानां तु स्वनाम्ना पूजनं विदुः ॥
भूषावसानं धर्माय दत्वा चार्घ्यादिकं क्रमात् ।

भूषावसानं—भूषान्तं । तदयमत्र निष्कर्षः—तुलायामेह्यहीति मन्त्रेण धर्ममावाह्य आवाहिताय धर्माय अर्घ्यपाद्याचमनीयस्नानवस्त्राचमनीययज्ञोपवीताचमनीयमकुटकनकभूषान्तं दत्वा इन्द्रादीनां दुर्गान्तानामपि अर्घ्यादिभूषादिसपर्या पदार्थानुसमयेन दत्वा उभयेषां गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यादीनि दद्यादिति । गन्धपुष्पाणि घटपूजायां रक्तानि कार्याणि । यथाऽऽह नारदः—

रक्तैर्गन्धैश्च धूपैश्च दद्याद्दी(द्दू)पाक्षतादिभिः ।

---

[1] पवनः, वीरमित्रोदये, वा ।

अर्चयेत्तु घटं पूर्वं तथा शिष्टांश्च पूजयेत् ॥

इति । इन्द्रादीनां रक्तैरन्यैर्वा पूजनं; विशेषादर्शनात् । एतत्सर्वं पूर्वाह्णे कार्यम्—

पूर्वाह्णे सर्वदिव्यानां प्रदानमनुकीर्तितम् ।

इति नारदवचनात् । एतच्च प्राड्विवाकः कुर्यादित्याह प्रजापतिः—

प्राड्विवाकस्ततो विप्रो वेदवेदान्तपारगः ।
श्रुतवृत्तोपपन्नश्च शान्तचित्तो विमत्सरः ॥
सत्यसन्धश्शुचिर्दक्षः सर्वप्राणिहिते रतः ।
उपोषितश्शुद्धवासाः कृतदन्तानुधावनः ॥
सर्वासां देवतानां च पूजां कुर्याद्यथाविधि ।
चतुर्दिक्षु तथा होमः कर्तव्यो वेदपारगैः ।
आज्येन हविषा चैव समिद्भिर्होमसाधनैः॥
सावित्र्या प्रणवेनाथ स्वाहाऽन्तेनैव भावयेत् ।

इति । होमप्रकारो विज्ञानयोगिनोक्तः—

ऋत्विग्भिश्चतुर्भिः चतुर्दिक्षु लौकिकाग्नौ प्रणवादिकां गायत्रीमुच्चार्य पुनस्स्वाहाकारान्तं प्रणवमुच्चार्य समिदाज्यचरून् प्रत्येकमष्टोत्तरशतं जुहुयादिति ।

यं चार्थमभियुक्तस्स्याल्लिखित्वा तं तु पत्रके ।
मन्त्रेणानेन सहितं तत्कार्यं तु शिरोगतम् ॥

इति । एवं होमान्तां देवपूजां विधायानन्तरं अभियुक्तमर्थं मन्त्रसहितं पत्रे लिखित्वा तत्पत्रं शोध्यशिरोगतं कुर्यादित्यर्थः ॥

मन्त्रस्तु—

आदित्यचन्द्रावनलोऽनिलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥

इति । यत्तु प्रजापतिनोक्तं—

इमं मन्त्रविधिं कृत्स्नं सर्वदिव्येषु योजयेत् ।
आवाहनं च दिव्यानां तथैव परिकल्पयेत् ॥

इति । अस्यार्थः—धर्मावाहनादि शिरसि पत्रारोपणान्तमनुष्ठानकाण्डं सर्वदिव्यसाधारणमुक्तमिति मन्तव्यम् । अनन्तरं प्राड्विवाको धटमामन्त्र्य तं शोध्यं पुनरारोपयेत् ॥

समयैः परिगृह्याथ पुनरारोपयेन्नरम् ।
निवाते वृष्टिरहिते शिरस्यारोप्य पत्रकम् ॥

समयाः—शपथाः । शपथाश्च तेनैव दर्शिताः—

ब्रह्मघ्नो यस्य लोका ये ये लोकाः कूटसाक्षिणाम् ।
तुलाधारस्य ते लोकास्तुलां धारयतो मृषा ॥

इति । पुनरारोपणानन्तरं नारदः—

तस्मिन्नेव कृते लक्ष्ये लक्ष्यं कृत्वा द्विजो वदेत् ।
त्वं धट ब्रह्मणा दिष्टः परीक्षार्थं दुरात्मनाम् ॥
धकाराद्धर्ममूर्तिस्त्वं टकारात्कुटिलं नरम् ।
धृतो भावयसे यस्मात् धटस्तेनाभिधीयसे ॥
त्वं वेत्सि सर्वभूतानां पापानि सुकृतानि च ।
त्वमेव देव जानीषे न विदुर्यानि मानुषाः ॥

व्यवहाराभियुक्तोऽयं मानुषश्शुद्धिमिच्छति ।
तदेनं संशयादस्माद्धर्मतस्त्रातुमर्हसि ॥

इति। अनन्तरं तु शोध्यस्तुलामामन्त्रयेत्। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

तुलाधारणविद्वाद्भिः अवियुक्तस्तुलाश्रितः ।
प्रतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वाऽवतारितः ॥

तुलाभिमन्त्रणम्

त्वं तुले सत्यधामाऽसि पुरा देवैर्विनिर्मिता ॥
तत्सत्यं वद कल्याणि संशयान्मां विमोचय ।
यद्यस्मि पापकर्माऽहं ततो मां त्वमधो नय ।
शुद्धश्चेद्गमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत् ॥

अत्र नारदः—

शिक्यद्वयं समासज्य धटकर्कटयोर्दृढम् ।
एकत्र शिक्ये पुरुषं अन्यत्र तुलयेच्छिलाम् ॥

धटकर्कटयोः—कर्कटशृङ्गोपमयोः लोहवलययोरुभयोः कोटिलग्नयोः।

धारयेदुत्तरे पार्श्वे पुरुषं दक्षिणे शिलाम् ।

शिरोऽवस्थितपत्रकं धटं पुनरारोप्य विनाडीपञ्चकं यावत्तथैवावस्थापयेत् ॥

विनाड्यादिलक्षणम्

विनाड्यः पञ्च विज्ञेयाः परीक्ष्याःकालकोविदैः ।

इति । दशगुर्वक्षरोच्चारणकालः प्राणः, षट्प्राणा विनाडिः, उक्तं च ज्योतिश्शास्त्रे—

दश गुर्वक्षराः प्राणाः षट्प्राणा स्याद्विनाडिका ।
तासां षष्ट्या च घटिका तत्षष्ट्या अहरुच्यते ॥

इति। अनेन ज्योतिश्शास्त्रपरिचयवानेकश्च तुलाकोविदेषु कार्यः।

### तुलायां शुद्ध्यशुद्धिप्रकारः

शुद्ध्यशुद्धिविनिर्णयप्रकारमाह प्रजापतिः—

तुलितो यदि वर्धेत स शुद्धस्स्यान्न संशयः।
समो वा हीयमानो वा न विशुद्धो भवेन्नरः॥

यत्तु पितामहेनोक्तं—

हीयमानो न शुद्धस्स्यादेतेषां तु समा शुचिः।

इति। तन्मतान्तरग्रहणं पूजनार्थं; न तु विकल्पार्थं। तथाऽन्यत्र—

कशाच्छेदे तुलाभङ्गे धटकर्कटयोस्तथा।
रज्जुच्छेदेऽक्षभङ्गे च तथैवाशुचिमादिशेत्॥

इति। तथाऽपि दृश्यमाने कारणे येषां भङ्गः नादृष्टवशात्; तदा समाधानं कृत्वा पुनरारोपण कर्तव्यम्॥

शिक्यादिच्छेदभङ्गे च पुनरारोपयेन्नरम्।

इति स्मृत्यन्तरवचनात्। अत एवाह बृहस्पतिः—

धटे नियुक्तस्तुलितो हीनश्चेद्धानिमाप्नुयात्।
तत्समस्तु पुनस्तौल्ये वार्धितो विजयी भवेत्॥
शिक्यच्छेदेऽक्षभङ्गे वा दद्याच्छित्वयं पुनर्नृपः।
साक्षिणो ब्राह्मणाश्श्रेष्ठाः यथादृष्टार्थवादिनः॥
ज्ञातिनश्शुचयो लुब्धा नियोक्तव्या नृपेण तु।
तेषां वचनतो गम्यः शुद्ध्यशुद्धिविनिर्णयः॥

ऋत्विजां दक्षिणा दातव्येत्याह पितामहः—

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्दक्षिणाभिस्तु तोषयेत्।

इति।

एवं कारयिता राजा भुक्त्वा भोगान् मनोरमान्।
महतीं कीर्तिमाप्नोति ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

### घटसंरक्षणप्रकारः

घटसंरक्षणप्रकारमाह पितामहः—

विशालामुच्छ्रितां शुभ्रां घटशालां तु कारयेत् ।
यत्रस्थो नोपहन्येत श्वभिश्चण्डालवायसैः ॥
तत्रैव लोकपालादीन् सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
त्रिसन्ध्यं पूजयेच्चैनां गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥
कवाटबीजसंयुक्तां परिचारकरक्षिताम् ।
मृत्पानीयाग्निसंयुक्तामशून्यां कारयेन्नृपः ॥

इति । बीजानि यवव्रीह्यादीनि । विज्ञानयोगी तु—यदा तूक्तलक्षणं घटं तथैव स्थापयितुमिच्छति तदा श्ववायसाद्युपघातनिरासार्थं कवाटादिसहितां शालां कुर्यादिति । इति घटविधिः ।

### अथाग्निविधिः

अथाग्निविधिरुच्यते—

अग्नेर्विधिं प्रवक्ष्यामि यथाशास्त्रप्रचोदितम् ।
कारयेन्मण्डलान्यष्टौ पुरस्तान्नवमं तथा ॥
आग्नेयं मण्डलं त्वाद्यं द्वितीयं वारुणं स्मृतम् ।
तृतीयं वायुदैवत्यं चतुर्थं यमदैवतम् ॥
पञ्चमं त्वैन्द्रदैवत्यं मण्डलं तूच्यते बुधैः ।
कौबेरमुच्यते षष्ठं सप्तमं सोमदैवतम् ॥
आदित्यमष्टमं चैव नवमं सर्वदैवतम् ।
एतानि मण्डलान्यष्टाविति शास्त्रविदो विदुः ॥

एतानि नव मण्डलानि प्रख्यातदेवतायतनादिविहितदेशे प्रागपवर्गाणि गोमयेन कार्याणि । अत्र हारीतः—

अष्टाभिर्मण्डलैः प्रोक्तं अङ्गुलीनां शतद्वयम् ।
षट्पञ्चाशत्समधिकं भूमेस्तु परिकल्पना ॥
षोडशाङ्गुलकं ज्ञेयं मण्डलं तावदन्तरम् ।

अङ्गुलप्रमाणं तुलाप्रकरणे दर्शितम् । पितामहेनाप्युक्तम्—

द्वात्रिंशदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलं मण्डलान्तरम् ।
अष्टाभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम् ॥
षट्पञ्चाशत्समधिकं भूमेस्तु परिकल्पना ।
कर्तुः पदसमं कार्यं मण्डलं तु प्रमाणतः ॥

तत्र नवमं मण्डलमपरिमिताङ्गुलप्रमाणकं तं विहायाष्टाभिर्मण्डलैश्चाष्टाभिश्चान्तरालैः प्रत्येकं षोडशाङ्गुलप्रमाणैरङ्गुलानां षट्पञ्चाशत्समधिकं शतद्वयं संपद्यते। तत्रापि सप्तैव गन्तव्यानि मण्डलानि । कथं ? प्रथमे तिष्ठति नवमे क्षिपतीति । ननु—

द्वात्रिंशदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलं मण्डलान्तरम् ।
अष्टाभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम् ॥
चत्वारिंशत्समधिकं भूमेरङ्गुलमानतः ।

इति नारदोक्तिः कथमिति चेदुच्यते—

अवस्थानमण्डलं विहाय गन्तव्यमण्डलाभिप्रायं तत् । अयमर्थः—अवस्थानमण्डलात् षोडशाङ्गुलात् मण्डलान्तरमन्यमण्डलं द्वितीयाद्येकमेकं द्वात्रिंशदङ्गुलं सान्तरालं। तदेवमवस्थानमण्डलं षोडशाङ्गुलं गन्तव्यानि च सप्तमण्डलानि सान्तरालानि चत्वारिंशदङ्गुलानि एवमष्टभिर्मण्डलैश्चत्वारिंशत्समधिकशतद्वयं भूमेरङ्गुलमिति । अत्र दिव्यमातृकोक्तसाधारणधर्मेष्वनुष्ठितेषु तुलाप्रकर

णोक्तधर्मावाहनादिशिरःपत्रान्तविध्यन्ते सति अग्निविधौ विशेषमाह प्रजापतिः—

पश्चिमे मण्डले तिष्ठेत् प्राङ्मुखः प्राञ्जलिश्शुचिः ।

तिष्ठेत्—शोध्यः । शोधनप्रकारमाह—

लक्षयेयुःक्षतादीनि हस्तयोस्तस्य हारिणः ।

लक्षणं–चिह्नं । यथाऽऽह नारदः—

हस्तक्षतेषु सर्वेषु कुर्याद्धंसपदानि च ॥

इति । अलक्तकरसादिना व्रणकिणस्थानेषु हंसपादाकारेण-अङ्कयित्वेत्यर्थः । ततःकिमित्यपेक्षिते याज्ञवल्क्यः—

करौ विमृदितव्रीही लक्षयित्वा ततो न्यसेत् ।
सप्ताश्वत्थस्य पर्णानि तावच्छुभ्राणि वेष्टयेत् ॥
वेष्टयीत सितैर्हस्तौ सप्तभिस्सूत्रतन्तुभिः ।

इति नारदवचनादश्वत्थपर्णमुपरि सप्त शमीपर्णानि सप्त दूर्वापर्णानि दध्यक्षतांश्च विन्यसेत् । तथा च पितामहः—

सप्त पिप्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथाक्षतान् ।
दूर्वायास्सप्त पर्णानि दध्यक्तानक्षतांस्तथा ॥

विन्यसेदिति शेषः । कुसुमानि च विन्यसेत् । तथा च पितामहः–

सप्त पिप्पलपत्राणि अक्षतान् सुमनो दधि ।
हस्तयोर्निक्षिपेत्तत्र सूत्रेणावेष्टितं तथा ॥

इति । सुमनसः–पुष्पाणि । यत्तूक्तं हारीतेन—

अयस्तप्तं तु पाणिभ्यां अर्कपर्णैस्तु सप्तभिः ।
अन्तर्हितं हरन् शुद्धस्त्वदग्धः सप्तमे पदे ॥

इति। तत्तु अश्वत्थपर्णानामभावे अर्कपत्रविषयं वेदितव्यम्। अश्वत्थपत्राणां पितामहप्रशंसावचनेन मुख्यत्वावगमात्—

पिप्पलाज्जायते वह्निः पिप्पलो वृक्षराट् स्मृतः।
अतस्तस्य तु पत्राणि हस्तयोर्निक्षिपेद्बुधः॥

इति विज्ञानयोगी। अपरे तु शमीपत्रादीनां अर्कपत्रपक्षेऽनुप्रवेशो नास्तीत्येवंपरमित्याहुः। अत्र प्रजापतिः—

अश्रिहीनं समं कुर्यादष्टाङ्गुलमयोमयम्।
पिण्डं तु तापयेदग्नौ पञ्चाशत्पलिकं स्मृतम्॥

अत्र व्यासः—

प्राङ्मुखस्तु ततस्तिष्ठेत् प्रसारितकराङ्गुलिः।
आर्द्रवासाश्शुचिश्चैव शिरस्यारोप्य पत्रकम्॥
जात्यैव लोहकारो यः कुशलश्चाग्निकर्मणि।
दृष्टप्रयोगश्चान्यत्र तेनायोऽग्नौ तु दापयेत्॥
अग्निवर्णमयःपिण्डं सस्फुलिङ्गं सुराञ्जितम्।
पञ्चाशत्पलिकं भूयः स्नापयित्वा शुचिर्द्विजः॥
तृतीयतापे तप्यन्तं ब्रूयात्सत्यपुरस्कृतम्।

इति। दृष्टप्रयोगश्चान्यत्रेत्यनेन यथा लोके लोहशुद्ध्यर्थं सुतप्तलोहमुदके निक्षिप्य पुनः सन्तापेन लोहकार्यसिद्ध्यर्थं क्रियते तथाऽत्रापि कर्तव्यमिति वदतः चन्द्रिकाकारस्य मते तृतीयतापे तप्यन्तमित्यादि वचनानि न्यायसिद्धार्थानुवादीनीति मन्तव्यम्। सत्यपुरस्कृतमित्युक्तं; तत्स्वरूपमाह पितामहः—

शृण्विमं मानवं धर्मं लोकपालैराधिष्ठितम्॥
त्वमग्ने सर्वदेवानां पवित्रं परमं मुखम्।

त्वमग्ने सवभूतानां हृदिस्थो वेत्सि चेष्टितम् ।

अत्र याज्ञवल्क्यः—

तस्येत्युक्तवतो लोहं पञ्चाशत्पलिकं समम् ।
अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं हस्तयोरुभयोरपि ॥

तस्य—कर्तुः । इति—एवं प्रकारेण ।

त्वमग्ने सर्वदेवानां अन्तश्चरसि साक्षिवत् ।
त्वमेव देव जानीषे न विदुर्यानि मानवाः ॥
व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानुषश्शुद्धिमिच्छति ।
पापं पुनासि वै यस्मात्तस्मात्पावक उच्यसे ॥
पापेषु दर्शयात्मानं अर्चिष्मान् भव पावक ।
अथवा शुद्धभावेन शीतो भव हुताशन ॥

इति । अत्र व्यासः—

एष त्वां धारयति सत्येनानेन मानवः ।
सत्यवाक्यस्य चास्य त्वं शीतो भव हुताशन ।
मृषावाक्यस्य पापस्य दह हस्तौ च मायिनः ॥

इति । तदनन्तरकृत्यमाह प्रजापतिः—

अमुं मन्त्रं च पत्रस्थं अभियुक्तं यथार्थतः ।
संश्राव्य मूर्ध्नि तस्यैव न्यसेदेवं यथाक्रमम् ॥

न्यासप्रकारमाह मनुः—

इत्युक्त्वा हस्तयोस्तस्य प्रदद्यात्पिण्डपावकम् ।
सुपतप्तमसंभुग्नं विस्फुलिङ्गाग्र्यनुद्धृतम् ॥

असंभुग्नमनिम्नप्रदेशं स्वरूपेणावस्थितमित्यर्थः ।

दृढं गृहीत्वा सन्दशैः विद्युज्जालसमप्रभम् ।

इति। उत्कटं धृतं विलीनं न भवतीत्यनुद्धृतम्। ततः शोद्ध्य-कृत्यमाह यमः—

हस्ताभ्यां तु समादाय प्राड्विवाकसमीपतः।
स्थित्वैकस्मिन् ततोऽन्यानि व्रजेत्सप्त त्वजिह्मगः॥

एकस्मिन्निति–पश्चिमे प्रथमे मण्डले। अजिह्मगः–अकुटिलगतिः॥

असंभ्रान्तश्शनैर्गच्छेदक्रुद्धस्सोऽनलं प्रति।

यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

स तमादाय सप्तैव मण्डलानि शनैर्व्रजेत्।

इति। सः–पुरुषः। तं—तप्तलोहपिण्डं। एवकारेण मण्डलेष्वेव पदन्यासः। मण्डलानतिक्रमं च दर्शयति पितामहः—

न मण्डलमतिक्रामेत् नाप्यर्वाक्स्थापयेत्पदम्।

इति।

मण्डलं चाष्टमं गत्वा ततोऽग्निं विसृजेन्नरः।
यस्त्वन्तरा पातयति दण्ड्यश्च स विभाव्यते॥
पुनस्तं हारयेदग्निं स्थितिरेषा दृढीकृता।

प्रथममण्डले स्थितस्य कर्तुरभिमन्त्रणमाह याज्ञवल्क्यः—

त्वमग्ने सर्वभूतानां अन्तश्चरासि पावक।
साक्षी मत्पुण्यपापानां ब्रूहि सत्यं कवे मम॥

सत्यं—ब्रूहि दर्शयेत्यर्थः। अत्रायं प्रयोगः—सुतप्तमयःपिण्डं उदके लोहशुद्ध्यर्थं निक्षिप्य पुनस्सन्ताप्योदके निक्षिप्य तृतीयतापे सन्दंशेन गृहीत्वा पुनरप्यानीय त्वमग्ने सर्वभूताना-मित्यभिमन्त्रणं ब्रूयात्। अस्मिन्नवसरे प्राड्विवाको मण्डलाद्द-क्षिणप्रदेशे लौकिकमग्निमुपसमाधाय अग्नये पावकायेत्याज्येन

अष्टोत्तरशतं जुहुयात् । अस्मिन्नेवाग्नौ अयःपिण्डताप इति चन्द्रिकाकारः ॥ अष्टमे मण्डले स्थित्वा नवमे अग्नित्यागे कृते किं कुर्यादिति याज्ञवल्क्यः—

मुक्त्वाऽग्निं मृदितव्रीहिरदण्ड्यः शुद्धिमाप्नुयात् ।

अत्र कात्यायनस्तु विशेषमाह—

न स्खलत्यभिशस्तश्चेत् स्थानादन्यत्र दह्यते ।
अदग्धं तं विदुर्देवाः तस्य भूयोऽपि दापयेत् ॥

स्थानादन्यत्र—हस्ताभ्यामन्यत्रेत्यर्थः । प्रजापतिस्तु—

अन्तरा पतिते पिण्डे सन्देहे वा पुनर्भवेत् ।
हृते तु मर्दयेत्पश्चात् व्रीहीन्वाऽप्यथवा यवान् ॥

यदा गच्छतोऽन्तरा—मध्ये अष्टममण्डलादर्वागेव पिण्डः पतितः व्रीहियवविमर्दने कृते दण्ड्यादण्ड्यत्वनिर्णयाभावेन सन्देहो भवति तदा पुनर्भवेत् । द्वितीयप्रयोगेऽपि यदा सन्देहो जायते । तदा पुनपुनर्हरेदिति वचनाभावेऽपि न्यायतः प्राप्तं धारणम् । यथाऽऽह विज्ञानयोगी—पुनः पुनर्हरेदित्यर्थप्राप्तमुक्तमिति । अत्र शुद्धस्य राज्ञा विशुद्धिपत्रं देयम् । अशुद्धस्य दण्डपूर्वकं त्याग एव । तत्र नारदः—

अनेन विधिना धार्यो हुताशनसमस्सदा ।
ऋते ग्रीष्मादहव्यक्तकालेऽन्यस्मिन् सुशीतले ॥

इति । हुताशनसमस्तप्तायःपिण्डः । इत्यग्निविधिः ।

जलविधिः

अथ जलविधिरुच्यते । अत्र चन्द्रिकायां—जलविधिर्विषविधिश्च न प्रतिपादितौ । यथोक्तं चन्द्रिकाकारेण—जलवि-

षयोरुत्सन्नानुष्ठानत्वात् तद्विधिमनाख्याय कोशविधिरुच्यत इति। उत्कलादिषु क्वचिद्देशेषु जलविधेरेव प्रामाणिकत्वेन व्यवाह्रियमाणत्वात्। शूरसेनमागधादिषु क्वचिद्देशेषु विषविधेरेव प्रामाणिकत्वेन परिगृहीतत्वात्। अतः क्रमप्राप्तो जलविधिरुच्यते। तत्र प्रजातिः—

तोयस्याथ प्रवक्ष्यामि विधिं धर्म्यं पुरातनम्।
ऋतानृत (शुभाशुभ) परीक्षार्थं ब्रह्मणा विहितं स्वयम्॥
शरान्वै पूजयेद्भक्त्या वैष्णवं च धनुस्तथा।
मण्डयेत्पुष्पधूपैश्च ततः कर्म समारभेत्॥

इति। तत्र कात्यायनः—

शरांश्चानायसैरग्र्यैः प्रकुर्वीत विशुद्धये।
वेणुकाण्डमयैश्चैव क्षेप्ता च सुदृढः क्षिपेत्॥

क्षेप्ता क्षत्रिय एव—

क्षेप्ता तु क्षत्रियः प्रोक्तः तद्वद्ब्राह्मणोऽपि वा।
अक्रूरहृदयश्शान्तः सोपवासस्ततःक्षिपेत्॥

इति पितामहवचनात्। अत्र नारदः—

क्रूरं धनुस्सप्तशतं मध्यमं षट्शतं स्मृतम्।
मन्दं पञ्चशतं प्रोक्तं एष ज्ञेयो धनुर्विधिः॥

सप्तशतमिति। अङ्गुलानां सप्ताधिकं शतं क्रूरमित्यर्थः। एवं षट्शतं पञ्चशतं।

मधमेन तु चापेन प्रक्षिपेच्च शरत्रयम्।
हस्तानां तु शते सार्धे लक्ष्यं कृत्वा विचक्षणः॥
न्यूनाधिके तु दोषस्स्यात् क्षिपतस्सायकांस्तथा।

इति ।

नातिक्रूरेण धनुषा क्षेपयित्वा शरत्रयम् ।
पानीयमज्जनं कार्यं शङ्का यत्र विज्ञायते ॥

यत्र शङ्का विज्ञायते तं अभियुक्तमित्यर्थः । लक्षनिर्देशार्थं तोरणं कार्यं । यथाऽऽह स एव—

तोरणं तत्र कर्तव्यं लक्ष्यलक्षणसन्धये ।

लक्ष्यलक्षणयोस्सन्धिरभिसंन्धिः–परिज्ञानमिति यावत् । तत्तोरणं च निमज्जनस्थानसमीपे समदेशे शोध्यकर्णप्रमाणोच्छ्रितं कार्यम् । यथाऽऽह नारदः—

गत्वा तु तज्जलस्थानं तटे तोरणमुच्छ्रितम् ।
कुर्वीत कर्णमात्रं तु भूमिभागे समे शुचौ ॥

इति । अत्र नारदः—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो रागद्वेषविवर्जितः ।
नाभिमात्रजले स्थाप्य पुरषं स्तम्भवत्स्थले ॥
तस्योरू प्रतिसंगृह्य निमज्जेदभिशापवान् ।

अत्र याज्ञवल्क्यः—

सत्येन माऽभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिशाप्य कम् ।
नाभिदघ्नोदकस्थस्य गृहीत्वोरू जलं विशेत् ॥

इति । कं–उदकं । सत्येन माऽभिरक्ष त्वं वरुणेति मन्त्रतः अभिशापोऽभिमन्त्रणं । जलं विशेदिति निमज्जेदित्यर्थः । एतच्च वरुणपूजायां सत्यां । यथाऽऽह नारदः—

गन्धमाल्यैः सुरभिभिः मधुक्षीरघृतादिभिः ।
वरुणाय प्रकुर्वीत पूजामादौ समाहितः ॥

इति। तथा सर्वदिव्यसाधारणधर्मेषु धर्मावाहनादिसकलदेवतापूजाहोमसमन्त्रकप्रतिज्ञापत्राशिरोनिवेशनान्तेषु सत्सु च। तथा—

तोय त्वं प्राणिनां प्राणस्सृष्टेराद्यं तु कारणम्।
शुद्धेश्च कारणं प्रोक्तं द्रव्याणां देहिनां तथा॥
अतस्त्वं दर्शयात्मानं शुभाशुभपरीक्षणम्।

इति। प्राड्विवाकेनोदकाभिमन्त्रणे कृते शोध्यः सत्येनमाऽभिरक्ष त्वं वरुणेत्युदकं प्रार्थयेदिति। अत्र प्रजापतिः—

तृणशैवालरहिते जलूकामत्स्यवर्जिते।
नाभिमात्रे जलेमज्जेन्न चागाधे न चाल्पके॥
आविशेदमले नित्यमूर्मिपङ्कविवर्जिते।
आहार्यं वर्जयेत्तोयं शीघ्रगासु नदीषु च॥

आहार्य—घटादिभिरुद्धृतं। अनेन अल्पवेगासु नदीषु ह्रदेषु सरस्तटाकादौ च यत्तोयं मुक्तदोषं तत् विशोधकमित्यर्थादुक्तं भवति।

स्थापयेत्प्रथमं तोये स्तम्भवत्पुरुषं नृपः।
आश्रित्य यं निमज्जन्ति मानवाश्शुद्धिकाङ्क्षिणः॥

इति। अत्र स्मृत्यन्तरे विशेष उक्तः—

उदके प्राङ्मुखस्तिष्ठेद्धर्मस्थूणां प्रगृह्य च।

इति। अत्र शङ्खलिखितौ—

नाभिप्रमाणोदकस्थो यज्ञीयवृक्षोद्भवां धर्मस्थूणामवष्टभ्य प्राङ्मुखस्तिष्ठेत्। तस्योरू—अभिमतपुरुषस्य ऊरू इति। अभिमतपूरुषः पूर्वोक्तलक्षणः। अत्र विशेषमाह नारदः—

[1]इषून्न प्रक्षिपेद्विद्वान् मारुते वातिवै भृशम्।

[1] इषून्न प्रक्षिपेत्प्राज्ञो.

विषमे भूप्रदेशे च वृक्षस्थाणुसमाकुले ॥

इति । अत्र पितामहः—

गन्तुश्चापि च कर्तुश्च समं गमनमज्जनम् ।
गच्छेत्तोरणमूलं तु लक्ष्यस्थानाज्जयी नरः ॥
अस्मिन् गते द्वितीयोऽपि वेगादादाय सायकम् ।
गच्छेत्तोरणमूलं तु ततस्स पुरुषो गतः ॥
आगतस्तु शरग्राही न पश्यति यदा जले ।
अन्तर्जलगतं सम्यक् तदाशुद्धिं विनिर्दिशेत् ॥
अन्यथा न विशुद्धस्स्यादेकाङ्गस्यापि दर्शने ।
स्थानाच्चान्यत्र गमनाद्यस्मिन् पूर्वे निवेशितः ॥

एकाङ्गस्यापीति कर्णाद्यभिप्रायम् ।

शिरोमात्रं तु दृश्येत न कर्णौ न च नासिका ।
अप्सु प्रवेशने यस्य शुद्धं तमभिनिर्दिशेत् ॥

इति विशेषाभिधानात् । अत्र जयस्वरूपनिर्धारणमाह नारदः—

पञ्चाशतो [1]यावकानां यौ स्यातामधिकौ जले ।
तौ तत्र विनियोक्तव्यौ शरानयनकर्मणि ॥

तत्राऽयं प्रयोगक्रमः—प्राड्विवाको जलाशयसन्निधौ तोरणं विधाय उक्तप्रमाणदेशं लक्ष्यं निधाय तोरणसन्निधौ धनुश्शरान् संपूज्य जलाशये वरुणमावाह्य पूजयित्वा तत्तीरे धर्मादिदेवानां आवाहनाद्युपचारैरिष्ट्वा शोध्यशिरसि प्रतिज्ञापत्रमाबध्य प्राड्विवाक एव "तोयत्वं प्राणिनः प्राण" इत्यादि मन्त्रेण जलमभिमन्त्र्य सत्येनेत्यादिमन्त्रेण शोध्यकर्तृकजलाभिमन्त्रणानन्तरं

[1] धावनानां.

नाभिमात्रोदकावस्थितस्य बलीयसः पुरुषस्य धर्मस्थूणाया वा समीपं शोध्यं प्रापयेत् । तदनन्तरं त्रिषु शरेषु मुक्तेषु एको वेगवान् मध्यमशरपातं गत्वा तमादाय तत्रैव तिष्ठति । अन्यस्तु पुरुषो वेगवान् शरमोक्षणस्थाने तोरणमूले तिष्ठति । एवं स्थितयोः तृतीयस्यां करताळिकायां विशोध्यो निमज्जति । तत्स मकालमेव तोरणमूले स्थितोऽपि द्रुततरं मध्यमशरपातस्थानं गच्छति । शरग्राही च तस्मिन् प्राप्ते द्रुततरं तोरणमूलं प्राप्यान्तर्जलगतं यदि न पश्यति तदा शुद्धो भवतीति । सार्धशतहस्तपरिमितदेशे लक्ष्यं कृत्वा जविनोः पुरुषयोः लक्ष्यतोरणपर्यन्तं प्रधावनानुधावने कार्ये । सार्धशतहस्तपरिमितदेशन्यूनाधिकभावे दोषश्रवणादेतदेव प्रधानमिति केचित् । धनुश्शरादि पूजास्मरणात् तन्नियमार्थमित्यपरे । इति जलविधिः

## अथ विषविधिः

अथ विषविधिरुच्यते । अत्र प्रजापतिः—

विषस्याद्य प्रवक्ष्यामि विधिं चक्षणचोदितम् ।
अभियुक्ताय दातव्यं यवमात्रं प्रदीयते ॥
यवास्सप्त प्रदातव्या अथवा षट्च संख्यया ।
[1] शृङ्गिणो वत्सनाभस्य हैमस्य च विषस्य च ॥
चारितानि च जीर्णानि कृत्रिमाणि तथैव च ।
भूमिजातानि सर्वाणि विषाणि परिवर्जयेत् ॥

नारदस्तु—

भ्रष्टं च चारितं चैव धूपितं मिश्रितं तथा ।

[1] श्राङ्गिणोवत्सनाभस्य हिमजस्य.

कालकूटमलाबुं च विषं यत्नेन वर्जयेत् ॥

इति । चारितं—चरित्वाऽवशिष्टम् ।

औषधान्यपि रत्नानि मन्त्रयोगान् विषापहान् ।
कर्तुश्शरीरसंस्थांश्च परीक्षेत महीपतिः ॥

इति । सप्तादिसङ्ख्याव्यवस्था ऋतुभेदेन द्रष्टव्या । तथा च नारदः—

वर्षे चतुर्यवमात्रा ग्रैष्मे पञ्च यवास्स्मृताः ।
हैमन्तके सप्त यवाः शरद्यल्पा ततोऽपि च ॥
दद्याद्धि सोपवासाय देवब्राह्मणसन्निधौ ।

इति । अल्पा–षड्यवेत्यर्थः । तत इत्यनेन सप्तसङ्ख्यापरामर्शात् । हेमन्त इत्यनेन शिशिरस्यापि ग्रहणं । हेमन्तशिशिरयोस्समासेन हेमन्तशिशरावृतू प्रीणामीत्यादौ प्रायशः सहभावेन श्रवणात् । वसन्तस्य सर्वदिव्यसाधारणत्वात्तत्रापि सप्त यवा इति विज्ञानेशः । यवप्रमाणं तु—

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥
त्रसरेणवोऽष्ट विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपास्तिस्रः ते त्रयो गौरसर्षपः ॥
सर्षपाः षड्यवो मध्यः त्रियवाः कृष्णलास्स्मृताः ।
पञ्चकृष्णलको माषः ते सुवर्णं तु षोडश ॥

इति । हारीतेन विशेषान्तरमुक्तं—

पूर्वाह्ने शीतले देशे विषं देयं घृतप्लुतम् ।

इति। अत्र पूर्वाह्णशब्दः परिसंख्यापरः—

नापराह्णे न मध्याह्णे न सन्ध्यायां तु धर्मवित्।

इति कालान्तरनिषेधस्मरणात्। घृतं च विषात्त्रिंशद्गुणं ग्राह्यं—

पूर्वाह्णे शीतले देशे विषं देयं हि देहिनाम्।
घृतेन योजितं श्लक्ष्णं घृतं त्रिंशद्गुणान्वितम्॥

इति कात्यायनस्मरणात्। पितामहेन प्रयोगक्रम उक्तः—

सोपवासाय देयं स्याद्विषं ब्राह्मणसन्निधौ।
धूपोपहारमन्त्रैश्च पूजयित्वा महेश्वरम्॥
देवानां सन्निधौ चैव दक्षिणाभिमुखे स्थिते।
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा दद्याद्विप्रस्समाहितः॥

इति। तदयमत्र निष्कर्षः—प्राड्विवाकस्सोपवासो महादेवं षोडशोपचारैरभ्यर्च्य तत्पुरतश्शार्ङ्गं हैमवतं वा विषं घृतप्लुतं संस्थाप्य धर्माद्यावाहनादि शिरःपत्रारोपणान्तं दिव्यमातृकान्तं कृत्वा विषमभिमन्त्र्य दक्षिणाभिमुखाय स्वयं प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा विषं प्रयच्छति। स च शोध्यो विषमभिमन्त्र्य भक्षयेदिति क्रमः। प्राड्विवाककर्तृकविषाभिमन्त्रण मन्त्रः—

त्वं विष ब्रह्मणा सृष्ट परीक्षार्थं दुरात्मनाम्।
पापानां दर्शयात्मानं शुद्धानाममृतं भव॥
मृत्युमूर्तिर्विष त्वं हि ब्रह्मणा परिकीर्तिता।
त्रायस्वैनं नरं पापात्सत्येनास्यामृतं भव॥

इति। शोध्यकर्तृकविषाभिमन्त्रणमन्त्रस्तु—

त्वं विष ब्रह्मणः पुत्रः सत्ये धर्मे व्यवस्थितः।
त्रायस्वास्मानभीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम्॥

इति। अत्र शोध्यश्च कुहकादिभ्यो रक्षणीय इत्याह पितामहः—

त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा पुरुषैस्स्वैरधिष्ठितम्।
कुहकादि भयाद्राजा धारयेद्दिव्यकारिणम्॥

इति। तथा विषमपि रक्षणीयमित्याहस एव—

शार्ङ्गं हैमवतं शस्तं गन्धवर्णरसान्वितम्।
अकृत्रिममसंमूढममन्त्रोपहितं भवेत्॥

इति। उक्तविशेषणविशिष्टं यथा भवेत्तथा रक्षणीयमित्यर्थः।

भक्षिते तु यदा स्वस्थो मूर्छाछर्दिविवर्जितः।
निर्विकारो दिनस्यान्ते शुद्धं तमभिनिर्दिशेत्॥

इति। एतच्च दिनान्तकालरूपकालप्रतीक्षणं यावत्काले विषं जीर्यति तावन्मात्रोपलक्षकं; न तु नियामकम्। तथा च याज्ञवल्क्यः—

एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम्।
यस्य वेगैर्विना जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत्॥

इति। यदा विषमतिमात्रं प्रयुक्तं स्यात् तदा करताळिकाशतपञ्चकपरिमितकालं प्रतीक्ष्य तदनन्तरं चकित्सा कर्तव्येत्याह पितामहः—

पञ्चताळशतं कालं निर्विकारो यदा भवेत्।
तदा भवति संशुद्धः तदा कुर्याच्चिकित्सिकम्॥

इति। अत्र विज्ञानयोगिनोक्तं–विषे पीते यावत्करताळशतपञ्चकं तावत्परीक्षणीयः। अनन्तरं चिकित्सनीय इति मुख्यं प्रतीक्षणकालमुक्त्वा 'निर्विकारो दिनस्यान्ते' इत्यादि शुद्धिवचनं स्वल्प-

मात्रविषयमिति । तन्मन्दम्—

एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम् ।
यस्य वेगैर्विना जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥

इति याज्ञवल्क्यवचने विषजीरणप्रतिपादनं ;

तदा भवति संशुद्धस्तदा कुर्याच्चिकित्सितम् ।

इति पितामहवचने चिकित्साप्रतिपादनमपि विरुन्ध्यात् । अतः चिकित्साप्रतिपादकवचनं करतालिकाशतपञ्चकावच्छिन्नकालप्रतीक्षणद्वारेणातिमात्रप्रयुक्तविषयमित्यस्मदुक्तैव विषयव्यवस्था सम्यक् । यच्च विषवेगो नाम धातोः धात्वन्तरप्राप्तिरित्युक्तं विज्ञानयोगिना ; तत्प्रायिकाभिप्रायिकमित्यवगन्तव्यम् । आद्यविषवेगस्यैवंरूपत्वासंभवात् । ततश्च विषस्य धातुसङ्क्रामो वेग इत्येतावद्विवक्षितं विज्ञानयोगिनेत्यवगन्तव्यम् ।

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लानि धातवः ।

एवं शुद्धस्य शुद्धिपत्रं राज्ञा दातव्यम् । इतरस्य दण्डादि कर्तव्यमिति । इति विषविधिः ।

### अथ कोशविधिः

प्राड्विवाकः कृतोपवासो दुर्गाऽऽदित्यादीनुग्रदेवान् स्नापयित्वा तदुदकं ताम्रपात्रादौ संगृह्य तद्देवान् गन्धपुष्पादिभिस्संपूज्य तत्स्नानोदकं दिव्यदेशं नीत्वा धर्मावाहनादिशिरसि पत्रान्तं सर्वदिव्यसाधारणविधिं विधाय शोध्यं च प्राङ्मुखं कृत्वा गोमयानुलिप्तमण्डलान्तस्स्थितं कृत्वा पूर्वनिहितोदकात्प्रसृतित्रयं शोध्यं पाययेत् । तथा च पितामहः—

प्राङ्मुखं कारिणं कृत्वा पाययेत्प्रसृतित्रयम् ।

पूर्वोक्तेन विधानेन स्नातमार्द्राम्बरं शुचिम् ॥

पूर्वोक्तेन–सर्वदिव्यसाधारण्येनोक्तेन । कारिणं–दिव्यकारिणम् । तथा च याज्ञवल्क्यः—

देवानुग्रान् समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत् ।
संश्राव्य पाययेत्तस्माज्जलाच्च प्रसृतित्रयम् ॥

इति । नारदस्तु—

तमाहूयाभिशस्तं तु मण्डलाभ्यन्तरस्थितम् ।
आदित्याभिमुखं कृत्वा पाययेत्प्रसृतित्रयम् ॥

इति । हारीतस्तु—

गोमयेनानुलिप्तायां भूमौ शौध्यं तु पाययेत् ।

इति । याज्ञवल्क्यस्तु शुद्धिप्रकारमाह—

अर्वाक्चतुर्दशादह्नो यस्य नो राजदैविकम् ।
व्यसनं जायते घोरं स शुद्धस्स्यान्न संशयः ॥

इति । ऊर्ध्वं पुनरवधेर्न दोष इत्याह नारदः—

ऊर्ध्वं यस्य द्विसप्ताहाद्वैकृतं तु महद्भवेत् ।
नाभियोज्यस्स विदुषा कृतकालव्यतिक्रमात् ॥

इति । एतन्महाभियोगविषयं; 'महाभियोगेष्वेतानि' इति प्रस्तुताभिधानात् । अन्यान्यन्तराणि पितामहेनोक्तान्यल्पविषयाणि । 'कोशमल्पे तु दापयेत्' इति स्मरणात् ।

त्रिरात्रात्सप्तरात्राद्वा दशाहाद्वा द्विसप्तकात् ।
वैकृतं यस्य दृश्येत पापकृत्स उदाहृतः ॥

इति । द्विसप्तकादिति याज्ञवल्क्यवचनेन समानार्थत्वान्महाभियोगविषयम् । एतदेवोक्तं विज्ञानयोगिना–महाभियोगोक्तद्रव्याद-

र्वाचीनद्रव्यं त्रेधा विभज्य त्रिरात्रादिपक्षत्रयं व्यवस्थापनीय-मिति। दैविकान्याह पितामहः—

क्षयातिसारविस्फोटवातास्थिपरिपीडनम्।
नेत्ररुग्जलरोगाश्च तथोन्मादः प्रजायते॥
शिरोरुग्भुजभङ्गश्च व्याधयो दैविका नृणाम्।

इति। राजकं—राजदण्डः। यथाऽऽह विष्णुः—

यस्य पश्येद्द्विसप्ताहात्त्रिसप्ताहात्तथाऽपि वा।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणं राजदण्डमथापि वा॥
तमशुद्धं विजानीयात्तथा शुद्धं विपर्ययात्।

राजदण्डशब्दः अर्थभ्रंशधनक्षययोरुपलक्षकः।

रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमर्थभ्रंशो धनक्षयः॥

इति नारदोक्तेः। अर्थशब्दः पुत्रादिवचन इति चन्द्रिकाकारः। अत एव स्वीयस्यापि जनस्य सर्वस्य मध्ये यदा यस्य कस्यचि-द्दैवकृतं भवेत्स हीयत इत्याह पितामहः—

न तस्यैकस्य किन्त्वेवं सर्वस्य यदि तद्भवेत्।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणं सैव तस्य विभावनम्॥

पितामहेन विशेष उक्तः—

भक्तो यो यस्य देवस्य पाययेत्तस्य तं नरम्।
समभावे तु देवानामादित्यस्य तु पाययेत्॥
दुर्गायाः पाययेच्चोरान् ये च शस्त्रोपजीविनः।
भास्करस्य तु यत्तोयं ब्राह्मणं तन्नपाययेत्॥
दुर्गायाः स्नापयेच्छूलमादित्यस्य तु मण्डलम्।
इतरेषां तु देवानां स्नापयेदायुधानि तु॥

अत्र निष्कर्षः—उग्रदेवाभिषेकजलं प्राड्विवाको जलदिव्यप्रकरणोक्तेन 'तोय त्वं प्राणिनां प्राणः' इत्यनेन मन्त्रेणाभिमन्त्र्य अभिमन्त्रणानन्तरं शोध्येन 'सत्येन माऽभिरक्ष त्वं वरुण' इत्यभिमन्त्रितं प्रसृतित्रयं पाययेत्। संश्राव्येत्युभयामन्त्रणमुच्यते।

अत एव नारदः—

आदित्याभिमुखं कृत्वा तोयं संश्राव्य पाययेत्।

याज्ञवल्क्योऽपि—

संश्राव्य पाययेत्तस्माज्जलात्तु प्रसृतित्रयम्।

इति। किं संश्राव्येत्यपेक्षिते। नारदः—

एनश्च श्रावयेत्पातुः पाययेत्प्रसृतित्रयम्।

इति। एनः—पापं। तथा च विष्णुः—

[1] विसं(वादे नरो)वदेन्नरो लोभाच्छली भवति दुर्मतिः।

स्मृत्यन्तरेऽपि—

आत्मनः कामकारेण कोशं पीत्वा विसंवदेत्।
दरिद्रो व्याधितो मूढः सप्तजन्मानि जायते॥

इति।

एवं श्रावयतः शोध्यः श्रुत्वेदं न मया कृतम्।

इति वदन् भवेत्। तथा च विष्णुः—उग्रदेवान् समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकात्प्रसृतित्रयं पिबेत्। इदं मया न कृतमिति व्याहरेद्देवताभिमुखमिति। एवं कृते पूर्वोक्तकालेषु विकाराभावे शुद्धो भवति। अन्यथा दण्ड इत्यवगन्तव्यम्। इति कोशविधिः।

---

[1] न संवदेन्नरो लोभात् क्षत्री वीरमित्रोदये पा॥

## अथ तण्डुलविधिः

अत्र बृहस्पतिः—

> सोपवासस्सूर्यग्रहे तण्डुलान्भक्षयेच्छुचिः ।
> शुद्धिस्याच्छुक्लनिष्ठीवे रक्तमिश्रे तु दोषकृत् ॥

अत्र केवलरक्तादपि दोषभाक्तं चशब्दार्थः । अत्र दिव्यसाधारणधर्मावाहानादिहोमशिरःपत्रारोपणादिकं कृत्वा आर्द्रवाससः शोध्यस्य तण्डुलभक्षणं कार्यम् । तत्तु चौर्याभियोग एव यथाऽऽह पितामहः—

> तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणचोदितम् ।
> चौर्ये तु तण्डुला देया नान्यस्मिन्निति निश्चयः ॥
> तण्डुलान् क्षाळयेच्छुभ्रान् शालेयान्यस्य कस्यचित् ।
> मृन्मये भाजने कृत्वा आदित्यस्याग्रतश्शुचिः ।
> स्नानोदकेन संमिश्रान् रात्रौ तत्राधिवासयेत् ॥
> प्राङ्मुखं दोषिणं स्नातं शिरोरोपितपत्रकम् ।
> तण्डुलान् भक्षयित्वा तु पत्रे निष्ठीवयेत्ततः ॥
> पिप्पलस्य तु नान्यस्य अभावे भूर्ज एव यत् ।
> लोहितं यदि दृश्येत हनुस्तालु च शीर्यते ।
> गात्रं च कम्पते यस्य तमशुद्धं विनिर्दिशेत् ॥

इति । भक्षयित्वेति स्वार्थे ण्यन्ताद्भक्षिधातोर्हेतुर्माण्णिच् । अन्यथा निर्दिशेदित्यस्य भक्षयित्वेत्यस्य च समानार्थत्वप्रतीतेर्भक्षणं प्राड्विवाकस्यैव स्यान्न शोद्धव्यस्येति हेतुमण्णिजेव सम्यक् । आदित्यस्येति प्रतिमारूपस्यादित्यस्य; रात्रौ तत्राधिवासयेदिति स्वारस्यात् । तत्रसेसादित्यगृहे । शालिव्यतिरिक्ततण्डुलनिषेधस्त्वदृष्टार्थः । अत्र चन्द्रिकाकारः—

चौर्ये तु तण्डुला देया नन्यस्मिन्निति निश्चयः ।

इति । अत्रान्यस्मिन्–स्त्रीसङ्ग्रहणाद्यन्यतरविवादे, न धनविवादे । धनविवादे तु चौर्यादन्यत्रापि तण्डुला देयाः । तदर्धार्धस्य तण्डुला इति कात्यायनेनोक्तत्वात् । नच तद्वचनं चौर्यविषयमेवास्त्विति वाच्यम् । दत्तस्यापह्नवो यत्रेत्युपक्रमविरोधापत्तेरित्याह । इति तण्डुलविधिः ।

अथ तप्तमाषविधिः

अत्र पितामहः—

तप्तमाषस्य वक्ष्यामि विधिमुद्धरणे शुभम् ।
कारयेदायसं पात्रं ताम्रं वा षोडशाङ्गुलम् ॥
चतुरङ्गुलमात्रं तु मृन्मयं वाऽथ मण्डलम् ।
पूरयेद्घृततैलाभ्यां विंशत्या वा पलैस्तु तत् ॥
गव्यं घृतमुपादाय तदग्नौ तापयेच्छुचिः ।

मण्डलं–परिमण्डलं–वर्तुलमिति यावत् । घृततैलाभ्यां पूरयेदेकः पक्षः । गव्यघृतेन वा पूरयित्वा लौकिकमग्निं दिव्यदेशे प्रतिष्ठाप्य तत्र तापयेत् । पक्षद्वयेऽपि तापे वर्तमाने धर्मावाहनादिशोध्यशिरःपत्रारोपणान्तसर्वदिव्यसाधारणविधिं विदध्यात् । घृततैलपूरणपक्षे पितामहेन विशेष उक्तः—

सुवर्णमाषकं तस्मिन् सुतप्ते निक्षिपेत्ततः ।
अङ्गुष्ठाङ्गुळियोगेन उद्धरेत्तप्तमाषकम् ॥

तस्मिन्निति–घृततैलाभ्यां पूरिते पात्रे—

कराग्रं यो न धुनुयाद्विस्फोटो वा न जायते ।
शुद्धो भवतु धर्मेण निर्विकारकराङ्गुळिः ॥

इत्यत्र शुद्धिविधानं उद्धरेदिति वचनात्पात्रादुत्क्षेपणमात्र एव; न बहिःप्रक्षेपणे। गव्यघृतपूरणपक्षे पितामहेन विशेष उक्तः—

सुवर्णे राजते ताम्रे आयसे मृन्मयेऽपि वा।
गव्यं घृतमुपादाय तदग्नौ तापयेच्छुचिः॥
सौवर्णीं राजतीं ताम्रीं आयसीं वा सुशोभिताम्।
सलिलेन सकृद्धौतां मुद्रिकां तत्र निक्षिपेत्॥
भ्रमद्वीचीतरङ्गाढ्ये न् नखस्पर्शगोचरे।
परीक्षेतार्द्रपत्रेण चरुकारं सघोषकम्॥
ततश्चानेन मन्त्रेण सकृत्तदपि मन्त्रयेत्।
परं पवित्रममृतं घृत त्वं यज्ञकर्मसु॥
दह पावक पापं त्वं हिमशीतं शुचेर्भव।

शुचेः— शुद्धस्य। पापं — पापकर्माणम्। अनन्तरकृत्यमाह प्रजापतिः—

उपोषितं ततस्स्नातमार्द्रवाससमागतम्।
ग्राहयेन्मुद्रिकां तां तु घृतमध्यगतां तथा॥
प्रदेशिनीं च तस्याथ परीक्षेयुः परीक्षकाः।
यस्य विस्फोटका न स्युश्शुद्धोऽसावन्यथाऽशुचिः॥

इति। प्रदेशिनीं परीक्षेयुरिति वचनात् प्रदेशिन्यैव मुद्रिकोद्धारणम्। अत्र प्रयोगक्रमः—

धर्मावाहनादि शिरःपत्रान्तं सर्वदिव्यसाधारणं विधिं विधाय दह पावकेति घृतानुमन्त्रणमन्त्रेण प्राड्विवाको तैलं गव्यघृतं वाऽभिमन्त्र्य त्वमग्ने सर्वभूतानामिति मन्त्रेणाग्न्यभिमन्त्रणं कृतवतश्शोध्यस्य मुद्रिकातप्तमाषयोरुद्धरणान्ते प्रदेशिनीं परीक्ष-

काः परीक्षेयुरिति। तप्तमाषोद्धरणे पञ्चाङ्गुलीपरीक्षणम्। मुद्रिकोद्धरणे तु प्रदेशिनीमात्रपरीक्षणमिति विवेकः। इति तप्तमाषविधिः।

### अथ फालविधिः

अथ फालविधिरुच्यते। अत्र बृहस्पतिः—

आयसं द्वादशपलं घटितं फालमुच्यते।
अष्टाङ्गुलं भवेद्दीर्घं चतुरङ्गुलविस्तरम्॥
अग्निवर्णं तु तच्चोरो जिह्वया लेलिहेत्सकृत्।
अदग्धश्चेच्छुचिर्भूयादन्यथा तु स हीयते॥

अत्र चोरग्रहणं शोध्योपलक्षणार्थमिति चन्द्रिकाकारः। विज्ञानेश्वरवरदराजप्रभृतयस्तु फालविधिश्चोरस्यैव; न शोध्यमात्रस्येति वदन्ति। अत्र विद्वांसो विदां कुर्वन्तु। तत्रायं प्रयोगक्रमः—उक्तपरिमाणं फालं दिव्यदेशे प्रतिष्ठिताग्नौ निक्षिप्य धर्मावाहनादि शोध्यशिरसि पत्रारोपणान्तं कृत्वा सर्वदिव्यसाधारणेऽनुष्ठिते सर्वं कुर्यात्। इति फालविधिः।

### अथ धर्मविधिः

अत्र पितामहः—

अधुना संप्रवक्ष्यामि धर्माधर्मपरीक्षणम्।
राजतं कारयेद्धर्ममधर्मं सीसकायसम्॥

सीसकमिश्रमायसमिति केचित्। सीसकं वा आयसं वेत्यपरे।

हन्तृणां याचमानानां प्रायश्चित्तार्थिनां नृणाम्।

हन्तृणामिति साहसाभियोगेषु। प्रायश्चित्तार्थिनामिति–पातकाभियोगेषु। पक्षान्तरमाह बृहस्पतिः—

लिखेद्भूर्जपुटे वाऽपि धर्माधर्मौ सितासितौ ।
अभ्युक्ष्य पञ्चगव्येन गन्धमाल्यैस्समर्चयेत् ॥
सितपुष्पस्तु धर्मस्स्यादधर्मोऽसितपुष्पधृत् ।
एवं विधायोपलिप्य पिण्डयोस्तानि धापयेत् ॥
गोमयेन मृदा वाऽपि पिण्डौ कार्यौ समौ ततः ।
मृद्भाण्डकेऽनुपहते स्थाप्यौ चानुपलक्षितौ ॥
उपलिप्ते शुचौ देशे देवब्राह्मणसान्निधौ ।
समर्चयेत्ततो देवान् लोकपालांश्च पूर्ववत् ॥
धर्मावाहनपूर्वं तु प्रतिज्ञापत्रकं लिखेत् ।
यदि पापविमुक्तोऽहं धर्मश्चायातु मे करे ॥

इति । अभिशस्तोऽभिमन्त्रयेत् ।

अभिशस्तस्तयोश्चैकं प्रगृह्णीताविलम्बितः ।
धर्मे गृहीते शुद्धिस्स्यादधर्मे तु स हीयते ॥

इति । प्रजापतिना विशेष उक्तः—

वस्त्रद्वये लेखनीयौ धर्माधर्मौ सितासितौ ।
जपहोमादिकैर्मन्त्रैः गायत्र्या सहितैस्तथा ॥
आमन्त्र्य पूजयेद्गन्धैः कुसुमैश्च सितासितैः ।
अभ्युक्ष्य पञ्चगव्येन मृत्पिण्डान्तरितौ ततः ॥
समौ कृत्वा तु मृत्पिण्डौ स्थाप्यौ चानुपलक्षितौ ।
ततः कुम्भात्पिण्डमेकं प्रगृह्णीताविलम्बितः ॥
धर्मे गृहीते शुद्धिस्स्यात्संपूज्येत परीक्षकैः ।
अधर्मे तु गृहीते तु दण्ड्यो निर्वास्य एव च ॥

इति । धर्मविधिः ।

एतानि दिव्यानि ।

अथ शपथाः

ते च मन्वादिभिरुक्ता इति पूर्वमेवोक्ताः। तथाऽपि विस्पष्टार्थमुच्यते । यथाऽऽह विष्णुः—

निष्के तु सत्यवचनं द्विनिष्के पादलम्भनम् ।
त्रिकादर्वाक्च्छिरः पुष्पं कोशदानमतः परम् ॥
सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु भेदकैः ॥

इत्यादयः । अत्र शुद्धिविभावना मनुनोक्ता—

नचार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथैश्शुचिः ।

इति । आर्तिः—पीडा 'यस्य नो राजदैविकम्' इत्युक्ता । कालनियमश्च त्रिरात्रप्रभृतिकालगौरवलाघवपर्यालोचनया द्रष्टव्यः । यद्यपि शपथानामपि दिव्यशब्दवाच्यत्वमस्ति, तथाऽपि कालान्तरविनिर्णयनिमित्तत्वेन समनन्तरनिमित्तेभ्यो धटादिभ्यो भेदेन व्यपदेशः स्मृतिषु ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन कृतः । अत्रापि विशेषमाह हारीतः—

कोशतण्डुलधर्मांस्तु धर्मसंभवमेव च ।
पुत्रदारादिशपथान् सर्वकालं प्रयोजयेत् ॥

नन्वाक्रोशाभावविशिष्टा लिखितादयः प्रमाणपदवीमवगाहन्त इत्युक्तम् । तन्न सङ्गच्छते । आक्रोशाभावस्य सर्वदा साक्षिसाध्यत्वनिश्चयाभावात् । दिव्येनैव साध्यत्वे तत्र मानुषं प्रमाणं निरवकाशं स्यात्तथाहि—आक्रोशाभावः साक्षिसाध्यो न भवति । केनचित्कदाचित्कथंचिदपि कृतस्याक्रोशस्य सर्वथा चर्मचक्षुषां दिव्यज्ञानशून्यानां निश्चेतुमशक्यत्वात् । किन्तु

देवदत्तस्स्वयमेवार्थी न क्वचित्कदाचित्केनचित्कथंचिदप्यासेध-नीय इति कृत्वा स्वयमेवासेधाभावं जानाति । तथैव प्रत्यर्थी सर्वप्रकारेणासेध्य इति स एवासेध्यं सम्यग्जानाति । नन्वासेधस्ससाक्षिकः । तादृशसाक्ष्यभावादेवासेधाभावस्सम्यगुद्भाव-यितुं शक्यः । मैवं । न ह्यभावस्य साक्षित्वं क्वचिदृष्टम् । नन्वनुपलब्धिप्रमाणादेवासेधाभावस्साधयितुं शक्यते । लिङ्गानामनुपलब्धिप्रमाणानुग्राहकतया प्रामाणिकमेवासेधाभावज्ञानमिति-चेन्न । साक्ष्यनुपलब्ध्या साक्ष्यभाव एव ज्ञातुं शक्यो नासेधा-भावः वैयधिकरण्याभावात् । ननु साक्ष्यनुपलब्ध्या साक्ष्य-भावो निर्णीयते तेन साक्ष्यभावेन आसेधाभावो निर्णेतुं शक्यत इति चेत्सत्यं; ससाक्षिकासेधस्थले प्रामाणिकत्वमा-सेधाभावसाधनस्य भवतु । असाक्षिकासेधस्थले तु पूर्वोक्त-मेवावतिष्ठत इति न कश्चिद्विरोधः । किञ्चासेधानां ससाक्षिक-त्वप्रसिद्धिः प्रायिकाभिप्राया । लोके आसेधाः ससाक्षिका असाक्षिका अपि सन्ति । दृश्यन्ते च लौकिकव्यवहारेषु । आसेधगमकसाक्ष्यभावादेवासेधाभाव इति निश्चये धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां ईश्वर एव जानातीति स साक्षिकधर्मव्या-हतिस्स्यात् । ननु सर्वेषां मानुषविग्रहवतामाशयदोषसद्भावे ससाक्षिकेऽपि प्रामाणिके व्यवहारे साक्षिणां वा लेखका-दीनां वा मूलस्वामिनो वाऽप्याशये कतिपयाविशेषा उद्भावयितु-मशक्या इति सर्वत्र दिव्यमेव प्रवर्तते । अतो मानुषप्रमाणं निर-वकशं स्यादिति चेन्मैवं । मानुषप्रमाणानां परिशुद्धानां सद्भावेऽ-प्याशयदोषोद्भावनद्वारा तेषां मूलशैथिल्यमापाद्य दिव्याङ्गीकारै-र्निर्णेतृभिस्सभ्यैः प्राड्विवाकेन च व्यवहारस्य सोत्तरत्वमापा-

द्यावष्टम्भेन निर्णयः कर्तव्यः । अत एवोक्तं पितामहेन—

सोत्तरानुत्तरत्वेन व्यवहारो द्विधा मतः ।

इति । एतद्व्याचष्टे नारदः—

'सपणापणभेदाद्व्यवहार' इति ।

द्विप्रकार इति शेषः । अतश्च मानुषप्रमाणदूषणार्थमाशयदोषोद्धाटनेन दिव्यावलम्बने पणबन्धं दत्वा व्यवहारमवष्टभ्यावश्यं दिव्यं देयमेवेति ध्येयम् ।

## निर्णयकृत्यम्

अत्र निर्णयकृत्यमाह सङ्ग्रहकारः—

उक्तप्रकाररूपेण स्वमतस्थापिताःक्रियाः ।
राज्ञा परीक्ष्य सभ्यैश्च स्थाप्यौ जयपराजयौ ॥
यो यथोक्तान्यतमया क्रिययाऽर्थं प्रसाधयेत् ।
भाषाक्षरसमं साध्यं स जयी परिकीर्तितः ॥
असाधयन् साधयित्वा विपरीतार्थमात्मनः ।
दृष्टकारणदोषो वा यःपुनस्स पराजयी ॥

इति । व्यासः—

जितं तु दण्डयेद्राजा जेतुः पूजां प्रवर्तयेत् ।

पूजा च गन्धमाल्यवस्त्रादिना कार्या ।

जेतुःप्रवर्तयेत्पूजां गन्धमाल्याम्बरादिभिः ।

इति स्मृतेः । यत्तु कात्यायनोक्तम्—

शतार्धं दापयेच्छुद्धमशुद्धो दण्डभाग्भवेत् ।

इति । यदपि विष्णुनोक्तम्—

एतैर्दिव्यजयावधारणे शतार्धं दण्ड्यश्शुद्धः । अशुद्धो दण्डभाक् इति । तत्तु शुद्धस्य दण्डविधानं सपणव्यवहार एव ।

यथा समनन्तरमेव विष्णुः—

'सोत्तर एव व्यवहारे शुद्धस्य दण्डः' इति। स तु दण्डोऽर्थदण्ड इत्यर्थसिद्धम्। अशुद्धस्य दण्डप्रकारमाह कात्यायनः—

विषे तोये हुताशे च तुलाकोशे च तण्डुले।
तप्तमाषकदिव्ये च क्रमाद्दण्डं प्रकल्पयेत्॥
सहस्रं षट्च्छतं चैव तथा पञ्चशतानि तु।
चतुस्त्रिद्व्येकमेवं च हीनं हीने(तु) च कल्पयेत्॥

इति। अयं दण्डो 'निह्नवे भावितो दद्यात्' इत्युक्तदण्डेनापि समुच्चीयते इति विज्ञानेशः। सहस्रादिसङ्ख्यासङ्ख्येयत्वं पणानामेवेति भारुचिः।

पूजाप्रवर्तनानन्तरकृत्यमाह कात्यायनः—

सिद्धेनार्थेन संयोज्यो वादी सत्कारपूर्वकम्।
लेख्यं स्वहस्तसंयुक्तं तस्मै दद्यात्तु पार्थिवः॥

इति। लेख्यं जयपत्रमुच्यते। जयपत्रे च यद्वक्तव्यं तदखिलं लेख्यविधावुक्तं तत्रानुसन्धेयम्।

इति श्रीवीरगजपति गौडेश्वर नवकोटिकर्णाटकलुबुरिगेश्वर
जमुनापुराधीश्वर हुशनसाहि सुरत्राण शरणरक्षण श्री-
दुर्गावरपुत्र परमपवित्रचरित्र राजाधिराजराज-
परमेश्वर श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराज वि-
रचिते स्मृतिसंग्रहे सरस्वतीविलासे
व्यवहारकाण्डे प्रमाणनिर्णयो-
नाम तुरीयोविलासः

# पञ्चमोल्लासः

## अथ अष्टादशपदानि

अथ सर्वासु स्मृतिषु प्रमाणनिरूपणानन्तरमेवाष्टादश पदनिरूपणम्। प्रमाणनिरूपणानन्तरं प्रमेयनिरूपणं न्याय्यमिति तदनन्तरमेव अष्टादशपदाख्यं प्रमेयं निरूप्यते।

### ऋणादानम्

तत्र ऋणादान एव मानुषदिव्यात्मकसकलप्रमाणसाध्यत्वेन व्यवहारस्य निरूपणात्प्रथम्यादुद्देशक्रमेण प्रथमं ऋणादानाख्यं विवादपदं निरूप्यते। अत एवोक्तं तेषामाद्यमृणादानम्' इति। अत्र ऋणादानविधिस्सप्तविधः। ईदृशमृणं देयं ईदृशमृणमदेयमनेनाधिकारिणा देयं अस्मिन् समये देयमनेन प्रकारेण देयमित्यधमर्णे पञ्चविधः। उत्तमर्णे तु दानविधिः आदानविधिश्चेति द्विविधः। यथोक्तं नारदेन—

ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यदा भवेत्।
दानग्रहणधर्माश्च ऋणादानविधिस्स्मृतः॥

इति। तत्र ऋणप्रदानपूर्वकत्वादितरेषां प्रथमं तत्प्रदानप्रकारमाह याज्ञवल्क्यः—

अशीतिभागो वृद्धिस्स्यात् मासिमासि सबन्धके।
वर्णक्रमाच्च तद्द्वित्रिचतुःपञ्चकमन्यथा॥

विश्वासार्थमधमर्णेनोत्तमर्णे यदाधीयते। तदाधिरत्र बन्धकमुच्यते। सबन्धके प्रयोगे प्रयुक्तद्रव्यस्याशीतितमो भागो वृद्धिर्धर्म्या भवति। तेन पणाविंशत्याः पणपादो मासिमासि वृद्धिर्भवति तथा च मनुः—

वसिष्ठवचनप्रोक्तां वृद्धिं वार्धुषिके शृणु।

पञ्चमाषास्तु विंशत्या एवं धर्मो न हीयते ॥

तथा च गौतमः—

कुसीदवृद्धिर्धर्म्या स्याद्विंशतेः पाञ्चमाषिकी ।

दशमाषस्य पणत्वे पणाविंशतितमो भागो माषः । तदर्धं तण्डुलो भवति । विंशतिमाषस्य पणत्वे तण्डुलपरिमितं भवति । षोडशमानत्वे पणस्य पणस्य दशगुणं कल्प्यम् । अन्यथा—बन्धरहिते प्रयोगे । वर्णानां—ब्राह्मणादीनां चतुर्णां क्रमेण द्विचतुःपञ्चकं शतं धर्म्यं भवति । ब्राह्मणेऽधमर्णे द्विकं शतं । क्षत्रियेऽधमर्णे त्रिकं शतं । वैश्येऽधमर्णे चतुष्कं शतम् । शूद्रेऽधमर्णे पञ्चकं । मासिमासि भवति । द्विचतुःपञ्चास्मिन् वृद्धिः दीयत इति—द्विचतुःपञ्चकं शतम् । एतदुक्तं भवति—समानजातीये सर्वत्र त्रिकं शतमेव न्याय्यम् । तथा च क्षत्रियस्य क्षत्रियेऽधमर्णे द्विकं शतं। वैश्येऽधमर्णे त्रिकं शतं । शूद्रेऽधमर्णे चतुष्कं शतं। तथा वैश्यस्य वैश्येऽधमर्णे द्विकं शतं । शूद्रे अधमर्णे त्रिकं शतं । तथा शूद्रस्य शूद्रेऽधमर्णे द्विकं शतमिति । अनन्तरं त्रिकं शतम् एकान्तरे चतुष्कं शतं धर्म्यं भवतीति । तथा च मनुः—

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं तथा ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामानुपूर्व्यशः ॥

इति । अत्र बृहस्पतिः—

वृद्धिश्चतुर्विधा प्रोक्ता पञ्चधाऽन्यैः प्रकीर्तिता ।
षड्विधाऽन्यैस्समाख्याता तत्वतस्तान्निबोधत ॥
कायिका कालिका चैव चक्रवृद्धिस्तथाऽपरा ।
कारिताऽथ शिखावृद्धिर्भोगलाभस्तथैव च ॥

कायिकादीनां स्वरूपमाह स एव—

कायिका कर्मसंयुक्ता मासग्राह्या तु कालिका ।
वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः कारिता ऋणिना कृता ॥
प्रत्यहं गृह्यते या तु शिखावृद्धिस्तु सा स्मृता ।
शिखेव वर्धते नित्यं शिरश्छेदान्निवर्तते ॥
मूले दत्ते तथैवैषा शिखावृद्धिस्तथा स्मृता ।
गृहात्तोष×फलं क्षेत्राद्भोगलाभः प्रकीर्तितः ॥

इति। गृहात्तोष इत्यनेन निवासनिबन्धनो गृहसकाशात्सन्तोषः। क्षेत्रात्संभूतधान्यादिफलं च भोगलाभाख्या वृद्धिरिति। 'प्रत्यहं गृह्यते' इत्यनेन संप्रतिपन्नदिनसंख्याविशिष्टवृद्धिग्रहणाल्लाभो दर्शितः। तथा च कात्यायनः—

एकान्तेनैव वृद्धिं तु शोधयेद्यत्र चर्णिकम् ।
प्रतिकालं ददात्येव शिखावृद्धिस्तु सा स्मृता ॥

ऋणिना स्वेच्छया कृता वृद्धिः कारिता। स्वार्थे णिच्। अत एव परप्रेरणया तु कारिता वृद्धिः निषिद्धैवेति चन्द्रिकाकारः। तथा च कात्यायनः—

ऋणिकेन तु या वृद्धिरधिका संप्रकल्पिता ।
आपत्कालकृता नित्यं दातव्या कारिता तु सा ॥
अन्यथा कारिता वृद्धिर्न दातव्या कथंचन ।

इति। अयमत्र निष्कर्षः—वृद्धिर्द्विविधा—कृता कारिता चेति। कृता तूत्तमर्णाधमर्णाभ्या। सा च कायिकादिभेदात् षड्विधा। कारिता तु आपत्कालकृता उत्तमर्णाधमर्णव्यतिरिक्तैर्मध्यस्थैरनापत्कालेऽपि मध्यस्थैःकृता एवं कारितवृद्धिद्वये अनापत्का-

लकृता निषिद्धा। अधमर्णा—न ग्रहीतव्येत्यर्थः।

कायिकां भोगवृद्धिं च कारितां च शिखात्मिकाम्।
चतुर्थीं वृद्धिमाहुश्चक्रवृद्धया तु पञ्चमीम् ॥

इति बृहस्पतिवचनस्य तात्पर्यमिति मन्तव्यम्। वृद्धेरपि प्रतिमासं मूलभावेन पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः। मासग्राह्या—प्रतिमासं लभ्या वृद्धिः कालिका। अश्वमहिषीदास्यादीनधिकृतस्य वाहनदोहनादिकायिकव्यापार एव यत्र वृद्धित्वेन कल्पितः सा कायिकेति। पश्वादिद्रव्यस्य तु वृद्ध्यर्थं प्रयुक्तस्य तदीया सन्ततिरेव वृद्धिरित्याह याज्ञवल्क्यः—सन्ततिस्तु पशुस्त्रीणामिति। स्त्रियो—दास्यः। सन्तत्यभावे तु प्रयुक्तस्य पश्वादेः पुष्टिरनाशो वा लाभः। क्षीरार्थिनां परिचर्यार्थिनामित्यर्थः। अधमर्णविशेषे प्रतिमासं वृद्धेः परिमाणान्तरमाह स एव—

कान्तारगास्तु शतकं सामुद्रा विंशकं शतम्।
दद्युर्वा स्वकृतां वृद्धिं सर्वे सर्वासु जातिषु ॥

कान्तारमरण्यं गच्छन्तीति कान्तारगाः। समुद्रं गच्छन्तीति सामुद्राः। तेभ्यो दशकं शतं विंशकं शतं च धर्म्यं भवति मासिमासीत्यनुषज्यते। कारितायां वृद्धौ सर्वे ब्राह्मणादयः। अयमर्थः—कान्तारगन्तृभ्यो दशकं शतं। समुद्रगन्तृभ्यो विंशतिकं शतमुत्तमर्ण आदद्यात्। मूल्यविनाशस्यापि शङ्कितत्वादिति। क्वचिदकृताऽपि वृद्धिर्भवति। यथाऽऽह नारदः—

न वृद्धिःप्रीतिदत्तानां स्यादनाकारिता क्वचित्।
अनाकारितमप्यूर्ध्वं वत्सरार्धाद्विवर्धते ॥

अनाकारितमकृतमित्यर्थः । अत्र विष्णुः—

यो गृहीत्वा ऋणं पूर्वं यो दास्यामीति सामकम् ।
न दद्याल्लोभतःपश्चात्तदा वृद्धिमवाप्नुयात् ॥

सममेव सामकं—अकृतवृद्धिमिति यावत् । कात्यायनस्तु विशेषमाह—

पण्यं गृहीत्वा यो मूल्यमदत्त्वैव दिशं व्रजेत् ।
ऋतुत्रयस्योपरिष्टात्तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात् ॥

अप्रतियाचितविषयमेतत् ।

यो याचितकमादाय तमदत्त्वा दिशं व्रजेत् ।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात् ॥

यः पुनस्स्वदेशे स्थित एव याचितोऽपि याचितकं न दद्यात् तं याचनकालमारभ्य वृद्धिं दापयेद्राजा—

स्वदेशेऽवस्थितो यस्तु न दद्याद्याचितः क्वचित् ।
तं ततोऽकारितां वृद्धिमनिच्छन्तं च दापयेत् ॥

इति स्मरणात् । अत्र वृद्धेः परिमाणं 'अशीतिभागो वृद्धिस्स्यात्' इत्यादिवचनैः प्रतिपादितम् । यथाऽऽह मनुः—

कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिध्यति ।
कुसीदपदमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥

कुसीदमाहुरित्युच्छास्त्रवृद्धिं निषेधति । शास्त्रकृतवृद्ध्यनुसारो वृद्धिग्रहणे यो लौकिकानां समाचारः स कृतानुसारः । तस्मादधिका वृद्धिः न सिध्यति । अत एवाह विष्णुः—

'वृद्धिं दद्यादकृतामपि। संवत्सरातिक्रमे यथाऽभिहितां' इति । यथाऽभिहितां धर्मशास्त्रे इति शेषः । नच प्रत्यर्थिना

मध्यस्थेन वा अर्थिना वा अभिहिता ; अधर्मणाद्यङ्गीकारायत्तपरिमाणस्यात्रासंभवात् । अन्यस्य पुरुषबुद्धिकल्पितस्य शास्त्रबाह्यस्यायुक्तत्वात् शास्त्रोक्तमेव परिमाणं ग्राह्यमिति तात्पर्यम् । स्मृत्यन्तरे विशेष उक्तः—

प्रीतिदत्तं न वर्धेत यावन्न प्रतियाचितम् ।
याच्यमानमदत्तं च वर्धते पञ्चकं शतम् ॥

इति । अनाकारितवृद्धेरपवादमाह नारदः—

पण्यमाला भृतिर्न्यासो दण्डो यत्र प्रकल्पितः ।
वृथादानाक्षिकपणा वर्धन्ते नाविवक्षिताः ॥

वृथादानं नटादिभ्यो दत्तम् । आक्षिकपणः—अक्षसंबन्धिपणः संवर्तोऽपि—

न वृद्धिः स्त्रीधने लाभे निक्षेपे च यथास्थिते ।
संन्दिग्धे प्रातिभाव्ये च यदि न स्यात्स्वयंकृता ॥

स्वयंकृतेति वदन् स्त्रीधनादावपि कृता वृद्धिर्देयेति दर्शयति। निक्षेपे च यथास्थित इति वदन् अयथास्थितत्वे व्यक्तचन्यत्वादिकरणे वृद्धिर्भवतीति दर्शयति । कात्यायनोऽपि—

चर्मसस्यासवद्यूतपण्यमूल्येषु सर्वदा ।
स्त्रीशुल्के च न वृद्धिस्स्यात्प्रातिभाव्यागतेषु च ॥

अतः सर्वदेति वदन् प्रतियाचनादेर्विद्यमानत्वेऽपि नास्त्यकृता वृद्धिरिति दर्शयति । गौतमेन तु विशेष उक्तः । 'भुक्ताधिर्न वर्धते' इति । भुक्तो वस्त्रालङ्कारादिरिह भुक्ताधिः । याज्ञवल्क्येनापि—

दीयमानं न गृह्णाति प्रयुक्तं यत्स्वकं धनम् ।
मध्यस्थस्थापितं यच्च वर्धते न ततः परम् ॥

इति । वृद्ध्युपरमावधिमाह नारदः—

ऋणानां सार्वभौमोऽयं विधिर्वृद्धिकरस्स्मृतः ।
देशाचारस्थितिस्त्वन्या यत्रर्णमवतिष्ठते ॥
द्विगुणं त्रिगुणं चैव तथाऽन्यस्मिंश्चतुर्गुणम् ।
तथाऽष्टगुणमन्यस्मिन् देशे देशेऽवतिष्ठते ॥

यद्देयमृणं तद्वर्धमानं क्वचिद्देशे द्विगुणं क्वचित्त्रिगुणं क्वचिच्चतुर्गुणं । प्रयुक्तद्रव्यभेदेन वृद्धिव्यवस्थामाह बृहस्पतिः—

हिरण्ये द्विगुणा वृद्धिस्त्रिगुणा वस्त्रकुप्यके ।
धान्ये चतुर्गुणा प्रोक्ता दश वाह्ये लवेषु च ॥
उक्ता पञ्चगुणा शाके बीजस्था षड्गुणा स्थिता ।
लवणस्नेहमद्येषु वृद्धिरष्टगुणा स्मृता ॥
गुडे मधुनि चैवोक्ता प्रयुक्ते चिरकालिका ।

कुप्यं—त्रपुसीसकं । शदः—क्षेत्रोत्थफलम् । यद्यपि धान्यमपि क्षेत्रोत्थफलं; तथाऽपि शदशब्देन क्षेत्रोत्थपुष्पफलादिकमुच्यते गोबलीवर्दन्यायेन । लवो—मेषलोमचामरादि । शाकवत्कार्पासेऽपि षड्गुणैव वृद्धिः । तथा च व्यासः—

शाककार्पासबीजेषु षड्गुणा वृद्धिरिष्यते ।

तैलस्यापि मद्यवदष्टगुणा वृद्धिः । कात्यायनेनापि—

तैलानां चैव सर्वेषां मद्यानामथ सर्पिषाम् ।
वृद्धिरष्टगुणा ज्ञेया गुडस्य लवणस्य च ॥

यत्तु । त्रिगुणं धान्यरसादिरिति विष्णुवचनम् । तदुभयसम्मत्या-देशभेदेन वा व्यवस्थाकल्पनेन धान्यं चतुर्गुणमिति पूर्वोक्तेन न विरुद्धम् । धान्येनैव रसा व्याख्याताः । पुष्पफलानि चेति स्मृत्यन्तरं यत्र देशे त्रिगुणं देयमवतिष्ठते तद्विषयं । दरिद्राधमर्ण-

विषयं वा। सुवर्णरत्नमद्यादीनां द्वैगुण्यमेव। यथाऽऽह कात्यायनः—

मणिमुक्ताप्रवाळानां सुवर्णरचितस्य च ।
त्रिष्ठति त्रिगुणा वृद्धिः॥

इति । अत्र मनुः—

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहिता ।

कुसीदं नामाधिकं ग्रहीष्यामीति यदल्पं दीयते तत्। तद्द्वैगुण्यं समभिव्याहाराद्धिरण्यमेवाभिप्रेतम् । सकृदाहिता—पुरुषान्तरमसंक्रामिता । यद्वा सवृद्धिकं मूलीकृता तादृशमूलेन सह द्विगुणत्वं नातिक्रामतीत्यर्थः । एवं त्रैगुण्यादावपि सकृदाहिता वृद्धिर्नातिक्रामति । अत्र विज्ञानयोगी—

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहिता ।

इति । सकृदाहृतेत्यपि पाठोऽस्ति उपचयार्थम् प्रयुक्तं (प्रवृत्तं) धनं—कुसीदं । तस्य वृद्धिः—द्वैगुण्यं नात्येति—नातिक्रामति । यदि सकृदाहिता—सकृत्प्रवृत्ता। पुरुषान्तरसङ्क्रमादिना प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यमत्येति । सकृदाहृतेति पाठे तु शनैश्शनैः प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिवत्सरं वा अधमर्णादाहृता द्वैगुण्यं नात्येतीति व्याख्येयमित्याह । तथा च गौतमः—

'चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य' इति । प्रयोगस्येत्येकवचननिर्देशात् प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यातिक्रमोऽभिप्रेतः । चिरस्थान इति निर्देशाच्छनैश्शनैर्वृद्धिग्रहणे द्वैगुण्यातिक्रमो दर्शितः ॥

वृद्ध्युपरमापवादः.

क्वचिद्वृद्ध्युपरमापवादः । यथाऽऽह बृहस्पतिः—

तृणकाष्ठेष्टकासूत्रकिण्वचर्मास्थिवर्मणाम् ।
हेतिपुष्पफलानां च वृद्धिस्तु न निवर्तते ॥

चर्म—बाणादि निवारकः—फलकः। वर्म—कवचं। पुष्पफलयोस्तु वृद्ध्यनिवृत्तिः प्रतिदानवेळायामत्यन्तासमृद्धाधमर्णविषये वेदितव्या। अन्यथा पूर्वोक्तवचनव्याकोपप्रसङ्गापत्तेः। विष्णुरापि—

किण्वकार्पासमात्रचर्मवर्मायुधेष्टकाङ्गाराणामक्षया।

इति। अत्र कार्पासस्य षड्गुणाभिधायकवचनविरोधः पूर्ववत्परिहार्यः। वसिष्ठोऽपि—

दन्तचर्मास्थिशृङ्गाणां मृन्मयानां तथैव च।
अक्षया वृद्धिरेतेषां पुष्पमूलफलस्य च॥

मनुस्तु क्वचित्प्रतिषेधमाह—

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं नचादृष्टां विनिर्हरेत्।

इति। अदृष्टां धर्मशास्त्रेषु। षट्कं शतमित्येवमादीत्यर्थः। केचिददृष्टामित्येतत्पदमन्यथा वर्णयन्ति—

हिरण्यधान्यवस्त्राणां वृद्धिर्द्वित्रिचतुर्गुणा।
घृतस्याष्टगुणा वृद्धिस्ताम्रादीनां चतुर्गुणा॥
तैलानां षड्गुणा वृद्धिस्त्रीपशूनां तु सन्ततिः।
चतुर्गुणा स्यात्कोशानां कार्पासस्य चतुर्गुणा॥
काष्ठानां चन्दनादीनां वृद्धिरष्टगुणा भवेत्।
एवं वृद्धिविधिः प्रोक्ता नास्ति वृद्धिस्ततःपरा॥
न वृद्धेर्वृद्धिरस्तीति धर्मकारानुशासनम्।
न चान्यसंश्रिता वृद्धिरिति वृद्धेश्च कर्हिचित्॥

इत्यत्र वृद्धिसंश्रितवृद्धीनां शास्त्रनिषेधात् शास्त्रादृष्टत्वमिति॥ अत्र चन्दनादीनामित्यादिशब्दस्तु गन्धमात्रोपलक्षकः। ताम्रादीना-

मित्यादिशब्देन सुवर्णरजतव्यतिरिक्तानां त्रपुसीसादीनां ग्रहणम्। कोशशब्दो धान्यानामुपलक्षकः ॥ कार्पासशब्दग्रहणेन तण्डुल-प्रभृतीनामुपलक्षणम् । धान्यस्य त्रिगुणपञ्चगुणयोर्व्यवस्था पूर्व-मेवोक्ता । नातिसांवत्सरीमित्यस्यार्थः—शूद्राधमर्णे प्रतिमासं पञ्चशतं गृह्णीयादिति या वृद्धिःप्रागुक्ता सा ब्राह्मणाधमर्णे कथं चिदङ्गीकारवशात् गृह्यमाणा संवत्सरं यावद्ग्रहीतव्या ; न ततः परमिति । अपरे तु— तद्वैगुण्याद्वृद्धिग्रहविधानात् संवत्सरा-दूर्ध्वमपि वृद्धिग्रहणे दोषाभावात् अभ्युदयार्थी चेत् संवत्सरा-दूर्ध्वं या वृद्धिस्तां न निर्हरेत्–न गृह्णीयादिति। अयं प्रकारः चन्द्रि-काकारादीनामभिप्रेतः । आद्यस्तु अपरार्कादीनामभिप्रेतः ॥ यथारुचि स्वीकार्यम् । अत्र विष्णुः—

स्तेयं ब्रह्मस्वविषये सुवर्णाभरणे तथा ।
पश्चात्तत्तेन दातव्यं तस्मादेकादशाधिकम् ॥

अयमर्थो ब्राह्मणसंबन्धिसुवर्णव्यतिरिक्तद्रव्यापहारे । क्षत्रिय-सुवर्णापहारे च । तथाच पितामहः—

सद्यस्स्याद्द्वादशगुणं चोरितं रत्नहाटकम् ।
ब्राह्मणस्वं च रूप्यादि सद्योऽप्येकादशाधिकम् ।

कात्यायनः—

कुप्यं पञ्चगुणं भूमिः तथैवाष्टगुणा मता ।
सद्य एवेति वचनात् सद्य एव प्रदीयते ॥

इति । बृहस्पतिस्तु विशेषमाह—

शिखावृद्धिं कायिकां च भागलाभं तथैव च ।
धनी तावत्समादद्याद्यावन्मूलं न शोधितम् ।

शिखावृद्ध्यादीनां स्वरूपं पूर्वमेवोक्तम् ।

न शोधितं न प्रतिदत्तं ऋणिकेनेत्यर्थः। अत एवाह याज्ञवल्क्यः–

आधिस्तु भुज्यते तावद्यावन्न प्रतिदीयते ।

इति। अत्र हारीतः—

बन्धं यथा स्थापितं स्यात्तथैव परिपालयेत् ।
अन्यथा नश्यते लाभो मूलं वा तद्व्यतिक्रमात् ॥

यथा—येन प्रकारेण गोप्यत्वेन भोग्यत्वेन वा स्थापितं–अधमर्णेनाधीकृतं। तथैव–गोप्यमाधिं गोप्यत्वेनैव भोग्यमाधिं भोग्यत्वेनैव धनी पालयेत्। अन्यथा– गोप्यं भोग्यत्वेनैव भोग्यं वा गोप्यत्वेनैव पालितं चेत् । समयातिक्रमाल्लाभो नश्यति; मूलं वा द्रव्यं नश्यतीत्यर्थः। तथाच याज्ञवल्क्यः—

गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः ।

इति। भोगे बलादिति शेषः। तथा च मनुः—

न भोक्तव्यो बलादाधिः भुञ्जानो वृद्धिमृत्सृजेत् ।

इति । अयमर्थः—भोगप्रतिषेधं कुर्वन्तमाधातारमाक्रम्य गोप्याधिं भुञ्जानस्यात्यन्तापराधित्वात् अल्पभोग एव सर्वनाशकस्स्यादिति। यस्तु बलात्कारेणात्यन्तं भुङ्क्ते तस्य मूलहानिरेवेति। मूलं वेति हारीतवचने विकल्पार्थः। तथा च मनुः—

यस्स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भुङ्क्ते विचक्षणः ।
तेनाधिवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥

भोग्याधौ तु भोग्यत्वेन पालिते लाभस्यैव नाशः। समयातिक्रममात्रेण मूलनाशपक्षानवतारात्। नच भोग्याधौ वृद्ध्यभावाल्लाभनाशपक्षस्याप्यनवतार इति वाच्यं। भोगस्यापि लाभत्वात्।

अथवा यत्राधाता आदावुपभोगं वृद्धिदानमप्याध्याऽभ्युपगच्छाति तत्र प्राप्ता वृद्धिरित्यवगन्तव्यं । अत एवाह याज्ञवल्क्यः—

गोप्याधिभोगे नो वृद्धिस्सोपकारेऽपि हापिते ।
नष्टो देयो विनष्टश्च दैवराजकृतादृते ॥

गोप्याधेस्ताम्रकटाहादेरुपभोगे वृद्धिर्न भवति ।

तथा सोपकारे—उपकारकारिणि बलीवर्दादौ । भोग्याधौ सवृद्धिके हापिते। हानिं—व्यवहाराक्षमत्वं।गमिते नो वृद्धिरिति संबन्धः नष्टो—विकृतिं गतः छिद्रभेदादिना । पूर्ववत्कृत्वा देय ।वृद्धिसद्भावे वृद्धिरपि हातव्या । विनष्टः—आत्यन्तिकनाशं प्राप्तः । सोऽपि देयो मूल्यादिद्वारेण । तद्दाने सवृद्धिकमूल्यं लभते यदि तदा मूल्यनाशः—

विनष्टे मूलनाशस्स्याद्दैवराजकृतादृते ।

इति नारदवचनात् । दैवं—अग्न्युदकदेशोपप्लवादि । दैवकृताद्राजकृताद्वा विनाशाद्विना स्वापराधकृतात् विनाशे सवृद्धिकं मूल्यं दातव्यम् । अधमर्णेनाध्यन्तरं वा दातव्यम् । यथाऽऽह—

स्रोतसाऽपहृते क्षेत्रे राज्ञा चैवापहारिते ।
आधिरन्योऽथ दातव्यो देयं वा धनिनो धनम् ॥

इति । तथाच नारदः—

यद्याधेर्मूलनाशस्स्याद्दैवराजकृतात्क्वचित् ।
आध्यर्थस्त्वृणिना देयस्त्वशक्तौ भोगतो भवेत् ॥

इति । प्रतिसंवत्सरं यावान् भोगस्तावान् वृद्धित्वेन दातव्य इत्यर्थः । भारद्वाजस्तु विशेषमाह—

प्रच्छाद्याधिमृणी कुर्यात् क्रयार्थे बलवच्च यः ।
दण्डं स त्रिगुणं दत्वा पुनराध्यर्थको भवेत् ॥

अत्र व्यासः—

ग्रहीतृदोषान्नष्टश्चेत् बन्धो हेमादिको भवेत् ।
ऋणं सलाभं संशोध्य तन्मूल्यं दापयेद्धनी ॥

अत्र भारद्वाजः—

आधेः प्रवेशने काले मोहान्नेच्छति चेद्धनी ।
भोगो नास्त्येवात ऊर्ध्वं न वर्धयति तद्धनम् ॥
भोग्याधिक्यं च भोग्याधेर्ह्रासं च न विचारयेत् ।
लेख्ये तु लिखिते यावत्तावद्भोक्तव्यमेव तु ॥

अतश्च—

रक्ष्यमाणोऽपि यत्राधिः कालेनायादसारताम् ।
आधिरन्योऽथवा कार्यो देयं वा धनिनो धनम् ।

इति । जङ्गमविषय एवमवगन्तव्यं । अत एवाह बृहस्पतिः—

आधिर्बन्धस्समाख्यातस्स च प्रोक्तश्चतुर्विधः ।
जङ्गमस्स्थावरश्चैव गोप्यो भोग्यस्तथैव च ॥

अयमर्थः—आधिर्द्विविधः । स्थावरो जङ्गमश्च । अत एवाह नारदः—

आधिस्तु द्विविधः प्रोक्तो जङ्गमस्स्थावरस्तथा ।
स चापि द्विविधःप्रोक्तो गोप्यो भोग्यस्तथैव च॥

इति । अत्र भोग्यो द्विविधः सप्रत्ययभोग्याधिः अप्रत्ययभोग्याधिश्चेति । सवृद्धिकमूल्यापाकरणार्थो यः ससप्रत्ययभोग्याधिरित्युच्यते । वृद्धिमात्रापाकरणार्थो यः सोऽप्रत्ययभोग्याधिरित्युच्यते । तत्र सप्रत्ययभोग्याधिमाह व्यासः—

कांचिद्वृद्धिं समाभाष्य द्रव्यमादाय तत्त्वतः ।

मत्क्षेत्रं भुङ्क्ष्व वृद्ध्यर्थमधिकं मूलनाशनम् ॥
इत्यादिप्रत्ययाधिस्स्याद्वैगुण्ये निष्क्रयो भवेत् ।

सवृद्धिमूल्यापाकरणार्थो यस्स सप्रत्ययभोग्याधिरिति वचनार्थः। अथाप्रत्ययभोग्याधिमाह कात्यायनः—

द्रव्यं गृहीत्वा वृद्ध्यर्थं भोगयोग्यं ददाति चेत् ।
जङ्गमं स्थावरं वाऽपि भोग्याधिस्स तु कथ्यते ॥
मूल्यं तदाऽधिकं दत्वा (तत्क्षेत्रा) स्वक्षेत्राधिकमाप्नुयात् ।

वृद्धिमात्रापाकरणार्थे भोग्याधौ अधमर्ण उत्तमर्णतः प्राप्तं मूल्यं दत्वा स्वं क्षेत्रादिकमाप्नुयात् । एषोऽप्रत्ययभोग्याधिरिति वचनाभिप्रायः । अत्र भरद्वाजः—

प्रत्ययाधौ तु भोक्तव्या वृद्धिर्या पूर्वलेखिता ।
तावदेव तु भोक्तव्यमिति शास्त्रविनिश्चयः ॥
यत्तु तत्राधिकं वृद्धेर्देयं तद्दणिने पुनः ।
हीनं यावत्तु तद्वृद्धेतावत्संपूरयेदृणे ॥

सप्रत्ययभोग्याधौ निष्क्रयकाले सवृद्धिकमूल्यस्यापर्याप्तं पूरयेत। अधिकं चेदादद्यादिति वचनस्य तात्पर्यार्थः । अत्र यमः—

वैशाखाद्यास्तु भोग्याधेराषाढ्यां निष्क्रयो भवेत् ।
हीनं यद्धनिनो दोषादेतत्पूरणमर्हति ॥
हीनस्यापूरणे वृद्धिश्चक्रवृद्ध्या विवर्धते ।
सर्वाधीनां बलाद्भोगान्निष्क्रयो नास्ति तत्त्वतः ॥
बलाद्भुक्ते सकाले वा निष्क्रयात्त्रिगुणो दमः ।

भरद्वाजः—

स्वामिना चाननुज्ञात आधेराधिं करोति चेत् ।

स्वधनात्स तु हीनस्स्यात्करोत्यापदि पूर्ववत् ॥

आपदि—आपत्काले पूर्ववत्–स्वधनं हीयेतेत्यर्थः। दास्याद्याधौ वेतनं, शकटाद्याधौ नाशकादिकं । न तु दास्याधिकृतावघातादेस्तण्डुलादिकमित्याह कात्यायनः—

अकाममननुज्ञातमाधिं यत्कर्म कारयेत् ।
भोक्ता कर्मफलं दाप्यो वृद्धिं वा लभते न सः ॥

इति । कर्मानुसारेणेति द्रष्टव्यम् । दाप्यो—बन्धस्वामिने राज्ञेति शेषः ।

यस्त्वाधिकर्म कुर्वाणं वाचा दण्डेन कर्मभिः ।
पीडयेद्भर्त्सयेन्नैव प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥

अत्र कुर्वाणमिति शानचा कुर्वत्याधौ पीडनभर्त्सनकारिणोऽपि-न डण्ड इति सूचितम्—

बलादकामं यत्राधिमनिसृष्टं प्रवेशयेत् ।
प्राप्नुयात्साहसं पूर्वं धाताऽप्याधिमाप्नुयात् ॥

अनिसृष्टं—अनाहितं । गोप्याधौ बलादल्पस्याप्यनाहितस्य भोगे भोगकर्तुर्दण्डः सर्वमूलनाशस्स्यादिति तात्पर्यार्थः । वञ्चनया तु कृते भोगे भोगानुसारेण मूलनाशः । अन्यथा बलाद्ग्रहणस्यानर्थक्यापत्तिरिति चन्द्रिकाकारः–आधिसंरक्षणप्रकारमाह-हारीतः—

बन्धं यथा स्थापितं स्यात्तथैव प्रतिपालयेत् ।

आधिग्रहणादूर्ध्वं अर्थे नाशह्रासविकारासारत्वव्यक्तयन्तरत्वादयो यथा न भवन्ति, तथा प्रत्यर्पणपर्यन्तं धनी यत्नेनाधिं पालयेदित्यर्थः । एवं पाल्यमानेऽप्याधौ दैवादिवशान्नाशो यदि भवेत्

तदाऽपि न कश्चिद्दोषो धनिन इत्याह स एव—

दैवराजोपघाते तु न दोषो धनिनःक्वचित् ।

इति । अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

स चेद्धनिकदोषेण निपतेद्वा म्रियेत वा ।
अधिमन्यं स दाप्यस्स्याद्दणान्मुच्येत सर्णिकः ॥

इति । धनिकदोषादन्यत्राध्यपचारे ऋणिक ऋणान्मुच्यते । तेनान्यमधिकमाधिसमं वाऽर्थमृणिको धनिने राज्ञा दाप्य इत्यर्थः । आधिसिद्धिं प्रत्याह नारदः—

आधिस्तु द्विविधःप्रोक्तःस्थावरो जङ्गमस्तथा ।
सिद्धिरस्योभयस्यापि भोगो यद्यस्ति नान्यथा ॥

सिद्धिराधित्वसिद्धिः । अन्यथा—विना भोगं अधमर्णोद्दिष्टस्य उत्तमर्णस्वीकारमात्रेणेति यावत् । तथाच कात्यायनः

मर्यादाचिह्नितं क्षेत्रं गृहं वाऽपि यदा भवेत् ।
ग्रामादयश्च लिख्यन्ते तदा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

अनेन लेख्यारूढत्वमपि आधिसिद्धौ निमित्तमिति सूचितं । मुख्यं प्रयोजनं भोग एव । तथाच विष्णुः—

ययोर्निक्षिप्त आधिस्तं विवदेतां यदा नरौ ।
यस्य भुक्तिर्जयस्तस्य बलात्कारं विना कृता ॥

द्वयोरपि भुक्तिसद्भावे बृहस्पतिराह—

क्षेत्रमेकं द्वयोर्बन्धेदत्तं यत्समकालिकम् ।
येन भुक्तं भवेत्पूर्वं तस्य तत्सिद्धिमाप्नुयात् ॥

एतच्चोभयोः पत्रारूढत्वे वेदितव्यम् । यथाऽऽह वसिष्ठः—

तुल्यकाले निसृष्टानां लेख्यानामधिकारिणा ।

येन भुक्तं भवेत्पूर्वं तस्याधिर्बलवत्तरः ॥

भोग्याधौ भोगस्य प्रधानकारणत्वात्प्राथम्यनिबन्धनबलवत्ता युक्तेत्यभिप्रायः। भोगाविशेषे तु—

यद्येकदिवसे तौ तु भोक्तुकामा (वुपागतौ) पस्थितौ।
विभज्याधिं समं तेन भोक्तव्य इति निश्चयः ॥

तेनेत्येकवचनं द्विवचनस्योपलक्षम्, द्वाभ्यामित्यर्थः। यद्वा–तेनेति तर्हीत्यर्थे निपातः। भोग्यादौ विशेषमाह कात्यायनः—

आधिमेकं द्वयोर्यत्र कुर्यात्कोऽत्र पतिर्भवेत्।
तयोः पूर्वकृतं ग्राह्यं तत्कर्ता चोरदण्डभाक् ॥

पूर्वकृतं—पूर्वमुपादानादिना सिद्धं। उपादानादौ यौगपद्येऽप्याह बृहस्पतिः—

तुल्यकालोपस्थितयो द्वयोरपि समं भवेत्।

उपस्थितयोः—उपादानादिकं कर्तुमिति शेषः। गोप्याधौ लेख्यमेव प्रबलं प्रमाणमित्याह कात्यायनः—

आधानं विक्रयो दानं लेख्यसाक्षिकृतं यथा।
एकक्रियाविरुद्धं तु लेख्यं तत्रापहारकम् ॥

लेख्यं–लेख्यकृतं। अपहारकं बलवत्। लेख्यसिद्धत्वाविशेषेऽपि बलाबलविशेषमाह स एव—

अनिर्दिष्टं च निर्दिष्टमेकत्र च विलेखितम्।
विशेषलिखितं ज्याय इति कात्ययनोऽब्रवीत् ॥

अनिर्दिष्टं नामादातुराधिकरणकाले यद्यद्धनं निरूपितस्वरूपं तद्धनं निर्दिष्टं। तद्विपरीतमनिर्दिष्टमित्युच्यत इति। आधिकरणकाले निर्दिष्टत्वसाम्येऽप्याह।

स एव—

यस्तु सर्वस्वमादिश्य प्राक्पश्चान्नामचिह्नितम् ।
आदद्यात्तत्कथं तु स्याच्चिह्नितं बलवत्तरम् ॥

अत एवाह याज्ञवल्क्यः—

आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा ।

इति । आध्यादिषु त्रिषु पूर्वमेव कार्यं बलवत् । अन्यथा एकमेव क्षेत्रं एकस्याधिं कृत्वा पुनरन्यस्याप्याधौ यत्किमपि गृह्णाति । अत्र पूर्वस्यैव तद्भवति नोत्तरस्य । एवं प्रतिग्रहे क्रये च । नन्वाहितस्य तदानीमस्वत्वात्पुनराधानं न संभवति । एवं दत्तस्य च क्रीतस्य च दानक्रयौ नोपपद्येते; तस्मादिदं वचनमनर्थकमिति चेदुच्यते—अस्वामित्वे लोभात्कश्चिन्मोहाद्वा पुनराधानादिकं करोति तत्र पूर्वकं बलवदिति न्यायमूलमेवेदं वचनमित्यचोद्यमिति विज्ञानेशः । यद्यप्याधिकरणेन न स्वामिभावो निवर्तते, तथाऽपि प्रतिबध्यते । ततश्च प्रतिबद्धस्वामिभावेन कृत आधिविक्रयःपरेण कृत इवासिद्धत्वाद्दुर्बलो बाध्यत एव । एवं दानक्रयौ । अनेनाभिप्रायेण वसिष्ठोऽपि—

यःपूर्वतरमाधाय विक्रीणीते तु तं पुनः ।
किमेतयोर्बलीयस्स्यात्प्राक्तनं बलवत्तरम् ॥

अतश्चाधौ परिक्रीत इत्यत्र आधावित्यत्र विषयसप्तमी । आधिप्रतिग्रहक्रययोश्च बलवत्ताविचारणे पूर्वस्याबलवत्त्वमिति केषांचिन्मतम् । आधिप्रतिग्रहक्रयाणां यौगपद्येऽप्याह स एव—

कृतं यत्रैकदिवसे दानमाधानविक्रयम् ।
त्रयाणामिति सन्देहे कथं तत्र विचिन्तयेत् ॥

त्रयोऽपि तद्धनं दम्यं विभजेयुर्यथांऽशतः ।
उभौ क्रियानुसारेण विभागेन प्रतिग्रहः ॥

इति । अत्र क्रयशब्दो धनवचनः; करणव्युत्पत्तेराश्रयणात् । तथा च बृहस्पतिः—

कृतं चेदेकदिवसे विक्रयाधिप्रतिग्रहम् ।
त्रयाणामपि सन्देहे कथं तत्र विचारणा ॥
त्रीण्येव हि प्रमाणानि विभजेयुर्यथांशतः ।
उभौ चार्थानुसारेण त्रिभागेन प्रतिग्रही ॥

इति । प्रतिग्रह इति पाठे निष्पद्यत इति शेषः ।

आधिःप्रणश्येद्द्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते ।
काले कालकृतो नश्येत्फलभोग्यो न नश्यति ॥

अत्राधिप्रणाशो नामाधमर्णसंबन्धं परित्यज्य धनिकसंबन्धापत्तिः । एतदुक्तं भवति—प्रयुक्ते द्रव्ये स्वकृतया वृद्ध्या कालक्रमेण द्विगुणीभूते यद्याधिरधमर्णेन द्रव्यादानेन न मोक्ष्यते । तदा नश्यति—अधमर्णस्य स्वं धनप्रयोक्तुः स्वं भवतीति । कालकृतोऽप्येवमेव । कालकृतः—कृतकालः । आहिताग्न्यादित्वात्पूर्वनिपातः । स तु काले निरूपिते प्राप्ते नश्येत् । द्वैगुण्यात्प्रागूर्ध्वं वा फलभोग्यः—फलं भोग्यं यस्य स फलभोग्यः । क्षेत्रारामादिः । स कदाचिदपि न नश्यति कृतकालस्याभोग्यस्य तत्कालातिक्रमनाश इत्युक्तः ‘काले कालकृतो नश्येत्’ इति अकृतकालस्य भोग्यस्य नाशाभाव उक्तः । फलभोग्यो न नश्यतीति पारिशेष्यादाधिःप्रणश्येदित्येतदकृतकालगोप्याधिविषयमवतिष्ठते । द्वैगुण्यादिक्रमेण निरूपितकालातिक्रमेण च विनाशे

चतुर्दशदिनप्रतीक्षणं कर्तव्यं ।

हिरण्ये द्विगुणीभूते पूर्णे कालकृतावधेः ।
बन्धकस्य धनी स्वामी द्विसप्ताहं प्रतीक्ष्य च ॥
तदन्तरा धनं दत्वा ऋणी बन्धमवाप्नुयात् ।

इति बृहस्पतिवचनाद्धनमत्र सवृद्धिकमूल्यं विवक्षितम् । यथाऽऽह व्यासः—

गोप्याधिं द्विगुणादूर्ध्वं मोचयेदधमार्णकः ।

इति । द्विगुणादूर्ध्वं—प्रयुक्तधने शान्तलाभे सतीत्यर्थः । मोचयेत्—सवृद्धिकमूल्यदानेनेति शेषः । लाभशान्तितः पूर्वकालमध्येऽपि सवृद्धिके धने दत्ते बन्धावाप्तिः दण्डापूपन्यायसिद्धा च ।

तदन्तरा धनं दत्वा ऋणी बन्धमवाप्नुयायात् ।
गोप्याधिं द्विगुणादूर्ध्वं मोचयेदधमर्णकः ॥

इति वचनद्वयस्य द्वैगुण्यानन्तरमेवाधिर्मोक्तव्यः मध्ये द्विगुणमेव दातव्यं धनं न तु यथाकालप्राप्तवृद्धियुक्तद्वैगुण्यात्पूर्वं न दातव्यमित्येवं व्याख्यानं न युज्यते चन्द्रिकाकारकुलार्कव्याख्याविरुद्धमिति वाच्यं । भारुचिमतानुसारेण व्याख्यानादिदमेव व्याख्यानं सम्यक् । स्थावरस्याधौ धनद्वैगुण्यं गोप्यस्यापादकम् । उत्तमर्णस्तु गोप्यलाभार्थं धनं प्रयुक्तवान् । न वृद्ध्यर्थं । अतो यदा कदाचिदपि प्रयुक्तद्रव्यदाने द्विगुणमेव धनं दातव्यं । द्विगुणानन्तरमेव परस्वत्वापत्तिर्नास्ति—

बन्धकस्य धनी स्वामी द्विसप्ताहं प्रतीक्ष्य तु ।

इति । धनिनो बन्धकस्वामित्वं चतुर्दशदिनानन्तरमेवेत्यतो न द्वैगुण्यानन्तरं बन्धनस्वामित्वं । अतो द्वैगुण्यात्पूर्वमपि द्विगुणमेव

दातव्यमिति भारुचिमततत्वं । अतश्चन्द्रिकाकारादिमतमसमंजस-मिति ध्येयं। फलभोग्याधिमूलमात्रं दत्वा फलकालान्ते वर्तमानमाप्नुयात् ऋणी—

फलभोग्यं पूर्णकालं दत्वा द्रव्यं तु सामकम् ।

इति । सममेव सामकं—मूलमात्रमिति यावत्। फलकालान्ते—ज्येष्ठावधौ ।

ज्येष्ठावधिं समासाद्य मोचयेद्भोग्यमाहितम् ।

इति । आहितं—आधीकृतमित्यर्थः । एतच्च स्थावरविषयं । स्वरूपेण भोग्यवस्त्रादौ न कालव्यवस्था । तत्र बृहस्पतिः—

धनं मूलीकृतं दत्वा यदाऽऽधिं प्रार्थयेदृणी ।
तदैव तस्य मोक्तव्यमन्यथा दोषभाग्धनी ॥

अत्र दोषः—स्तेयदोषः । देशकालव्यवधानेन धनिकासन्निधौ धनिककुटुम्बेनापि सोऽर्थो मोक्तव्यः ।

प्रयोजके सति धनं मूले न्यस्याधिमाप्नुयात् ।

न्यस्य—दत्वा । परिभाषिते विशेषमाह बृहस्पतिः—

परिभाष्य यदा क्षेत्रं प्रदद्याद्धनिके ऋणी ।
त्वयैतच्छान्तलाभेऽर्थे मोक्तव्यमिति निश्चितम् ॥
प्रविष्टे सोदये द्रव्ये प्रदातव्यं त्वया मम ।

इति । त्वयैतादित्यादिपरिभाष्य यदा ऋणग्रहणकाले क्षेत्राद्याधिं प्रदद्यात् । प्रागुक्तविधयाऽधिलाभ इत्यर्थः। आधिलाभोऽनयैव परिभाषया लाभशान्तेःपश्चादपि सिध्यतीत्याह याज्ञवल्क्यः—

यदा तु द्विगुणीभूतमृणमाधौ तदा खलु ।
मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने ॥

अत्र विष्णुः—

गृहीतधनप्रवेशार्थमेव यत्तु स्थावरं दत्तं तद्गृहीतधनप्रवेशे-
द्द्यादिति ।

एवंविधमाधिं लौकिकाःक्षयाधिमाचक्षते। केचिदिदमेव परिभाषिताधिं; केचित्संविदाधिमाहुः ।

नन्वाधिःप्रणश्येदित्यनुपपन्नं; अधमर्णस्य स्वत्वनिवृत्तिहेतोर्दानविक्रयादेरभावात्। धनिकस्य च स्वत्वहेतोःप्रतिग्रहक्रयादेरभावादिति चेन्मैवं। आधीकरणमेव लोके सोपाधिकस्वत्वनिवृत्तिहेतुः आधिस्वीकारश्च सोपाधिकस्वत्वापत्तिहेतुः प्रसिद्धः। अत्र धनद्वैगुण्ये निरूपितकालप्राप्तौ च द्रव्यस्यात्यन्तनिवृत्तेः अनेन वचनेन अधमर्णस्य आत्यन्तिकी स्वत्वनिवृत्तिः उत्तमर्णस्यात्यन्तं स्वत्वं भवतीति विज्ञानेशः। चन्द्रिकाकारस्तु—धनद्वैगुण्यमवधिभूतकालातिक्रमणं च स्वत्वध्वंसकं यद्यपि लोके द्वैगुण्यादेर्न तथा प्रसिद्धिरस्ति; तथाऽपि द्रव्यविनिमयस्य तथा प्रसिद्धिरस्ति। तिलविक्रयप्रतिषेधाद्विक्रयाकरणेऽपि विनिमये तिलानां स्वत्वनिवृत्तिदर्शनात्। ततश्चात्रापि कृतकालावधौ ऋणी ग्रहणकाल एव यद्यहमियता कालेन न ददामि आधिरेवानृण्याय तव भविष्यतीति धनिकर्णिकयोर्विनिमयसंप्रतिपत्तेर्जातत्वादवधिभूतकाले स्वत्वध्वंसो युक्त एवेति। अयमभिसन्धिः—विज्ञानेश्वरमते वाचनिकोऽत्र स्वत्वध्वंसः परस्वत्वापत्तिश्च। चन्द्रिकाकारमते नैयायिकः, क्रयप्रतिग्रहाद्यभावे विनिमयेनैवाधौ धनिकस्य स्वत्वापत्तिः। व्रीह्यादाविव तिलविनिमयकर्तरीति न्यायप्रतिपादनात्। अपरे त्वाहुः—परिभाषावशाद्विगुणधनस्य मूल्यत्वेन क्रयान्ताधिर्भविष्यतीति सोपाधिकक्रय इति स्वत्वस्य लौकिकत्वाद्वाचनिकत्वं न

युज्यते। विनिमयस्य स्वत्वापादकत्वं 'स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु' इत्यादिवचनस्य नियमपरत्वात्पारिभाषिकक्रयान्त इति भारुच्यपराकादीनां मतमिति क्रयान्तो वाचिकदानान्तो वेति। अयमाशयः—आधिस्थले विनिमय एव न संगच्छते। परिभाषावशात् दीपोत्सवादिसमये एतद्दृढमहं दास्यामि अन्यथाऽयमाधिस्तव भविष्यतीति तत्र परिभाषयैव धनस्य सोपाधिक्रयद्रव्यतया प्रतीतेः। यद्वा "काले कालकृतो नश्येत्" इत्यत्रापि परिभाषयैवाधिनाशः प्रतीयते। तस्मात्परिभाषा नाम वाचानिकदानमिति दानमेव स्वत्वापादकं। अतो दानान्ततया आधिः स्वत्वापादकः। अनेनैवाभिप्रायेणोक्तं विज्ञानयोगिना—'वचनात्स्वत्वम्' इति। वचनं परिभाषा—वाचनिकदानमिति यावत्। अन्यथा—क्रयान्तपक्षे स्थावरदृश्याधौ।

ज्ञात्याधिप्रत्ययेनैव स्मारकक्रय इष्यते।

इति वक्ष्यमाणन्यायेन ज्ञात्याध्यासेधा न लगेयुः। न च तथा संभवति। आधिर्नाम बन्धकं। ऋणदाने ग्रहणे वा ऋणं न दातव्यं न ग्रहीतव्यं चेत्येवमासेधस्संभवतीति दृश्याधौ ज्ञात्याध्यासेधा न सन्ति, तेऽपि न लगयुरेवेत्यतो वाचनिकदानपक्ष एव सम्यगिति। अन्वाधिस्वरूपमाह प्रजापतिः—

धनी धनेन तेनैव परमाधिं नयेद्यदि।
कृत्वा तदाऽऽधिलिखितं पूर्वं वाऽस्य समर्पयेत्॥

इति। यद्बन्धस्वामिनि धनं प्रयुक्तं तत्तुल्येनैव धनेन परं—धनिकान्तरं आधिं नयेत्। न त्वधिकेनेति चन्द्रिकाकारः। गोप्याधेर्भोग्याधित्वमप्याह विष्णुः—

पारिभाषिकोऽपि गोप्याधिर्भोग्याधिरपि भवतीति ।

अपिशब्दः कालादीन् समुच्चिनोति । पारिभाषिकः—परिभाषया प्राप्तः । यथा—अयमाधिस्त्वत्प्रयुक्तधने द्विगुणीभूते यदि न मोच्येत तद्दिनमारभ्य द्विगुणधनस्य भोग्य इति गोप्यभोग्याधिः । दीपोत्सवादिसमये तत्प्रयुक्तं मूल्यमेव धनं यदि न दीयते तदा-प्रभृति प्रयुक्तधनमारभ्य वा अयमाधिर्भोग्याधिरिति कालकृत-भोग्याधिः । पारिभाषिक इति वचनेनेदं ज्ञाप्यते—भोग्याधिरपि कालाधिर्भविष्यति । यथा—अयं भोग्याधिः स्वप्रयुक्तधनवृ-द्ध्यर्थदीपोत्सवकालपर्यन्तमनुभुज्यतां तदा यदि मूल्यं न दास्या मस्तदा आधिस्तव भविष्यतीति भोग्यकालाधिः । भोग्यगोऽ-प्याधिमप्याह गौतमः । तथा च गौतमसूत्रं—

भोग्याधिरपि गोप्याधिर्भवतीति पारिभाषिकत्वाद्व्यव-हारस्येति ।

पारिभाषिकत्वं परिभाषानिबन्धनमित्यर्थः । अथायं भोग्याधिर्दीपोत्सवकालपर्यन्तं प्रयुक्तं धनं वृद्ध्यर्थमुपभुज्यतां ; तदानीं प्रयुक्तधनाप्रदाने दीपोत्सवप्रभृति न भुज्यतां । ततःपरं प्रयुक्तधने वृद्ध्या द्विगुणीभूते द्वैगुण्यानन्तरं तद्धनं यदि न दास्यामः तदाऽऽधिस्तव भविष्यतीति । अन्वाधिरप्येवमेवोह्यः । खण्डाधिरपि दीपोत्सवपर्यन्तं मासमात्रं मासद्वयपर्यन्तं वा पारिभाषिकवृद्ध्या यावद्वृद्धं धनं तावद्धनं मूलीकृत्य तद्धनस्या-धिकरणं खण्डाधिरिति । अत्र विशेषमाह विष्णुः—स कश्चि-त्क्रियान्त इति। अयमर्थः—अयं—पूर्वोक्ताधिः । क्रियान्तः कश्चित् विषयभेदेन दीपोत्सवादिसमये द्विगुणद्रव्याप्रदाने तद्द्विगुणद्रव्य-

स्यायमाधिर्विक्रीत इति। क्रियान्तकालाधिद्विगुणाधिश्च भोग्याधिरपि क्रियान्तः। यथा—अयमाधिर्वृद्ध्यर्थमनुभूयतां दीपोत्सवादिसमये मूल्यं यदि न दीयते तदा मूल्यस्यैव अयमाधिर्विक्रियत इति। एषु क्रयान्तसङ्करादिषु परिभाषावशात् क्रयान्ततायां तेषां क्रयधर्माः—

पूर्वाह्णे ग्राममध्ये च? ज्ञातिसामन्तसन्निधौ।
हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनी॥

इत्यादिधर्मास्सन्त्येव। अतो ज्ञात्यादिभिः प्रत्ययेनैवेत्सादिवक्ष्यमाणन्यायेन ज्ञात्याद्यनुमत्या भाव्यम्। यदा तु शान्तलाभे धने बन्धकस्य तदैवोपस्थितस्य मोचनात्प्राग्ग्रहणकस्य मरणादिर्भवेत्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह। बृहस्पतिः—

हिरण्ये द्विगुणीभूते मृते नष्टेऽधमर्णके।
द्रव्यं तदीयं संगृह्य विक्रीणीत ससाक्षिकम्॥
रक्षेद्वा कृतमूल्यं तु दशाहं जनसंसदि।
ऋणानुरूपं परतो गृहीत्वाऽन्यांस्तु वर्जयेत्॥

इति। कात्यायनस्तु—

आधाता यत्र न स्यात्तु धनी बन्धं निवेदयेत्।
राज्ञस्ततस्स विख्याप्य विक्रयं कुरुते धनी॥
सवृद्धिकं गृहीत्वा तु शेषं राजन्यथार्पयेत्।

राजन्यथार्पयेदिति ज्ञात्यादिप्रत्यासन्नाभावविषयम्। तत्सद्भावे तत्रैवार्पणस्य न्याय्यत्वात्। अयमभिसन्धिः—ज्ञात्यादावर्पणान्तो विधिः बहुमूल्यादिविषय एव। शेषार्पणादेस्तत्रैव संबन्धात्। सममूल्ये तु ससाक्षिकं विक्रयी स्वयमेव गृह्णीयात्। स्वल्प-

मूल्ये त्वेवं विक्रयी गृहीत्वा ऋणशेषमृणी दानाधिकारिणि कदाचिदागते ततो गृह्णीयात् । अनागते तु मास्तु इत्याद्यमुक्तवचनं तथैवोह्यमिति । यदा त्वाधात्तसुक्तमनधिकृत्य ऋणं गृहीत्वा द्वैगुण्ये जातेऽपि शान्तलाभं धनं न वर्धते । नचाधेराधानान्तरं विक्रयणं वा धनिना कर्तुं न शक्यत इति बुद्धया ऋणप्रदानेऽपि विलम्बमेवावलम्बते । यद्वा धनी स्वच्छाशयत्वात्म (त्सु) कृताधिमेव गृह्णाति तदाऽऽधमवर्णो न धनं प्रयच्छति तदानीमस्य राज्ञा दाप्य इत्याह याज्ञवल्क्यः—

चरित्रबन्धककृतं स वृद्धया दापयेद्धनम् ।

इति । चरित्रमेव बन्धकं चरित्रबन्धकं चरित्रशब्देन गंगास्नानाग्निहोत्रादिजनितमपूर्वमुच्यते । यत्र तदेवाधीकृत्य यद्द्रव्यमात्मसात्कृतं तत्र तदेव द्विगुणीभूतं दातव्यं नाधिनाश इति । अत्र आधिविषये कत्यायनः—

आधिं दुष्टेन लेख्येन भुङ्क्ते यमृणिकाद्धनी ।
नृपो धनं दापयित्वा आधिलेख्यं विनाशयेत् ॥

द्रव्यभोगनिष्पत्त्यर्थं वृद्धिहानिरप्यनुसंधेया । धनप्रदाने बन्धं वा लग्नकं वा गृह्णीयादित्युक्तं । तत्र बन्धस्वरूप मुक्त्वा लग्नकस्वरूपमाह—

दर्शने प्रत्यये दाने ऋणिद्रव्यार्पणे तथा ।
चतुष्प्रकारः प्रतिभूश्शास्त्रदृष्टो मनीषिभिः ॥

प्रत्ययो–विश्वासः । दानं–ऋणापाकरणार्थमर्थार्पणं । ऋणिनो द्रव्यं ऋणि द्रव्यं । तस्यार्पणं गृहोपकरणादेरर्पणं ।

चतुष्प्रकारस्वरूपमाह बृहस्पतिः—

आहैको दर्शयामीति साधुरेषोऽपरोऽब्रवीत् ।
दाताऽहमेतद्द्रविणमर्पयाम्यपरोऽब्रवीत् ॥

एको—दर्शनप्रतिभूः । अहमेनं प्रपलायनप्रवृत्तं दर्शयिष्यामीति प्रातिभाव्यं दर्शयिष्य (भज) न्नाह । अपरः—प्रत्ययःप्रतिभूर्विशेषस्साधुरवञ्चको मत्प्रत्ययेनास्य धनं देहीति ब्रूते । दानप्रतिभूरयं यदा न ददाति द्रविणं गृहीतं सवृद्धिकं तदा तस्य द्रविणस्य अहं दातेति वदति। अपरः—ऋणिद्रव्यार्पणप्रतिभूः यदाऽयं गृहीतं धनं न ददाति तदाऽहमेतदीयार्थमर्पयामीति । अयमेव ऋणिप्रतिभूदानप्रतिभुवोर्भेदः । विवादनिर्णयाय दृष्टमप्यदृष्टं वा प्रमाणं यत्र कालव्यवधानेन भविष्यति तत्रापि प्रमाणाय प्रतिभूर्भाव्यः । दासादौ विश्वासाय चोरत्वादिशंकायां प्रतिभूर्भाव्यः । यदाह कात्यायनः—

दासोपस्थानवादेषु विश्वासश्शपथाय च ।
लग्नकं कारयेदेवं यथायोगं विपर्यये ॥

विपर्यये—कार्यव्यत्यासविषये । यथायोगं—यथासंभवं । लग्नकः—प्रतिभूः । अत्र कात्यायनः—

दर्शनप्रतिभूर्यस्तु देशे काले च दर्शयेत् ।
यद्यसौ दर्शयेत्तत्र मोक्तव्यः प्रतिभूर्भवेत् ॥

इति । अदर्शने मनुः—

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ।
अदर्शयंश्च तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनं नृणाम् ॥

ऋणमत्र सवृद्धिकमिति । प्रतिभूपुत्रदेयत्वे अवृद्धिकमिति स्मरणात् । कात्यायनस्तु विशेषमाह—

नष्टस्यान्वेषणार्थं तु देयं पक्षत्रयं परम् ।
यद्यसौ दर्शयेत्तत्र मोक्तव्यः प्रतिभूर्भवेत् ॥
कालेऽप्यतीते प्रतिभूःयदीदं नैव दर्शयेत् ।
स तमर्थं प्रदाप्यस्स्यादृणे चैवं विधिस्स्मृतः ॥

इति । अत्र पक्षत्रयमिति अवधिभूतकालोपलक्षणार्थं । यथाऽऽह बृहस्पतिः—

नष्टस्यान्वेषणे कालं दद्यात्प्रतिभुवे धनी ।
देशानुरूपतः पक्षं मासं सार्धमथापि वा ॥

अतः पक्षत्रयादूर्ध्वं देयमिति नियमार्थं वचनम् । ऋणिद्रव्यार्पणप्रतिभूः प्रमाणकरणे विवादास्पदं धनं दद्यात् । ऋणिन्यप्रतिकूर्वति तद्द्रव्यमर्पयेत् । अभयं—प्रतिभयोपस्थितौ तत्प्रतीकारं आचरेत् । प्रमाणप्रतिभूः प्रमाणकरणं विवादास्पदं धनं दद्यात् । दास्याद्यपहृतं पुनरलब्धं चेद्विश्वासप्रतिभूर्मूल्यद्वारेण दद्यादित्याद्यास्तत्रतत्र कल्पनीयाः ।

दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोऽपि वा ।
न तत्पुत्रा ऋणं दद्युर्दद्युर्दानाय ये स्थिताः ॥

यदा दर्शनप्रतिभूः प्रात्ययिकोऽपि वा प्रतिभूर्दिष्टं गतः तदा तयोः पुत्राः प्रातिभाव्यायातं पैतृकमृणं न दद्युः । यस्तु दानाय स्थितः प्रतिभूर्दिष्टं गतः तस्य पुत्रा दद्युः । पुत्रशब्देन पौत्रादीनां वृद्धिदानप्रतिषेधेन मूल्यदानप्रतिषेध इत्यवगन्तव्यम् ॥

ऋणं पैतामहं पौत्रः प्रातिभाव्यागतं सुतः ।
समं दद्यात्तु तत्पुत्रो न दद्यादिति निश्चयः ॥

इति व्यासवचनात् । प्रातिभाव्यव्यतिरिक्तं पैतामहमृणं पौत्रः समं—यद्गृहीतं तावदेव दद्यात् न वृद्धिं । तथा सुतोऽपि प्रातिभाव्यागतं पित्र्यमृणं सममेव दद्यात् । तयोःपौत्रपुत्रयोस्सुतौ-प्रपौत्रपौत्रौ च प्रातिभाव्यायातं ऋणं यथाक्रमगृहीतधनौ दाप्या विति वचनार्थः । अधमर्णस्य वित्तहीनत्वे खादकत्वे च प्रतिभूर्वित्तवान् स्मृतः । तस्य पुत्रेण मूल्यमेव दातव्यं न वृद्धिः ।

खादको वित्तहीनश्चेत् लग्नको वित्तवान् यदि ।
मूलं तस्य भवेद्देयं न वृद्धिं दातुमर्हति ॥

यत्र दर्शनप्रतिभूःप्रत्ययप्रतिभूर्वा बन्धकं पर्याप्तं गृहीत्वा प्रतिभर्जातः तत्र तत्पुत्रा अपि तस्मादेव बन्धकात् प्रातिभाव्यायात-मृणं दद्युरेव ॥

गृहीत्वा बन्धकं यत्र दर्शने यः स्थितो भवेत् ।
विना पित्रा धनात्तस्माद्दाप्यस्स्यात्तदृणं सुतः ॥

इति । दर्शनग्रहणं प्रत्ययस्याप्युपलक्षकं । विना पित्रेति पितरि प्रेते दूरदेशं गते वा । अत्र बृहस्पतिः—

आद्यौ तु वितथे दाप्यौ तत्कालावेदितं धनम् ।
उत्तरौ तु विसंवादे तौ विना तत्सुतौ तथा ॥

आद्यौ—दर्शनप्रत्ययप्रतिभुवौ । वितथे अहमेनं दर्शयिष्यामि साधुरेष इत्येवंविधयोः प्रतिभूवाक्ययोर्मिथ्यात्वे । उत्तरौ-दानद्रव्यार्पणप्रतिभुवौ । विसंवादे—शाठ्यादिना धने ऋणिके-नाप्रवृत्ते । तौ विना—उत्तरयोः प्रवासे वा मरणे वा जाते ।

यथाऽऽह मनुः—

आदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृताहृणम् ।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥
निरा (वि) दिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूस्स्यादलंधनः ।
स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥

निरादिष्टं नितरां समर्पितं बन्धुत्वेन धनं यस्यासौ निरादिष्टधनः । अलंधनः—पर्याप्तधनः । अत्र प्रतिभूशब्देन दर्शनप्रतिभुवःपुत्र उपलक्ष्यते । अन्यथा पश्चात्प्रातिभूवि प्रेत इत्युक्तिर्विरुन्ध्यादिसनेकव्याख्यातृसंमतं । अनेकप्रतिभू (विषये) स्थले विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

बहवस्तु यदि स्वांशैर्दद्युःप्रतिभुवो धनम् ।
एकच्छायाश्रितेष्वेषु धनिकस्य यथारुचि ॥

यद्येकस्मिन् प्रयोगे द्वौ बहवो वा प्रतिभुवः तदा तद्दणं विभज्य स्वांशैर्दद्युः । एकच्छायाश्रितेषु—एकस्याधमर्णस्य छाया सादृश्यं तामाश्रिताः अधमर्णो यथा कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थितः तथा दानप्रतिभुवोऽपि प्रत्येकं कृत्स्नद्रव्यदानावस्थिताः । एवं दर्शने यथारुचि । प्रत्यये च तेष्वेकच्छायाश्रितेषु धनिकस्योत्तमर्णस्य यथारुचि—यथाकामं । अतश्च धनिको वित्ताद्यपेक्षया यं स्वार्थं प्रार्थयते स एव कृत्स्नं दद्यात् ; नांशतः । एकच्छायाश्रितेषु यदि कश्चिद्देशान्तरं गतः तत्पुत्रश्च सन्निहितः तदा धनिकेच्छया स तं दाप्यः । मृते तु कस्मिंश्चित् स्वपित्र्यं सवृद्धिकं दाप्यः । यदाऽऽह कात्यायनः—

एकच्छायाप्रविष्टानां दाप्यो यस्तत्र दृश्यते ।
प्रोषिते तत्सुतस्सर्वं पित्र्यं (ऽयां) शं तु मृते तु सः ॥

इति । तत्र विशेषमाह हारीतः—

सर्वे प्रतिभुवो दाप्याः प्रातिभाव्ये प्रमोषिते ।

अयमर्थः—चतुर्विधे प्रातिभाव्ये मिथ्याभूते सति तद्धनं राज्ञा धनिने दाप्याः प्रतिभुव इति वचनार्थः पूर्वमेवोक्त इति नेह प्रपञ्चितः । तदयमत्र निष्कर्षः—ऋणादानसमये विश्वासार्थं बन्धकं लग्नको वा कार्यः । अत्र बन्धकं गोप्याधिर्भोग्याधिश्चेति द्विविधं । तत्र भोग्याधिर्द्वैगुण्यनिबन्धनः कालकृतश्चेति द्विविधः । कालकृतस्सवृद्धिकोऽवृद्धिकश्चेति द्विविधः । भोग्याधिस्तु सप्रत्ययोऽप्रत्ययः क्षयाधिरन्वाधिश्चेति चतुर्विधः । तत्र गोप्याधिर्यदि भुज्यते तदा न वृद्धिः । अतिभुक्तौ मूलनाशः । ऋणापर्याप्तं चेदपि मूलनाश एव ऋणिकेन वाऽवशिष्टं दातव्यं । अधिकं द्विगुणं गृहीत्वा अवशिष्टं ऋणिने तदभावे तद्ज्ञातिषु द्वैगुण्यधनं दातव्यम् । द्विगुणादूर्ध्वमेव धनं दत्वा आधिर्मोक्तव्यः । क्षयाधौ तु द्विगुणे धने तच्छुद्धभोगात्प्राप्ते तदाऽऽधिर्मोक्तव्यः । कालकृते द्विविधे काले प्राप्ते आधिर्मोक्तव्यः । भोग्याधावतिभुक्तौ भुक्तानुसारेण धनं दापयेत् ॥ अन्वाधिस्तु गृहीतसमधनस्यैव । तदधिके तु न सिध्यति । सर्वं पारिभाषिकं चेत् सिध्यत्येव । क्रियान्तगोप्याधौ तु दृश्यसमकालमेवाधिस्सिध्यति पारिभाषिकत्वादिति तन्मतं दूषितमधस्तात् ।(संकरादयस्तु) संस्कारादयस्तु परिभाषावशादेव सिद्धाः । लग्नकोऽपि विश्वासप्रतिभूर्विश्वासापनये धनं दाप्यः । दर्शनप्रतिभूस्तु तदभावे धनं दाप्यः । उभयोस्तु देशान्तरगतयोः मृतयोर्वा तत्पुत्रेण तद्धनं मूलमात्रमेव दातव्यं । दानप्रतिभुवा ऋणिके

नष्टे दरिद्रे वा जाते सवृद्धिकं धनं दातव्यं ॥ तदभावे तत्पुत्रेणापि सवृद्धिकमेव दातव्यमितीयं गमनिका। अत्र ऋणादानप्रतिदानविधिमाह बृहस्पतिः—

याचमानाय दातव्यमप्रकालमृणं कृतम्।
पूर्णावधौ शान्तलाभमभावे च पितुस्सुतैः ॥

अप्रकालं— अप्रकृष्टकालं अदीर्घकालमिति यावत्। कृतं दीपोत्सवकाले प्रतिदेयमृणमित्येवं सावधिकत्वेन कृतं। अयमर्थः—दीर्घकालमृणं याच्ञानन्तरं दातव्यं। सावधिकत्वेन कृतमृणं अवधौ प्राप्ते देयं। वृद्ध्यर्थमृणं लाभशान्त्यनन्तरं दातव्यं। ऋणिकाभावेऽपि तत्सुतैरप्येवमेव दातव्यं। अन्यथा दोषस्मरणात्—

तपस्वी चाग्निहोत्री च ऋणवान् म्रियते यदि।
तपस्या चाग्निहोत्रं च सर्वं तद्धनिनो भवेत् ॥

इति। तेनावश्यमृणापाकरणं कर्तव्यमित्यर्थः। तत्र ससाक्षिकमेव कर्तव्यं। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

साक्षिमच्च भवेद्यद्वा तद्दातव्यं ससाक्षिकम्।

इति। सामान्योक्तेः पूर्वसाक्ष्यभावे साक्ष्यन्तरसमक्षं धनं दातव्यमिति। अत्र विशेषमाह पितामहः—

अविभक्ता ऋणं दद्युः पित्र्यं मातृकमेव वा।
तदभावे विभक्ताश्च न तु तेन प्रतिश्रुतम् ॥

मातापितृसंबन्धिद्रव्याभावे ताभ्यां प्रतिश्रुतं न देयमिति वरदराजः। व्यासस्तु—

ऋणं पैतामहं पौत्रःप्रातिभाव्यागतं सुतः।
समं दद्युस्तत्सुतौ तु न दाप्याविति निश्चयः ॥

प्रातिभाव्यागतमपि पौत्रेणापि दातव्यमिति प्रदीपः ।

अविभक्ते कुटुम्बार्थं यदृणं तु कृतं भवेत् ।
दद्युस्तद्रिक्थिनः प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि ॥

नारदः—

पितृव्येणाविभक्तेन भ्रात्रा वा यदृणं कृतम् ।
मात्रा वा यत्कुटुम्बार्थे दद्युस्तद्रिक्थिनोऽखिलम् ॥

बृहस्पतिः—

पितृद्रव्यं भ्रातृपुत्रदासाशिष्यानुजीविभिः ।
यद्गृहीतं कुटुम्बार्थे तद्गृही दातुमर्हति ॥

कात्यायनः—

कन्यावैवाहिकं चैव प्रेतकार्येऽपि यत्कृतम् ।
एतत्सर्वं प्रदातव्यं कुटुम्बेन कृतं च यत् ॥

अत्र मनुः—

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम् ।
स दत्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥

परिवर्तयेदिति—पुनर्लेख्यादिक्रियां वर्तमानवत्सरादिचिह्नितां कुर्यादित्यर्थः । अत्रापि विशेषमाह स एव—

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।
यावती संभवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥

हिरण्यशब्देन निर्जिता वृद्धिरुच्यते । निर्जितां वृद्धिमदत्वेत्यर्थः । तत्रैव—पूर्वकृतकरण एव परिवर्तयेदिति—वृद्धिं मूल्यत्वेनारोपयेदित्यर्थः । यथाशक्ति स्तोकं दत्वा लेख्यमुपगताख्यमुत्तमर्णाद्ग्रहीतव्यं । उत्तमर्णेनापि तदवश्यं देयं ।

धनी चोपगतं दद्यात् स्वहस्तपरिचिह्नितम् ।

इति स्मृतेः। अयं च पक्षः पुत्राभावे वेदितव्यः। तथाच विष्णुः—असमग्रदाने लेख्यासन्निधाने चोत्तमर्णस्स्वलिखितं दद्यात्। ऋणिकायेति शेषः । पत्रसद्भावे तु प्रतिदत्तद्रव्यं पत्रपृष्ठे लेख्यं स्यान्नचूनद्रव्यं विशोधयेत् । अयमर्थः—न्यूनं यावद्गृहीतद्रव्यं। कृत्स्नप्रतिदानाशक्तौ शक्त्यनुसारेण किंचिद्दत्तमिति विशुद्धये—प्रज्ञप्तय इत्यर्थः । कृत्स्नद्रव्यप्रदाने पत्रं छेत्तव्यमित्यर्थः प्राप्तं । तदेव स्पष्टीकृतं नारदेन—

गृहीत्वोपगतं दद्यादृणिकायोदयं धनी ।

इति । उदयं—वृद्ध्यर्थं गृहीत्वा उपगतं—उपगतार्थसङ्केतं पत्रपृष्ठे उपगतपत्रं वा ऋणिकाय दद्यादिति । केचिदेतद्वचनं प्रतिदिनं वा प्रतिमासं वा परिभाषया स्वीकर्तव्यद्रव्यविषयमिति मन्यन्ते। अपरे तु उदयमृणिकेनोपार्जितं गृहीत्वा धनी ऋणिकायोपगतं कारयेत् बलात्कारेणापि—

धनदानासहं बद्ध्वा स्वाधीनं कर्म कारयेत् ।

इति कात्यायनस्मरणात् इति । कर्मकरणानर्हं तु बन्धनागारे वासयेत् ॥

अशक्तौ बन्धनागारे प्रवशो ब्राह्मणादृते ॥

इति । अतश्च समजातिमपि परीक्षीणं यथोचितं कर्म कारयेत् । ब्राह्मणग्रहणमुत्कृष्टजातेरुपलक्षणं। अतश्च क्षत्रियादिरपि परीक्षीणो वैश्यादेश्शनैर्दाप्य इति । एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना—

कर्मणाऽपि समं कुर्याद्धनिको नाधमर्णिकः ।
समापकृष्टजातिश्चेद्दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥

इति । अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

नानर्णसमवाये तु यद्यत्पूर्वमृणं भवेत् ।
तत्तदेवाग्रतो देयं राज्ञे स्याच्छ्रोत्रियादनु ॥

श्रोत्रियोऽत्र ब्राह्मण्यमात्रशाली न तु श्रुताध्ययनशाली । राजाद्यपेक्षया उत्कृष्टजातिपरत्वेन अत्र श्रोत्रियपदप्रयोगात् । गृहीतजातिक्रमोऽत्र ग्राह्यः । ब्राह्मणस्य पूज्यतया अनुग्राह्यत्वात् । एवं क्षत्रियवैश्ययोःवैश्यशूद्रयोर्वा युगपदुपस्थाने वा वर्णक्रमेण दातव्यं। पूर्वपूर्वस्य श्रेष्ठत्वेन अनुग्राह्यत्वात् । एवं क्रमेण ऋणापाकरणे क्रियमाणे हीनजातिं परीक्षीणमित्याद्यनुसन्धेयमिति मन्तव्यं।
अत्र कात्यायनः—

एकाहे लिखितं यत्र तत्र कुर्यादृणं समम् ।
ग्रहणं लक्षणं लाभमन्यथा तु यथाक्रमम् ॥

अन्यथा—एकाहादिव्यतिरेकेण अहर्भेदादित्यर्थः । अत्र कचिदपवादमाह स एव—

यस्य द्रव्येण यत्पण्यं साधितं यो विभावयेत् ।
तद्द्रव्यमृणिकेनैव दातव्यं तत्र नान्यथा ॥

अत्र बृहस्पतिः—

याचमानाय दातव्यमप्रकालमृणं कृतम् ।
पूर्णावधौ शान्तलाभमभावे च पितुस्सुतैः ॥

तथाच नारदः—

इच्छन्ति पितरःपुत्रान् स्वार्थहेतोर्यतस्ततः ।
उत्तमर्णाधमर्णाभ्यां मामयं मोक्षयिष्यति ॥
अतःपुत्रेण जातेन स्वार्थमुत्सृज्य यत्नतः ।
ऋणात्पिता मोचनीयो यथा न नरके पतेत् ॥

इति । अत्रोक्तमानृण्यं "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिरृणवा जायते" इति श्रुत्युक्तमधममृणं पूर्वमेवोक्तं । अत्र कात्यायनः—

नाप्राप्तव्यवहारस्तु पितर्युपरते क्वचित् ।
काले तु विधिना देयं वसेयुर्नरकेऽन्यथा ॥

अनुपरतेऽपि पितरि सुतैःपितृकृतमृणं पितरि प्रतिदानासमर्थे देयमित्याह स एव—

विद्यमानेऽपि रोगार्ते स्वदेशात्प्रोषितेऽथ वा ।
विंशत्संवत्सराद्देयं ऋणं पितृकृतं सुतैः ॥

विंशत्संवत्सरात्—प्रवासादारभ्येत्यादि शेष इति चन्द्रिका । बृहस्पतिस्तु—

सान्निध्येऽपि पितुःपुत्रैःऋणं देयं विभावितम् ।
जात्यन्धपतितोन्मत्तक्षयश्वित्रादिरोगिणः ॥

तथा च नारदः—

पितर्युपरते पुत्रा ऋणं दद्युर्यथांशतः ।
विभक्ता वाऽविभक्ता वा यो वा तामुद्वहेद्धुरम् ॥
पितृणे विद्यमाने तु नच पुत्रो धनं हरेत् ।
देयं तद्धनिकद्रव्यमृते गृह्णंस्तु दाप्यते ॥

मृते पितरि द्रव्यं गृह्णंस्तु दाप्यते—मृते पितरि द्रव्यं गृह्णन्नेव पुत्रो दाप्यत इत्यर्थः । पितृकृतस्वकृतर्णसमवाये तु आत्मीयवत्पित्र्यं देयं । पितृकृतमादौ देयम्—

आदौ पितृकृतं देयं पश्चादात्मीयमेव च ।
ऋणमात्मीयवत्पित्र्यं पुत्रैर्देयं विभावितम् ॥

इति बृहस्पतिस्मरणात् ॥ अदेयमाह स एव—

सौराक्षिकवृथादानकामक्रोधप्रतिश्रुतम् ।

प्रातिभाव्यं दण्डशुल्कशेषं पुत्रैर्न दापयेत् ॥

सौरं–सुरासम्पादननिमित्तकम् ॥ आक्षिकं–द्यूतपराजयनिमित्तकम् ॥ वृथादानं–नर्तकादिदत्तं । शेषं सुगमम् । वृथादानविषये स्मृत्यन्तरम्—

धूर्ते वन्दिनि मल्ले च कुवैद्ये कैतवे शवे ।
चाटचारणयोरेषु दत्तं भवति निष्फलम् ॥

चारणाः—गायकाः । चाटाः—पूर्वमुक्ताः । कात्यायनेन प्रतिश्रुतमुक्तं—

लिखितं मुक्तकं चापि देयं यत्तु प्रतिश्रुतम् ।
परपूर्वस्त्रियै तत्तु विन्द्यात्कामश्रुतं ऋणम् ॥

मुक्तकं—लेखनरहितं । तथा क्रोधप्रतिश्रुतं च तेनैवोक्तं—

यस्य हिंसां समुत्पाद्य क्रोधाद्द्रव्यं विनाश्य वा ।
उक्तं तुष्टिकरं यत्तु विन्द्यात्क्रोधप्रतिश्रुतम् ॥

अयमर्थः—यस्य हिंसां धनविनाशं वा क्रोधात् कृत्वा तत्सन्तोषाय द्रव्यं दास्यामीति प्रतिश्रुतं तदृणं क्रोधजातमिति । अत्र प्रातिभाव्यं दर्शनप्रतिभूदेयं विवक्षितं । तथाच मनुः—

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥
दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिस्स्यात्पूर्वचोदितः ।

इति । पूर्वोदितो विधिः प्रातिभाव्यं पुत्रो दातुमर्हतीति विधिः । दण्डशुल्कावशेषमिति पदद्वयस्यार्थस्तूशनसा स्पष्टीकृतः ॥

दण्डं वा दण्डशेषं वा शुल्कं तच्छेषमेव वा ।
न दातव्यं तु पुत्रेण यच्च न व्यावहारिकम् ॥

न व्यावहारिकं—सौरिकमित्यर्थः । अथ पौत्रेण देयमुच्यते । तत्र मनुः—

सदोषं व्याहृतं पित्रा नैव देयमृणं क्वचित् ।

सदोषं—शूरादिव्यसननिमित्तत्वेन दोषयुक्तं। पित्रा व्याहृतं—निराकृतं । पित्रा स्वदृष्टमपह्नुतं वा प्रमाणसाधितं चेद्देयम् ॥

पुत्रपौत्रै ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम् ।

इति याज्ञवल्क्योक्तेः । अत्र न देयमित्यदेयमात्रोपलक्षणं । तेनान्यदपि पुत्रेषूक्तं पौत्रेष्वपि द्रष्टव्यं । पौत्रदेयं तु तत्र कात्यायनः—

पित्रा दृष्टमृणं यत्तु क्रमायातं पितामहात् ।
निर्दोषं नोद्धृतं पुत्रैर्देयं पौत्रैस्तु तद्रृणः ॥

अस्यार्थः—पितृकृतं—स्वपितृकृतत्वेन पित्रा निस्सन्दिग्धमागतं । पितामहात् क्रमप्राप्तं निर्दोषं—अदेयत्वापादकदोषरहितं। पुत्रैर्नोद्धृतं—पुत्रैर्दुश्चिकित्सरोगादिवशादनपाकृतं । तथाच स एव—

यद्देयं पितृभिर्नित्यं तदभावे तु तद्धनात् ।
तद्धनं पुत्रपौत्रैर्वा देयं तत्स्वामिने तदा ॥

पितृधनसद्भावे तस्मादेव ऋणं। धनाभावेऽपि पुत्रत्वात्पौत्रत्वाद्देयमित्यर्थः। पौत्रैस्तु प्रातिभाव्यं पुनस्सर्वप्रकारमपि न देयमित्युक्तं प्राक् । अत्र विष्णुना विशेष उक्तः—धनग्राहिणि प्रेते प्रव्रजिते द्विदशास्समाःप्रोषिते वा तत्पुत्रपौत्रैर्धनं देयं ; नातःपरमनीप्सुभिरिति । प्रव्रजिते—सन्न्यस्त इत्यर्थः । द्विदशाः—विंशतिः । समाः—संवत्सराः । धनग्राहिणि विंशतिवर्षव्यापितया प्रवासे कृत इत्यर्थः । "नातःपरमनीप्सुभिः" इत्यस्यायमर्थः—पुत्रपौ-

त्रेभ्यः परं ऊर्ध्वं। ये जाताः तैः प्रपौत्रादिभिरनिप्सुभिर्नदेयमिति। एतच्च विंशतिवर्षाद्दृणादानं पूर्वमयाचितद्रव्यान्विषयं। याचितं चेद्दातव्यमेव॥ यथाऽऽह हारीतः—

यावत्स्थितिप्रमाणं स्याल्लिखितं निरपाकृति।

अपाकरणं नामात्र दृष्टधनप्रवेशलेखनं प्रतिपत्रं साक्ष्यादिसम्यक्स्थले व्यवहारनिवेशनं चेत्येवमादि॥ अत एव याज्ञवल्क्यः—

लेखस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्दत्त्वा दत्त्वार्णिको धनम्।
धनी वोपगतं दद्यात् स्वहस्तपरिचिह्नितम्॥

यदा—अधमर्णिकःसकलमृणं दातुमसमर्थः। तदा शक्त्यनुसारेण दत्वा पूर्वकृतलेखस्य पृष्ठे अभिलिखेदेतावन्मया दत्तमिति। उत्तमर्णो वा उपगतं प्राप्तं धनं तस्यैव लेखस्य पृष्ठे दद्यादभिलिखेत् एतावन्मया लब्धमिति स्वहस्तलिखिताक्षरचिह्नितं। यद्वा—उपगतं प्रवेशपत्रं स्वहस्तलिखितचिह्नितं अधमर्णायोत्तमर्णो दद्यात्। एतच्च पूर्वमेव प्रतिचोदितमपि स्पष्टार्थं प्रसंगादुक्तमित्यपौनरुक्त्यं॥ ऋणे तु कृत्स्ने दत्ते लेख्यं किं कर्तव्यमित्याह स एव—

दत्वर्णं पाटयेल्लेख्यं शुद्ध्यै वाऽन्यत्र कारयेत्।

क्रमेण सकृदेव वा कृत्स्नमृणं दत्वा पूर्वकृतलेख्यं पाटयेत्—भिन्द्यात्। यदा तु दुर्गदेशावस्थितं लेख्यं नष्टं वा तदा शुद्ध्यै—अधमर्णत्वनिवृत्त्यर्थमन्यल्लेख्यं कारयेत्। उत्तमर्णोऽपि शुद्धिपत्रमधमर्णाय, दद्यादित्यर्थः। ससाक्षिक ऋणे कृत्स्नं दातव्यमित्याह स एव—

साक्षिमच्च भवेद्यद्वा तद्दातव्यं ससाक्षिकम् ।

इति । यत्तु ससाक्षिकमृणं तत्पूर्वसमक्षमेव दद्यात् । ऋणादाने ऋणे तत्पुत्रः पौत्रौ नप्ता दायभाक्च पत्न्यादिश्च ऋणापाकरणेऽधिकारिणः । तेषां क्रमस्तु—प्रथमं पुत्रः तदभावे पौत्रः तदभावे नप्ता चेति क्रम इति निष्कर्षः । कर्त्रन्तरसमवाये क्रममाह याज्ञवल्क्यः—

रिक्थग्राही ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च ।
पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यःपुत्रहीनस्य रिक्थिनः ॥

इति । अस्यार्थः—पुत्र हीनस्य–योग्यपुत्रादिविधुरस्य रिक्थिनो धनवतो मृतस्य यदृणं तद्रिक्थग्राही दाप्यः । राज्ञेति शेषः । प्राप्तिनशेतद्दायहरो भ्रात्रादिर्दापनीय इत्यर्थः । तदभावे योषिद्ग्राहः । यश्च तिसृणां स्वैरिणीनां अन्तिमां यश्च पुनर्भुवां तिसृणां स्वैरिणानां प्रथमां तदीयां योषितमतिक्रान्तनिषेधः परिगृह्णाति स योषिद्ग्राहः । तथाच नारदः—

परपूर्वास्स्त्रियस्त्वान्यास्सप्त प्रोक्ता यथाक्रमम् ।
पुनर्भूर्द्विविधा तासां स्वैरिणी तु चतुर्विधा ॥
कन्यै(न्या)वाऽक्षतयोनिर्वा पाणिग्रहणदूषिता ।
पुनर्भूःप्रथमं प्रोक्ता पुनस्संस्कारकर्मणि ॥
देशधर्मानपेक्षा स्त्री गुरुभिर्या प्रदीयते ।
उत्पन्नसाहसाऽन्यस्मै सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
स्त्रीप्रसूताऽप्रसूता वा पत्यावेव तु जीवति ।
कामात्समाश्रयेदन्यं प्रथमा स्वैरिणीति सा ॥
कौमारं पतिमुत्सृज्य या त्वन्यं पुरुषं श्रिता ।

पुनःपत्युर्गृहं यायात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥
मृते भर्तरि तु प्राप्तान् देवरादीनपास्य वा ।
उपगच्छेत्परं कामात् सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥
प्राप्ता देशाद्धनक्रीता क्षुत्पिपासातुरा तु या ।
तवाहमित्युपगता सा चतुर्थी प्रकीर्तिता ॥
अन्तिमा स्वैरिणीनां या प्रथमा च पुनर्भुवां ।
ऋणं तयोः पतिकृतं दद्याद्यस्तामुपाश्नुते ॥
या तु सप्तदिनेनैव सापत्या वाऽन्यमाश्रयेत् ।
सा वा दद्यादृणं भर्तुरुत्सृजेद्वा तथैव ताम् ॥
अधनस्य ह्यपुत्रस्य मृतस्यापैति यः स्त्रियम् ।
ऋणं वोढुस्स भजते नैव चान्यधनं स्मृतम् ॥

इति । अत्र धनेति प्रकृत्रधनयुक्तेत्यर्थः स—एवंविधयोषिद्ग्राहः । ऋणं दाप्यः तदभावे अन्याश्रितद्रव्यः । अन्यं आश्रितमप्राप्तं तद्द्रव्यं यस्य सोऽन्याश्रितद्रव्यः—स्वगामिधन इत्यर्थः । ततो नञ्समासे तद्विपरीतः । परप्राप्तदायः क्लीबत्वादिदोषैर्दायहरणायोग्यं यो विधीयते स च दाप्य इति । यत्तु रिक्थग्रहाभावे योषिद्ग्राहः योषिद्ग्राहाभावे अन्याश्रितद्रव्यः पुत्रः तदभावे पुत्रपौत्रहीनस्य प्रपौत्रादयो रिक्थिनो यदि स्युः त एव दाप्याः। यदि प्रपौत्रादीनां रिक्थग्रहणं नास्ति तैं ऋणं न देयं इत्येवं व्याख्यानम् ; "पुत्रहीनस्य रिक्थिन" इत्यत्र रिक्थशब्देन योषिद्ग्राह एवोच्यते ।

ऋणं वोढुस्स भजते नैव चान्य धनं स्मृतम् ।

इति नारदवचनात् ॥ अतश्च योषिद्ग्राहाभावे पुत्रः ऋणं दाप्यः पुत्राभावे योषिद्ग्राह इति परस्परविरुद्धम् । तथा हि—योषिद्ग्राहाभावे

पुत्र इत्युक्तेः योषिद्ग्राहस्य मुख्यता पुत्रस्यानुकल्पता भवति "सोमाभावे पूतिकानभिषुणोति" इतिवत्। एवं स्थिते पुत्राभावे योषिद्ग्राह इत्युच्यमाने पूर्वोक्तमुख्यानुकल्पविरोधापत्तेः। अन्योन्यव्याघातः। अपिचैवं सति यदोभौ सन्निहितौ तदा कश्चिदपि दाप्यो न स्यात्। अन्यतराभावमुपजीव्यैव अन्यतरस्य दापनाभिधानात्। उभयसन्निधौ च अन्यतराभावासंभवात्। अतश्च ऋणापाकरणमेव अपाकृतं भवेत् इत्यभिसन्धाय—

धनस्त्रीहारिपुत्राणां ऋणभाग्यो धनं हरेत्।
पुत्रोऽसुतः स्त्रीधनिनोस्त्रीहारिधनपुत्रयोः॥

इति नारदवचनमवलम्ब्य विरोधपरिहारः कृतः। अतश्च व्याख्यानद्वये "पुत्रहीनस्य रिक्थिनः" इति बहुवचनान्तपदमपराकैः व्याख्यायते। धनस्त्रीहारिपुत्राः कस्य दाप्या इत्याकांङ्क्षया उत्तमर्णस्य दाप्याः। तत्पुत्रादेः। पुत्राद्यभावे कस्य दाप्या इत्याकाङ्क्षायां "पुत्रहीनस्य रिक्थनः" इति पुत्राद्यन्वयहीनस्य उत्तमर्णस्य यो रिक्थी रिक्थग्रहणयोग्यस्सपिण्डादिः—तस्य रिक्थिनो दाप्या इति। अत्र 'रिक्थिनः' इति षष्ठ्येकवचनं। एतद्व्याख्यानक्रमं विज्ञानयोगिना पूर्वाचार्येच्छयाऽनुगच्छता अधिक्षेपसमाधानाभ्यां अतिक्लेशमाश्रित्य कृतम्॥ यत्तु—पूर्वत्र पुत्रपौत्रैः ऋणं देयमिति पितृकृतर्णापाकरणे क्लैब्यादिदोषराहित्येनांशग्रहण एवार्हाः पुत्राः पौत्राश्चाधिकारिणो दर्शिताः। स्वरसतः पुत्रादिशब्दानामपि कुलपुत्रादिपरत्वस्य उचितत्वात्। अत्रेदमाशङ्क्यते—यदा न सन्ति पुत्रादयः कस्तदीयमृणमपाकुर्यादित्यस्यामाकाङ्क्षायां अन्यान कर्तॄन् क्रमिकान् निरूपयितुमिदं वचनमारभ्यत इति मदुक्तरीत्या

ऋजुमार्गेण व्याख्याने सिद्धे वक्रमार्गानुसरणं हेयं । कात्यायनस्तु विशेषमाह—

बालपुत्रादिकर्ता च त्रातारं याऽन्यमाश्रिताः ।
आश्रितस्तदृणं दद्यात् बालपुत्रादिविश्रुतम् ॥

दद्यात्–दापयेदित्यर्थः। एतदपि स्पष्टार्थमुक्तम्। पतिऋणापाकरणे पत्न्याश्चाधिकारात् बालानामनाधिकारश्चेति। अत्र बृहस्पतिः–

पितृव्यभ्रातृपुत्रस्त्रीदासशिष्यानुजीविभिः ।
यद्गृहीतं कुटुम्बार्थे तद्ग्राही दातुमर्हति ॥

तथाच कात्यायनः—

प्रोषितस्य मृते वाऽपि कुटुम्बार्थमृणं कृतम् ।
दातुस्त्रीमातृशिष्यैर्वा दद्यात्पुत्रेण वा भृगुः ॥

नारदोऽपि—

पुत्रिणी तु समुत्सृज्य पुत्रं स्त्री याऽन्यमाश्रयेत् ।
तस्या द्रव्यं (धनं) हरेत्सर्वं निस्वायाःपुत्र एव तु ॥
उपप्लवनिमित्तं च विद्यादापत्कृतं तु तत् ।
कन्यावैवाहिकं चैव प्रेतकार्यं तु यत्कृतम् ॥
एतत्सर्वं प्रदातव्यं कुटुम्बेन कृतं प्रभोः ।
कुटुम्बार्थमशक्ते तु गृहीतं व्याधितेन वा ॥

कुटुम्बभरणाशक्ते कुटुम्बिनि सति प्रभोर्देयमित्यर्थः। एतच्च प्रतिश्रुतानुमोदितविषयम्—

देयं प्रतिश्रुतं यत्स्याद्यच्च स्यादनुमोदितम् ।

इति कात्यायनस्मरणात्। अत्र स्त्रियास्तु विशेषमाह कात्यायनः–

मर्तुकामेन या भर्त्रा उक्ता देयमृणं त्वया ।
अप्रसन्नाऽपि सा दाप्या धनं यद्याश्रितं स्त्रिया ॥

अप्रतिपन्ना चेत्—पतिधनाभावेऽपि कर्मकराऽपि सेवया धनं संपाद्य ऋणापाकरणं कर्तव्यं। पतिधनसम्बन्धे तु यतो रिक्थं तत एव ऋणापाकरणन्यायात् औत्सर्गिकर्णापाकरणे अधिकारो विधवाया इत्याहापरार्कः। चन्द्रिकाकारस्तु—अत्र अर्थादेवानाश्रितभर्तृधनाऽपि अप्रतिपन्ना चेत् न दाप्येति गम्यते इति। अत्रोत्तमर्णसन्ताने नारदः—

ब्राह्मणस्य तु यद्देयं सान्वयस्य न चास्ति नः।
निर्वपेत्तु सकुल्येषु तदभावेऽस्य बन्धुषु॥
यदा तु न सकुल्यास्स्युः न च सम्बन्धिबान्धवाः।
तदा दद्याद्द्विजेभ्यस्तु तेष्वसत्स्वप्सु निक्षिपेत्॥

अत्र ब्राह्मणग्रहणं अग्नेरप्युपलक्षणम्। निक्षेपो नाम होमः। यथाऽऽह सङ्ग्रहकारः—

द्रव्यं यद्यधमर्णस्थं क्वचिद्ब्राह्मणगं भवेत्।
सुतादिब्राह्मणान्तानां रिक्थभाजामसंभवे॥
पलाशस्य पलाशेन जुहुयान्मध्यमेन तु।
यत्कुसीदमिति प्रास्येदथ वाऽप्स्वेव तद्धनम्॥

इति। यत्कुसीदं मय्यनेनेत्यादिमन्त्र उच्यते।

इति श्रीवीरगजपति गौडेश्वर नवकोटिकर्णाटकलुबुरिगेश्वर
जमुनापुराधीश्वर हुशनसाहि सुरत्राण शरणरक्षण श्री-
दुर्गावरपुत्र परमपवित्रचरित्र राजाधिराजराज-
परमेश्वर श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराज वि-
रचिते स्मृतिसंग्रहे सरस्वतीविलासे
व्यवहारकाण्डे ऋणादानाख्य
पदस्य विलासः

अथोपनिध्याख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते.

---

पूर्वमुपचयापेक्षया परहस्ते दत्तमृणं; तदनपेक्षया रक्षणार्थमेवान्यहस्ते दत्तं द्रव्यमुपनिधिरिति ऋणादानानन्तरं उपनिधेरवसरः। उपनिधिर्नाम करण्डस्थस्वरूपसंख्याविशेषकथनरहितं मुद्रितमन्यहस्ते रक्षणार्थं विस्रम्भादर्प्यते। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

भाजनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते।
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत्॥

इति। नारदस्तूपनिधिनिक्षेपयोर्भेदमाह—

असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते।
तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः॥

इति। अत्र विशेषमाह मनुः—

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
महापक्षे धनी न्याय्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः॥

इति। महापक्षे—बन्धुशालिनि। न्यासस्य तु स्वरूपमाह बृहस्पतिः—

राजचोरादिषु भयाद्दायादानां च वञ्चनात्।
स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासस्स परिकीर्तितः॥

इति। उपनिधिनिक्षेपाणां स्वरूपमष्टादशपदस्वरूपनिरूपणावसरे कथितमपि व्यवहितत्वात्सन्निधानार्थमत्रगन्तव्यं। एतच्च

यथादत्तं तथैव प्रतिदेयं। "प्रतिदेयं तथैव तत्" इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः। अत्र बृहस्पतिः—

सप्ताक्षिकं रहो दत्तं द्विविधं समुदाहृतम्।
पुत्रवत्परिपाल्यं तद्विनश्यदनपेक्षया॥
ददतो यद्भवेत्पुण्यं हैमारूप्याम्बरादिकम्।
तत्स्यात्पालयतो न्यासं यथैव शरणागतम्॥
भर्तृद्रोहे यथा नार्याः पुंसः पुत्रसुहृद्वधे।
दोषो भवेत्तथा न्यासे भक्षितोपेक्षिते नृणाम्॥
न्यासद्रव्यं न गृह्णीयात्तन्नाशस्त्वयशस्करः।

इति। अत्र न्यासपदेन उपनिध्यादयः प्रभेदा गृह्यन्ते। रामायणे तु—

पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्वा पुनःपुनः।

इति। पादुकयोः न्यासत्वकथनं; तथैव प्रतिदेयमिति;

न्यासद्रव्यं न गृह्णीयात्तन्नाशस्त्वयशस्करः।

इत्यादिधर्माणां तत्र प्रतिपादनार्थमित्यवगन्तव्यम्। तत्र प्रतिप्रसवमाह स एव—

दैवराजोपघातेन यदि तन्नाशमाप्नुयात्।
ग्रहीतृद्रव्यसहितं तत्र दोषो न विद्यते॥

ग्रहीतुरिति शेषः। ग्रहीतृद्रव्यसहितमित्येतस्य उपेक्षाद्यभावनिश्चायकत्वेनोक्तत्वात् ग्रहीतृद्रव्यसत्त्वेऽपि तन्नाशकारणान्तराद्यपेक्षासद्भावे दोषः एवेत्यवगन्तव्यम्। दैवराजग्रहणं ग्रहीतृसमाधेयनिमित्तोपलक्षणार्थं। याज्ञवल्क्यो विशेषमाह—

न दाप्योऽपहृतं तत्तु राजदैविकतस्करैः।

जिह्मकारितमिति शेषः। अजिह्मकारिते तु दाप्य एव यथाऽऽह नारदः—

ग्रहीतुस्सह योऽर्थेन नष्टो नष्टस्स दायिनः।
दैवराजकृते तद्वन्नचेत्तज्जिह्मकारितम्।

इति। यत आह स एव—

भ्रेषश्चेन्मार्गिते दत्ते दाप्यो दण्ड्यश्च तत्समम्॥

स्वामिना मार्गिते—याचिते यदि न ददाति तदा तदुत्तरकालं यद्यपि राजादिभिः भ्रेषो—नाशः सञ्जातः; तथाऽपि द्रव्यं मूल्यकल्पनया धनिने ग्रहीता दाप्यः राज्ञा च तत्समं दण्ड्यः। अत्र विशेषमाह बृहस्पतिः—

भेदेनोपेक्षया न्यासं ग्रहीता यदि नाशयेत्।
याच्यमानो न दद्याद्वा दाप्यस्तं सोदयं भवेत्॥

इति। अत्राह चन्द्रिकाकारः—नाशे मूल्यद्वारेण दाप्यः अनाशे तु स्वरूपत एव। कृतवृद्धिप्रकरणे सामान्येनोक्तं वृद्धिपरिमाणं नाशे ग्राह्यम्। अदाने तु—

"याच्यमानं न चेद्दद्याद्वर्धते पञ्चकं शतम्"

इति विशषेण तत्रैवोक्तं। वृद्धिपरिमाणमूह्यम्। भेदेनोपेक्षयेति वदन् स्वीयद्रव्येण सहैवोपेक्षया नाशे तु सोदयविधिर्नेति दर्शयति। तेन तत्र "समं दाप्य उपेक्षितः" इति स्मृत्यन्तरविहितमूल्यमात्रमेव देयम्। एवं च याच्यमानादत्तस्य दैवराजकृतेऽपि नाशे स्थापकाय मूल्यमात्रं देयं प्रत्यर्पणविलम्बमात्रापराधेन सवृद्धिकन्यासदानायोगात्। राज्ञे च

तत्समो दण्डो देय इति। केचिदेतद्वचनमन्यथा व्याचक्षते—

भेदेनोपेक्षया न्यासं ग्रहीता यदि नाशयेत्।
याच्यमनो न दद्याद्वा दाप्यस्तं सोदयं भवेत्॥

इति। भेदश्छलनं। भेदेन वा उपेक्षया वा न्यासस्य ग्रहीता न्यासं यदि नाशयेत्। न्यासग्रहणं निक्षेपोपनिध्योरुपसंग्रहणार्थं। मूल्यसममेव दाप्यः। सममेव दण्ड्यः। "याच्यमानो न दद्याद्वा" इत्यत्र वाशब्दः तुशब्दार्थः। यदि याच्यमानावसरे इदानीं न दीयते चेत् वृद्धिर्दातव्येत्युक्तं तेन ग्रहीत्रा यद्यङ्गीक्रियते तदानीं न्यायत एव सोदयं दद्यात्, ग्रहीता यदि कारणान्तराद्व्यासङ्गवशाद्वा प्रत्यर्पणासहिष्णुतया लोभाद्वा याचनानन्तरं न ददाति तस्य ऋणादानपदान्तर्भावात्—

"याच्यमानमदत्तं चेद्वर्धते पञ्चकं शतम्"

इति कात्यायनः प्रवर्तत इत्याहुः। तदसत्। ऋणादानोपनिध्योः पदयोर्भेदस्य प्रकरणादौ दर्शितत्वात्। वृद्धिप्रकरणधर्मा अत्रैव प्रसरन्तीति। अत एवाह व्यासः—

भक्षिते सोदयं दाप्यस्समं दाप्य उपेक्षिते।
किंचिन्न्यूनं प्रदाप्यस्स्याद्द्रव्यमज्ञाननाशितम्॥

अत्राह वरदराजः—

"भक्षिते सोदयं दाप्यः" इति उपेक्षया नाशे समं दाप्यः, अपेक्षया नाशे चतुर्थांशन्यून इति ब्रह्मवित्प्रवर इति। तत्रैवोक्तं वरदराजेन—

क्रयमूल्यं क्रयार्थश्च निक्षेपोऽपह्नवे तथा।
चक्रवृद्ध्या विवर्धेत यावत्पञ्चगुणं भवेत्॥

क्रयमूल्यक्रयार्थौ—क्रेतृविक्रेतृसंशयमूलकौ—

निक्षेपाधरतोऽध्यर्धं त्रिमासात्त्रिगुणं भवेत् ।
अत ऊर्ध्वं विवर्धेत चक्रवृद्धिव्यवस्थया ॥
उपाधिभिस्तु यः कश्चित् परद्रव्यं लभेन्नरः ।
सहसा यस्स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैः.... ॥

इति । नीचविषयमेतदिति वरदराजः । नीचविषयेऽप्युपनिधिव्यतिरिक्तेति भारुचिः । अत्र विशेषमाह बृहस्पतिः—

ग्रहीताऽपह्नुते यत्र साक्षिभिश्शपथेन वा ।
विभाव्य दापयेन्न्यासं तत्समं विनयं तथा ॥

एतच्च ससाक्षिकविषयं । असाक्षिके रहसि स्थापितं रहस्येव ग्राह्यं । तथा च मनुः—

यो यथा निक्षेपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥

दायः—स्थापनम् । ग्रहो—ग्रहणं । रहोदत्ते निर्णयमाह बृहस्पतिः—

रहोदत्ते विधौ यत्र विसंवादः प्रजायते ।
विभावकं तत्र दिव्यमुभयोरपि च स्मृतम् ॥

निधिरुपनिधिः । उभयोर्मध्ये एकस्येत्यर्थः । अत्र नारदः—

एष एव विधिर्दृष्टो याचितान्वाहितादिषु ।
शिल्पिषूपनिधौ न्यासे प्रतिन्यासे तथैव च ॥

इति । एतेषु याचितादिष्वयं विधिः—उपनिधेर्यः प्रतिदानादिविधिः स एव वेदितव्यः । याचितं नाम विवाहाद्युत्सवेषु वस्त्रालङ्कारादि याचित्वा नीतं तथैव द्रव्यमनु—पश्चादन्यस्य हस्ते स्वामिने देहीति निहितं । अन्वाहितन्यासलक्षणं

तु कैश्चिदुक्तम्—न्यासो नाम गृहस्वामिनो दर्शयित्वा तत्परोक्षमेव गृहजनहस्ते प्रक्षेपः। गृहस्वामिने निवेद्य समर्पणीयामिति। एवं सुवर्णकारादिहस्ते कटकादिनिर्माणाय न्यस्तस्य सुवर्णादेर्न्यासशब्दवाच्यतामाह। प्रतिन्यासस्तु परस्परप्रयोजनापेक्षया त्वयेदं मदीयं रक्षणीयं मयेदं त्वदीयं रक्ष्यते इति परिभाषा मूलकः। बृहस्पतिस्तु विशेषमाह—

अन्वाहिते याचितके शिल्पिन्यासे सबन्धके।
एष एवोदितो धर्मस्तथैव शरणागते॥

इति। शिल्पिविषये जीर्णवस्त्रादावुपघाते न दोषः। नूतनवस्त्रादावुपघाते समं दाप्यं कुविन्दादौ रजकादौ च। 'राजदैवोपघाते च न दोषः' इत्यादौ व्यवहारे पूर्वोक्तनयैरेव निर्णयः कार्यः। रजकादौ विशेष उत्तरत्र वक्ष्यते॥

इति श्रीप्रतापरुद्रदेव महाराज विरचिते स्मृतिसङ्ग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे उपनिध्याख्यस्य
पदस्य विलासः.

---

## अथ सम्भूयसमुत्थानाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते.

अत्र नारदः—

वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म सम्भूय कुर्वते ।
सम्भूय च समुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम् ॥

ऋणादाने प्रयुक्तधनादुत्पन्नोपचयस्य एकनिष्ठत्वमत्रानेकानिष्ठत्वमिति ऋणादानानन्तरमस्य पदस्यावसरो न्याय्यः। तथाऽप्येतदनन्तरमुपनिधेरवकाशाभावादुक्तन्यायेन ऋणादानानन्तरमेवोपनिधेः प्रवेश इति पश्चादस्य पदस्यावसर इति। तथा च नारदः—

फलहेतोरुपायेन कर्म सम्भूय कुर्वताम् ।
आधारभूतः प्रक्षेपस्तेनोत्तिष्ठेयुरंशतः ॥

आधारभूतः—उपायभूतः। प्रक्षेपो—द्रव्यप्रक्षेपः।

समेऽतिरिक्तो हीनो वा यस्यांशो यत्र यादृशः ।
आयव्ययौ यथावृद्धिस्तस्य तत्र तथा विधिः ॥

अल्पांशस्याल्पः। महांशस्य महानित्यर्थः।

आयव्ययज्ञैश्शुचिभिः शूरैः कार्या सहाक्रिया ।
कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञैर्भाण्डकवेदिभिः ॥

नाणकवेदिभिरिति क्वचित् पाठः। नाणकस्तत्तद्देशीयाविभिन्नमुद्राङ्किता दीनारादयः। व्यासस्तु सम्भूयकारिणां कार्यमाह—

असमक्षं समक्षं वा वञ्चयन्तः परस्परम् ।
नानापण्यानुसारात्ते प्रकुर्युः क्रयविक्रयौ ॥

संगोपयन्तो भाण्डानि शुल्कं दद्युश्च तेऽध्वनि ।
अन्यथा द्विगुणं दाप्याः शुल्कस्थानाद्बहिस्स्थिताः ॥

इति । अथवा सर्वानुज्ञया सर्वेषां कार्यमेक एव कुर्यात्—

बहूनां सम्मतो यस्तु दद्यादेको धनं नरः ।
करणं कारयेद्भावे सर्वैरेव कृतं भवेत् ॥

सम्भूयकारिणां मिथो विवादे व्यास एव—

परीक्षकास्साक्षिणश्च त एवोक्ताः परस्परम् ।
सन्दिग्धार्थे वञ्चनायां न चेद्विद्वेषसंयुताः ॥

यदा तु विद्वेषसंयुक्ताः तदाऽप्याह स एव—

यः कश्चिद्वञ्चकस्तेषां विज्ञातः क्रयविक्रये ।
शपथैस्स विशोध्यस्स्यात्सर्ववादेऽप्ययं विधिः ॥

विशोध्यः सभ्यैरिति शेषः । एतच्च सांयात्रिकविषयम् । इतरत्र साक्ष्यन्तरसद्भावादिति लक्ष्मीधरः । वञ्चकत्वे प्रमाणसिद्धे सति "जिह्मं त्यजेयुर्निर्लाभं" इति याज्ञवल्कीयमत्रातिष्ठते । जिह्मो-वञ्चकः । तं लाभरहितं कृत्वा बहिष्कुर्युः सम्भूयकारिण इत्यर्थः । तस्यापवादमाह नारदः—

क्रियाहानिर्यदा तत्र दैवराजकृता भवेत् ।
सर्वेषामेव सा प्रोक्ता कल्पनीया यथांऽशतः ॥
अनिर्दिष्टो वार्यमाणः प्रमादाद्यस्तु नाशयेत् ।
तस्यांशं यदमन्त्रत्वाद्गृह्णीयुस्ते ततोऽपरम् ॥

अनिर्दिष्टः—अनियुक्तो वा वार्यमाणो वेत्यर्थः । अत्र विशेषमाह स एव—

दैवराजभयाद्यस्तु स्वशक्त्या परिपालयेत् ।

तस्यांशं दशमं दद्याद्गृह्णीयुस्ते ततोऽपरम् ॥

कात्यायनोऽपि—

चोरतस्सलिलादग्नेर्द्रव्यं यस्तु समाहरेत् ।
तस्यांशो दशमो देयः सर्वद्रव्येष्वयं विधिः ॥

इति । अत्र विशेषमाह बृहस्पतिः—

समवेतैस्तु यद्दत्तं प्रार्थनीयं तथैव तत् ।
न याचते च यःकश्चिल्लाभात्स परिहीयते ॥

इति । कृषिकादिसम्भूयोपजीविषु विशेषमाह हारीतः—

वाह्यबीजात्ययाद्यस्य क्षेत्रहानिः प्रजायते ।
तेनैव सा प्रदातव्या सर्वेषां कृषिजीविनाम् ॥

वाह्यबीजग्रहणं कृषिसाधनानामुपलक्षणार्थं । शिल्पिषु विशेषमाह बृहस्पतिः—

हेमकाराद्यो यत्र शिल्पं सम्भूय कुर्वते ।
कर्मानुरूपनिर्वेशं लभेरंस्तु यथांऽशतः ॥

निर्वेशो—भृतिः । अंशप्रकारमाह कात्यायनः—

शिक्षका बीजकुशला आचार्यश्चेति शिल्पिनः ।
एकद्वित्रिचतुर्भागान् हरेयुस्ते यथोत्तरम् ॥

हर्म्यादिनिर्मातॄणां विशेषमाह बृहस्पतिः—

हर्म्यं देवगृहं वापीं चार्मिकोपस्करादि च ।
सम्भूयकुर्वतां चैषां प्रमुखो ह्यंशमर्हति ॥

ऋत्विजां तु विशेषमाह मनुः—

ऋत्विजस्समवेतास्तु यथा सत्रे निमन्त्रिताः ।
कुर्युर्यथाऽर्हतः कर्म गृह्णीयुर्दक्षिणां तथा ॥

सत्रं–यागः। तत्र यजमानानामेव ऋत्विक्त्वादृत्विजामभावात्तेषा-मृत्विजां त्वध्वर्युब्राह्मणादिविशेषोपादानेन विहितां दक्षिणां अध्वर्युब्राह्मणादय एव गृह्णीयुः–समुदितदाक्षिणां विभज्य गृह्णीयु-रित्यर्थः।

यस्य कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः।
स एव ता आददीत भजेरन् सर्व एव न॥

क्वचित्सर्व एव वा इति पाठः। तच्च अनेककर्तृकदक्षिणाविषयं। तच्च प्रातिस्विकमेव। यथा स्तोत्रदक्षिणाः स्तोत्रकारिण एव छन्दोगा भजेरन्। प्रधानदक्षिणास्त्वंशकल्पनया। तत्र विशेष-माह स एव—

सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशास्तु पादिनः॥

मुख्या—अध्वर्युब्रह्मादयः। अपरे—द्वितीयाः प्रस्तोत्रादयः। तृतीयाः प्रतिहर्त्रादयः। चतुर्था ग्रावस्तुदादयः। अर्धिनः पादिनः तृतीयिन इति यौगिक्यस्संज्ञाः। ‘अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति’ इत्यादिवाक्ये आर्धिनो दीक्ष-यन्तीति मैत्रावरुणादिष्वर्ध्यादिसंज्ञाश्श्रूयन्ते। ताश्च यौगिक्य इति तद्बलेनोक्तांशकल्पनानियमोऽपि गम्यत इत्यर्थः। अत्र मनुः—

ऋत्विग्यदि मृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत्।
तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशस्सहकर्तृभिः॥

सहकर्तृभिः—सम्भूयकारिभिरित्यर्थः। कर्तृभिस्सह यजमानेन देय इत्यपरे। कर्मणि ऋत्विक्परित्यक्तांशकर्तृभिस्सह देय

इत्यन्ये । पक्षत्रयेऽप्ययमर्थः—स्वकर्मैकदेशं कर्तुः या दक्षिणा तस्य चैकान्तरकर्तुश्च दक्षिणाकाले सम्भूयकारिसंघो यजमानो वा तत्तत्कर्मानुसारेणार्पयेदिति । अस्य क्वचिदपवादमाह स एव—

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयेत् ।
कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव तु कारयेत् ॥

अन्येन—स्वगणवर्तिनां मध्ये प्रत्यासन्नेन । येन केनचिदन्येन कार्यमाणे आध्वर्यवादिसमाख्याबाधापत्तेः । एवमृत्विगन्तरे मृतेऽप्यूह्यम् । अत्र नारदः—

ऋत्विजां व्यसनेऽप्येवमन्यस्तत्कर्म निस्तरेत् ।
लभेत दक्षिणाभागं तस्मात्संप्रतिकल्पितम् ॥

यत्तु बृहस्पतिनोक्तम्—

एवं क्रियाप्रवृत्तानां यदि कश्चिद्विपद्यते ।
तद्बन्धुना क्रिया कार्या सर्वैर्वा सहकारिभिः ॥

इति । यच्च शङ्खेनोक्तम्—'तत्र चेदनुप्रवृत्ते सवने ऋत्विक् म्रियेत तस्य सगोत्रशिष्यो वा तत्कार्यमनुपूरयेत् । अथचेदबान्धवस्ततोऽन्यमृत्विजं वृणुयात्, इति । तत्सर्वमवान्तरगणशून्यर्त्विक्कर्तृकयज्ञविषयमिति मन्तव्यम् इति चन्द्रिकाकारः । अत्र विशेषमाह विष्णुः—

'अथर्त्विजि मृते पश्चादन्यं वृणुयात् । पूर्ववृतस्यैव दक्षिणा'। पश्चादाहूतः किंचिल्लभते चेति । यत्किंचिच्छब्दार्थमाह कौटिल्यः—अग्निष्टोमादिषु दीक्षणीयाया ऊर्ध्वं याजकोऽवसन्नः ; पञ्चममशमन्य आहूतो लभेत । सोमविक्रयादूर्ध्वं चतुर्थं । प्रवर्ग्योद्वासनादूर्ध्वं तृतीयं । अग्निष्टोमीयादूर्ध्वं अर्धं । प्रातस्सवनादूर्ध्वं पादोनं ।

माध्यंदिनसवनादूर्ध्वं समग्रं नीतासु दक्षिणासु भवतीति वरदराजः। नर्तकादीनां मध्ये ताळज्ञस्य विशेषमाह बृहस्पतिः—

नर्तकानामेष एव धर्मस्सद्भिरुदाहृतः।

ताळज्ञो लभतेऽध्यर्ध (अत्यर्धं) गायकानां समांशिनाम्॥

गायकानां नर्तकानां समांशिनां मध्ये ताळज्ञः इह अत्यर्ध—अर्धेनाधिकमंशं लभत इत्यर्थः। चोरेषु सम्भूयकारिषु विशेषमाह स एव—

स्वाम्याज्ञया तु यच्चोरैः परदेशात्समाहृतम्।

राज्ञे दत्त्वा तु षड्भागं भजेयुस्ते यथांऽशतः॥

चतुरोंऽशान् भजेन्मुख्यः शूरस्त्र्यंशमवाप्नुयात्।

समर्थस्तु हरेद्व्यंशं शेषास्त्वन्ये समांशिनः॥

इति। परदेशाद्वैरिदेशादित्यर्थः। दुर्घटदेशादाहृतविषयमेतत्। सुलभदेशादाहरणे कात्यायनः—

परराष्ट्राद्धनं यत्स्याच्चोरैस्स्वाम्याज्ञया हृतम्।

राज्ञो दशांशमुद्धृत्य विभजेरन् यथाविधि॥

पूर्वोक्त 'चतुरोंऽशान्' इत्यादिविधिमनतिक्रम्येत्यर्थः।

तेषांचेत्प्रसृतानां यो ग्रहणं समवाप्नुयात्।

तन्मोक्षणा(य)र्थं यद्दत्तं तस्य कार्या समक्रिया।

इति। एतद्वचनं पारिभाषिकेतराविषयं। पारिभाषिकत्वेऽपि स्वभागानुसारेण न भवतीत्येवं परम्।

इति श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराज विरचिते स्मृतिसंग्रहे सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे सम्भूयसमुत्थानाख्यस्य पदस्य विलासः

## अथ दत्ताप्रदानिकं नाम विवादपदं निरूप्यते.

तत्र नारदः—

दत्वा द्रव्यमसम्यग्यः पुनरादातुमिच्छति ।
दत्ताप्रदानिकं नाम तद्विवादपदं स्मृतम् ॥

इति । आध्युपनिधिचौर्यागतादीनां अदेयत्वप्रतिपादनात् त्रयाणां ऋणादानोपनिधिसम्भूयोत्थानानां शेषतया संगतिः । यद्यपि स्त्रीधनानामदेयत्वप्रतिपादनाद्दायविभागशेषताऽप्यस्ति; तथाऽपि भूयसां न्यायेन त्रयाणां शेषतेति ध्येयम् । अत्र मनुः—

अदेयमथ देयं च दत्तं चादत्तमेव च ।
व्यवहारेषु विज्ञेयो दानमार्गश्चतुर्विधः ॥

अदेयं—दानानर्हं । देयं—दानार्हं । दत्तं—स्थिरं । अदत्तं—निवर्तनीयं । अदेयादीनां स्वरूपं उपोद्धातप्रकरणे प्रतिपादितमपि स्मारितं । एवं चतुर्विधो दानमार्गः ।

अत्र अष्टावदेयान्याह—

तत्र तावददेयस्य स्वरूपभेदानाह बृहस्पतिः—

सामान्यं पुत्रदारादि सर्वस्वं न्यासयाचितम् ।
प्रतिश्रुतं तथाऽन्यस्य नदेयं त्वष्टधा स्मृतम् ॥

इति । अदेयं नाम दानानर्हं । अत एव तद्दानेऽपि परस्वत्वापत्तिपर्यन्ता स्वत्वनिवृत्तिर्नास्ति । तथाच गौतमः—

अदेयदानस्य निषिद्धत्वात्परस्वत्त्वानुपपत्तिः ।

इति । तथा च विष्णुः—

अदेयं न देयमिति । देयं दानार्हमित्यर्थः ॥

तथा च हारीतः—

अदेयदानं जैह्म्यं च कलञ्जस्य निषेवणम् ।

मद्यपस्य मुखास्वादः चत्वार्येवं समानि च ॥

इति। अत्राहुः—कलञ्जस्य निषेवणं आस्वाद एव। मद्यपस्य मुखास्वाद इति तत्सन्नियोगशिष्टत्वात्। केचित्तु कलञ्जं गृञ्जनमित्याहुः। अपरे त्वाहुः—भवतु वा पातित्यहेतुभूतकळञ्जभक्षणसन्नियोगशिष्टत्वं अदेयदानस्य तावन्मात्रेणास्य पापाधिक्यं नास्ति। प्रायश्चित्तविधिपर्यालोचनयैव पापपरिज्ञानमाहुराचार्या इति। तथाच मनुः अदेयान्यष्टावनुक्रम्य—

यो ददाति स मूढात्मा प्रायश्चित्तीयते नरः।

इति। प्रायश्चित्तस्वरूपमाह विष्णुः—

जैह्मे त्रिरात्रमुपोष्य पञ्चगव्येन शुध्यति।

इति। तथा च मद्यपस्य मुखास्वादं कृत्वा एकरात्रमुपवासः। मत्या पञ्चगव्यमिति। अदेयदाने कृच्छ्रत्रयमिति। गौतमस्त्वदेयदाने सान्तपनमित्याह। कलञ्जभक्षणे पातित्यं सर्वस्मृतिसिद्धम्। अदेयेषु मध्ये पुत्रकळत्रादीनां अदेयत्वात् तद्दाने प्रायश्चित्तमुक्तं। अतश्च अदेयद्रव्यदानं निषिध्यते। अत्र केचिदाहुः—अदेयद्रव्यदाननिषेधस्सहेतुक एव। न तु निर्हेतुकः। तथा हि—सामान्यद्रव्यं इतरानुज्ञां विना न देयं। तदनुज्ञा चेद्देयमेव। पुत्रदारादिद्रव्यस्य तु दाने कृतेऽपि स्वत्वस्यानपायात्। स्वत्वं मानसिका क्रिया सकल्परूपतया नापैति। किंतु महापातकादिना तद्गतं स्वत्वमपैतीति धनार्जननयसिद्धम्। अत एवाह विष्णुः। ‘पुत्रदारादिदाता पतितो भवतीति’ दातृशब्दो विक्रेतुरप्युपलक्षकः। तथाच गौतमः—‘अनापदि पुत्रदारादिदाने षड्वार्षिकं चरेत्’ तत्तु दुर्भिक्षका-

लविषयं । समनन्तरकालमेवाह--द्वादशवार्षिकं चरेत्। यत्तु वसिष्ठेनोक्तं—आपदि पुत्रं मातापितरौ दद्यातां हरेयाता-मित्युक्त्वा पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन् बन्धूनाहूय राजनि निवेद्य स्वनिवेशनस्य मध्ये अदूरबान्धवमसन्निकृष्टं व्याहृतीभिर्हुत्वा-प्रतिगृह्णीयादिति। आपच्छब्दार्थमाह स एव—पुत्राभाव एव वाऽऽ-पदिति । वाशब्देन समुच्चयार्थेन दुर्भिक्षकालेऽत्यन्तकुटुम्बभरणा-शक्तिस्समुच्चीयते । तथाचापदीति विशेषणं प्रतिग्रहीतुर्दातुरपि समानं । अतो वैदिकत्वादस्य दानस्य पूर्वोक्तं न विरुद्धम् । न्यसास्तु मूलस्वामिना अनुज्ञातो दातव्य एव। अन्यस्य प्रतिश्रुत-मपि तदनुज्ञया देयमेव। याचितमपि तथैव। एतच्च सर्वसम्मतं। स्वर्वस्वं तु किमर्थमदेयं? न पुत्रदारादिवन्महापातकरूपनियतो पायकत्वाभावात्। मानसिक्या तु क्रियया स्वत्वमुदेत्येव। यथा सर्वस्वदक्षिणादौ ऋत्विजां स्वत्वमुदेति । महासाहसादौ दण्ड-तया गृहीतसर्वस्वे राजस्वत्वमुदेत्येव । किंच विरक्तस्य सर्वस्व-त्यागो न निषिद्धः। अतस्तत्त्यागनिषेधे कारणं वक्तव्यम् । अत्र केचिदाहुः—सर्वस्य त्यागे जीविकाया अनिष्पत्तेः धर्मसाधनस्य शरीरस्यानिर्वाहात्। तन्निर्वाहार्थं सर्वस्य त्यागो न युक्तः। किंतु स्वजीविकार्थं किंचित् गृहीत्वाऽवशिष्टमेव दातव्यं विरक्तानामपीति ।॰ तदसंगतम्। विरक्तानां शरीरधा-रणस्य भिक्षाटनादिजीविकया निष्पादयितुं शक्यत्वात्। ननु सर्वस्वदानस्य विहितत्वे—

आपद्यपि विरक्तौ च सर्वस्वं न प्रदीयते ।

इति हारीतवचनं निरवकाशं स्यात्। अत्र ज्ञापकमप्याहुर्ल-

क्ष्मीधरप्रभृतयः—'विश्वजिति सर्वस्वं दद्यात्' 'न केसरिणो दद्यात्' इति केसरिदाननिषेधस्सर्वस्वदानं निषेधतीति। अत्र केचित्—'विश्वजिति सर्वस्वं' इत्यत्र सर्वशब्दः केसरिव्यतिरिक्त-सर्वपरः। अत्र स्वशब्दस्यात्मीयवाचितया आत्मीयादीनां पुत्रादीनामदेयेत्वादेव स्वत्वनिवृत्तेरभावादित्याहुः। तन्न, सर्वस्वं दद्यादिति विधिः निषेधशिरस्को भवत्येव सर्वस्वदानं विधातु-मित्याहुराचार्याः। सर्वस्वदक्षिणाविधयस्त्वदेयद्रव्यव्यतिरिक्तवि-षयाः। पुत्रदारादौ तु आर्ज्यार्जकभावसम्बन्धरूपस्य स्वत्वस्य विद्यमानत्वात्। पुत्रदारादिकं स्वमेव। तच्च महापातकादिना निवर्तत इत्युक्तं प्राक्। अतश्च सर्वशब्दःसंकुचद्वृत्तिर्न भवति। अत एव औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्येत्यत्र सर्वशब्दः संकुचद्वृत्तिर्न भवतीति प्रतिपादितं गुरुणा। राज्ञा सर्वस्वहरणं साहसेषु विहितं। बलात्कारेण गृहीतेऽपि द्रव्ये स्वत्वमुत्पद्यते। किंच न तत्प्रदानं; अपितु दण्ड्यतया सर्वस्वग्रहणं। प्रकृते तु दान-विचारो दानविषय इति तत्रास्माकमनास्था। किंच—

अन्वाहितं याचितकमाधिस्साधारणं च यत्।
निक्षेपः पुत्रदाराश्च सर्वस्वं चान्वये सति॥
आपत्स्वपि च कष्टासु वर्तमानेन देहिना।
अदेयान्याहुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्॥

इति नारदवचनबृहस्पतिवचनयोरानुरूप्याय 'सामान्यं पुत्रदा-रादि' इत्यादिबृहस्पतिवचने 'आपद्यपि विरक्ता' इति वचने च अन्वये सतीति विशेषणमङ्गीकर्तव्यं। अन्वये—वंशपरम्पराया बीजभूते वस्तुनि विद्यमाने न सर्वस्वदानं कर्तव्यमिति। विरक्ता

निमपि सन्ततिसद्भावे सर्वस्वदानं नेष्य (न युज्य) त एव। निषेधविधयस्तु ससन्ततिकस्यैव सर्वस्वदाननिषेधपरा इति चेत्, सत्यं। चन्द्रिकाकारकुलार्कविज्ञानयोगिप्रभृतीनां मतमेतत्। लक्ष्मीधरादयस्तु अदेयद्रव्यत्यागे वाचनिको निषेधः। न तु नैयायिकः। अन्यथा प्रायश्चित्तविधानं दण्डविधानं व्याहन्येत। तथाच पितामहः—

यो ददाति स मूढात्मा प्रायश्चित्तीयते नरः।

इति। शङ्खोऽपि—

अदेयं दत्वा तत्परावर्त्य त्रिरात्रमुपवसेत्।

इति प्रायश्चित्तं स्मृतवान्।

गृह्णात्यदत्तं यो मोहाद्यश्चादेयं प्रयच्छति।
दण्डनीयावुभावेतौ धर्मज्ञेन महीभुजा॥

अदत्तग्रहणमदेयस्याप्युपलक्षणार्थं। तेनादत्तप्रतिग्रहीतुरदेयप्रतिग्रहीतुश्च दण्डोऽनेकवचनोक्त इति मन्तव्यं। गृहीतस्या परावर्तनमपि महीक्षिता कार्यमिति अदत्तादेयग्रहणात् गम्यते। अदत्तेनादेयेन च दानसिद्धेरभावात्परस्वत्वानुत्पत्तेरित्याह चन्द्रिकाकारः। ततश्च वैधोऽयं सर्वस्वत्यागनिषेध इति लक्ष्मीधरादीनां मतमेव सम्यक्। ननु सामान्यादिद्रव्यस्वामिनोऽनुज्ञाते दातुं युक्तमित्युक्तं प्राक्? तन्न, लक्ष्मीधरादिमते मूलस्वामिन एव तत्राधिकारो न तदनुज्ञामात्रेणेतरस्येति ध्येयं। लोके कुत्ताख्यो व्यवहारः मूलस्वामिनस्सकाशाद्गृहक्षेत्रादिकं गृहीत्वा तदुपचयापचयौ कौत्तिकस्य म(मै)यैव सोढव्याविति पारिभाषिकस्समस्ति। अपरश्च कुत्ताख्यो मूलस्वामिन और्ध्वदैहिकं तत्कु-

तमृणं च तदीयगृहक्षेत्रादिना निर्वर्त्य संशोध्य अवशिष्ट-मस्ति चेत् ग्रहीतव्यं [1]नास्ति चेन्नास्तीति पारिभाषिकः। स च कुत्ताख्य उपचयपदाभिलप्यस्तस्योपचयाख्यपारिभाषिकत्वेनौपाधिकस्वत्वसंक्रमोपाधितया तत्प्रकरणे ऋणादानाख्ये विवादपदे गोप्याद्यधिकारेऽन्तर्भाव एवास्त्विति चेत्, मैवं, ऋणादानाख्यं विवादपदं शोध्यमोच्यकोटिद्वयावलम्बनेन प्रवृत्तं। शोध्यमबन्धकमृणं। मोच्यं सबन्धकं गोप्याधिप्रकृतिकं। एवं द्विप्रकारमृणादानाख्यं विवादपदं। लोके उपचयापरपर्याय-कुत्तारूपस्य शोध्यमोच्यरूपप्रकाराद्वयासम्भवात्। किंच ऋणादाने उत्तमर्णगत उपचयः कुत्तात्मके त्वधमर्णगत इति न तत्रान्तर्भाव औपचयिकस्येति। अपर आहुः—गोप्याधावन्तर्भावो वाच्य इति। देवदत्तकृतर्णापकरणे जाते प्रकृतविवादे मोचनीयविषयताऽस्ति। किंतु यावज्जीवानुष्ठेयपितृक्रियाकरणस्याधिरूपेण स्वीकारात् तन्मुखेन न विमोच्यत्वं। उपनयनसंस्कारस्याध्यापनक्रियाङ्गत्वेन तन्निवृत्त्या निवृत्तौ प्रवृत्तायां गुरुरभ्युद्धेयः प्रवयाः प्रत्युद्धेय इत्याद्युपनीतधर्माणां यावज्जीवानुवृत्तेः तन्मुखेनोपनयनस्यापि यावज्जीवानुवृत्तिवत्, मैवं। प्रकृतस्य व्यवहारस्याहितद्रव्यविषयत्वाभावात्। प्रत्युत पाक्षिकापचयभारसहितत्वादाधौ तदभावात्। कुत्ताख्यस्यौपचायिकस्य ऋणादानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वात्। दत्ताप्रदानिकेऽन्तर्भावो न्याय्यः। दत्ताप्रदानिकं चतुर्विधं दानमवलम्ब्यावतिष्ठते। दत्तमदत्तं देयमदेयं चेति दानमार्गश्चतुर्विध इत्युक्तं प्राक्। दत्तं द्विविधं सोपाधिकं निरुपाधिकं चेति। कुत्तात्मकं दानं सोपा-

[1] नचेत् मास्त्विति.

धिकमिति कृत्वा सोपाधिकदत्तरूपत्वेनौपचयिकस्य तत्रैवान्त-र्भाव इति रहस्यम् । देवदत्तस्य ऋणापकरणं तदुद्देश-प्रसक्तदेवपितृक्रियाकरणं विषयीकृत्य प्रवृत्तमौपचयिकविषयं दत्ताप्रदानिकेऽन्तर्भवति ।

क्रमागतं गृहक्षेत्रं पित्र्यं पैतामहं तथा ।
पुत्रपौत्रसमृद्धस्य न (ह्य)देयमननुज्ञया ॥

अत्र मनुः—

धर्मार्थं येन यद्दत्तं कस्मैचिद्याचते धनम् ।
पश्चाच्च न तथा तत्स्याददेयं तेन तद्भवेत् ॥

दानार्हमेकविधमाह नारदः—

कुटुम्बभरणद्रव्यं यत्किंचिदतिरिच्यते ।
तद्देयमुपरुध्यान्यद्ददागस्समाप्नुयात् ॥

अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

सर्वस्वं गृहवर्जं तु कुटुम्बभरणादिकम् ।
यद्द्रव्यं तत्स्वकं देयमदेयं स्यादतोऽन्यथा ॥

स्वकं–स्वार्जितं ।

न दारेषु न पुत्रेषु न बन्धुष्वनपेक्षकाः ।
सर्वकार्येषु पुरुषाः स्वद्रव्ये प्रभविष्णवः ॥

स्वार्जितद्रव्ये प्रभविष्णव इत्यर्थः । व्यासः—

अन्धादिषु शतं दानमनन्तं दुहितुर्भवेत् ।
पित्र्ये शतगुणं दानं सहस्रं मातुरुच्यते ॥
भगिन्यां शतसाहस्रं सोदर्ये दत्तमक्षयम् ।

दक्षः—

मातापित्रोर्गुरोर्मित्रे विनीते चोपकारिणि ।

दीनानाथविशिष्टेषु दत्तं तु फलवद्भवेत् ॥

बृहस्पतिः—

शूद्रे त्वेकगुणं दानं वैश्ये द्विगुणमेव च ।
क्षत्रिये त्रिगुणं प्राहुः ब्राह्मणे षड्गुणं (भवेत्) स्मृतम् ॥
श्रोत्रिये तच्च साहस्रं उपाध्याये तु तद्द्वयम् ।
आचार्ये त्रिगुणं ज्ञेयमाहिताग्निषु तद्द्वयम् ॥
आत्मिके शतसाहस्रमनन्तं त्वग्निहोत्रिणि ।
सोमपे शतसाहस्रमनन्तं ब्रह्मवादिनि ॥

इति वा पाठः । आत्मिके—आत्मज्ञाननिष्ठे । भारद्वाजः—

पण्यं मूल्यं भृतिस्तुष्ट्या स्नेहात्प्रत्युपकारतः ।
दानमेकात्मकं प्राहुः तद्भवेत्तोयपूर्वकम् ॥
विना तोयप्रदानेन धर्मदानं न विद्यते ।

अत्र आपस्तम्बः—

सर्वाण्युद (क) पूर्वाणि दानानि ।

इति । अत्र गौतमः—

स्वस्तिवाच्य भिक्षादानं अपूर्वं तथाऽतिथिषु चैवन्धर्मेषु ।

अत्र बृहस्पतिः—

स्त्रीधनं स्त्रीस्वकुल्येभ्यः प्रयच्छेत्तं तु वर्जयेत् ।

स्त्रीधने स्त्रिया एवाधिकारः नान्यस्येत्यर्थः ।

कुल्याभावे तु बन्धुभ्यः तदभावे द्विजातिषु ।

नारदस्तु साप्तविध्यमाह—

पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्ट्या स्नेहात्प्रत्युपकारतः ।
स्त्रीशुल्कानुग्रहार्थं च दत्तं सप्तविधं स्मृतम् ॥

पण्यस्य क्रीतस्य मूल्यत्वेन दत्तं, कृतकर्मणे भृतित्वेन, तुष्ट्या चारणादिभ्यः, स्नेहात् सुहृद्भ्यः, उपकुर्वते प्रत्युपकाररूपेण, परिणयार्थं कन्याज्ञातिभ्यः शुल्कत्वेन, यच्च अदृष्टार्थं दत्तं तदेतत्सप्तविधमपि दत्तमेव न प्रत्याहरणीयम् । अत्र बृहस्पतिः—

भृतिस्तुष्ट्या पण्यमूल्यं स्त्रीशुल्कमुपकारिणे ।
श्रद्धानुग्रहसंप्रीत्या दत्तमष्टविधं स्मृतम् ॥

मनुरपि—

मातापित्रोर्गुरौ मित्रे विनीते चोपकारिणे ।
दीनानाथविशिष्टेभ्यो दत्तं तु सफलं भवेत् ॥
सौदायिकं समायातं शौर्यप्राप्तं च यद्भवेत् ।
स्त्रीज्ञातिस्वाम्यनुज्ञातं दत्तं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

स्थावरेतु विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

प्रतिग्रहःप्रकाशस्स्यात् स्थावरस्य विशेषतः ।
देयं प्रतिश्रुतं चैव दत्वा नापहरेत्पुनः ॥

कात्यायनः—

स्वेच्छया यःप्रतिश्रुत्य ब्राह्मणाय प्रतिग्रहम् ।
न दद्यादृणवद्दाप्यः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥
प्रतिश्रुतस्यादानेन दत्तस्याच्छादनेन च ।
कल्पकोटिशतं मर्त्यः तिर्यग्योनौ च जायते ॥

प्रतिश्रुत्याप्यकर्मसंयुक्ताय न दद्यात् । तथाच हारीतः—

वचसा यत्प्रतिश्रुत्य कर्मणा नोपपादितम् ।
ऋणं तद्धर्मसंयुक्तमिह लोके परत्र च ॥

ऋणवत् प्रतिश्रुतमित्यर्थः । अथ षोडशात्मकमदत्तमित्याह नारदः—

अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगसमन्वितैः ।

तथोत्कोचपरीहासव्यत्यासच्छलयोगतः ॥
बालमूढास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितैः ।
कर्ता ममायं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत् ॥
अपात्रे पात्रमित्युक्त्वा कार्ये चाधर्मसंयुते ।
दत्तं यत्स्यादपि ज्ञानाददत्तं षोडशात्मकम् ॥

अत्र भयक्रोधशोकशब्दैः वेगशब्दःप्रत्येकं संबध्यते।अत्रकात्यायनः

कामक्रोधास्वतन्त्रार्तक्लीबोन्मत्तप्रमोहितैः ।
व्यत्यासपरिहासाच्च यद्दत्तं तत्पुनर्हरेत् ॥

भारद्वाजः—

आक्रोशादर्थहीनानां प्रतीकारं च यद्भयात् ।
प्रदीयते तत्कर्तृभ्यो भयदानं तदुच्यते ॥

उत्कोचलक्षणं नारद आह—

यत्तु कार्यस्य सिद्ध्यर्थमुत्कोचा सा प्रकीर्तिता ।

उत्कोचशब्दस्स्त्रीलिङ्गोऽप्यस्ति । तल्लक्षणान्तरमपि तेनैवोक्तं—

स्तेनसाहसदुर्वृत्तपारदारिकशंसनात् ।
दर्शनाद्वृत्तनष्टस्य तथा तस्य प्रवर्तनात् ॥
प्राप्तमेतैस्तु यत्किंचित्तदुत्कोचाख्यमुच्यते ॥

अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

नियुक्तो यस्तु कार्येषु स चेदुत्कोचमाप्नुयात् ।
स दाप्यस्तद्धनं कृत्स्नं दमश्चै(देयंचै)कादशाधिकम् ॥
अनियुक्तस्तु कार्यार्थमुत्कोचं यमवाप्नुयात् ।
कृतप्रत्युपकारार्थः तस्य दोषो न विद्यते ॥

शेषं सुगमं । अस्वतन्त्रा नारदेनोक्ताः—

अस्वतन्त्राः प्रजास्सर्वास्स्वतन्त्रः पृथिवीपतिः ।

अस्वतन्त्रास्स्मृताश्शिष्या आचार्येषु स्वतन्त्रता ॥
अस्वतन्त्राः स्त्रियः पुत्रा दासो यश्च परिग्रहः ।
स्वतन्त्रस्तस्य तु गृही यस्य स्यात्तत्क्रमागतम् ॥
गर्भस्थैस्सदृशो ज्ञेय अष्टमाद्वत्सराच्छिशुः ।
बाल आषोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चेति शब्द्यते ॥
परतो व्यवहारज्ञः स्वतन्त्रः पितरावृते ।
जीवतो ह्यस्वतन्त्रस्स्याज्जरयापि समन्वितः ॥
तयोरपि पिता श्रेयान् बीजप्राधान्यदर्शनात् ।
अभावे बीजिनो माता तदभावे तु पूर्वजः ॥
नीचोन्मत्तास्समाख्याता वातपित्तकफोद्भवाः ।

शेषं सुगमं । यज्ञार्थं लब्धं धनं द्यूतादौ विनियुञ्जनाय दत्तमित्येवं षोडशप्रकारं दत्तमप्यदत्तमेव प्रत्याहरणीयत्वात् । आर्तदत्तास्यादत्तत्वं धर्मकार्यविषयं कात्यायनवचनात् ।

स्वस्थेनार्तेन वा दत्तं श्रावितं धर्मकारणात् ।
अदत्वा तु मृते दाप्यस्स्यात्सुतो नात्र संशयः ॥

इति । विष्णुरपि याजनाध्यापनाभ्यां चोरादुपगतमपि प्रत्याहर्तव्यमिति । स्मृत्यन्तरमपि—

अदत्तादायिनश्चोराल्लिप्सेत ब्रह्मणो धनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥

इति । अदत्तादायी चोरः । नारदः—

योगामनविक्रीतं (?) योगदानं प्रतिश्रुतम् ।
यत्र चाप्युपाधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥

योग–उपाधिः येनोपाधिविशेषेण आधिक्रयविक्रयदानप्रतिग्रहाः

कृतास्तदुपाधिविगमे क्रयादीनां निवृत्तिः । अर्थदानादीनां निवर्त्यत्वमाह भरद्वाजः—

प्रयोजनमवीक्ष्यैव पात्रेभ्यो यत्र दीयते ।
तदर्थदानमित्याहुरैहिकं फलमेव च ॥

न त्वदृष्टं प्रयोजनमित्यर्थः ।

दृष्टप्रयोजनं स्त्रीणां प्रसंगाद्यत्प्रतीयते ।
अनर्हेषु च रागेण कामदानं तदुच्यते ॥
संसदि व्रीडयाऽऽश्रित्य परेभ्यो यत्प्रदीयते ।
व्रीडादानमिति प्राहुः तद्दानं तत्त्वदर्शिनः ॥
दृष्ट्वा प्रियं तथा श्रुत्वा हर्षाद्यच्च प्रयच्छति ।
हर्षदानं तदित्याहुः दृष्टमेवास्य तत्फलम् ॥
कल्याणे च विपत्तौ च यत्प्रियेषु प्रदीयते ।
दानं लौकिकमित्येवं दृष्टार्थं तत्प्रदीयते ॥
अदत्तान्याहुरेतानि दत्तान्यपि मनीषिणः ।

अत्र नारदः—

गृह्णात्यदत्तं लोभाद्यो यश्चादेयं प्रयच्छति ।
दण्डनीयावुभावेतौ धर्मज्ञेन महीक्षिता ॥

बृहस्पतिरपि—

अदत्तभोक्ता दण्ड्यः स्यात्तथाऽदेयप्रदायकः ।

इति । लोभादित्यनेन कारणोक्त्या अज्ञानाद्दानाप्रदानयोर्दोष इति सूचितम् ।

इति श्रीप्रतापरुद्रदेव महाराज विरचिते स्मृतिसङ्ग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे उपनिध्याख्यस्य
पदस्य विलासः.

अथाभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते

अत्र बृहस्पतिः—

अभ्युपेत्य तु शुश्रूषां यस्तां न प्रतिपद्यते ।
अशुश्रूषाभ्युपेत्यैतद्विवादपदमुच्यते ॥

इति । एतत्पूर्वं प्रतिश्रुतार्थस्य सोपाधिकत्वे प्रत्याधेयत्वमुक्तं। अत्र निरुपाधिकत्वेऽपि प्रत्याधेयत्वामिति सङ्गतिः । नचानयोरेकप्रकरणत्वं, पूर्वप्रकरणे दत्तस्यादानं द्रव्यविषयं । अत्र तूपेतस्याकरणमुपजीवकाविषयामिति भिन्नविषयत्वात्प्रकरणान्तरेण व्युत्पाद्यमिति नैकप्रकरणत्वं । अत्र नारदः—

शुश्रूषकः पञ्चविधः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ।
चतुर्विधः कर्मकरः शेषा दासास्तु पञ्चकाः ॥
विद्या त्रयी समाख्याता ऋग्यजुस्सामलक्षणा ।
तदर्थं गुरुशुश्रूषां प्रकुर्याच्छास्त्रचोदिताम् ॥
विद्याविज्ञानकामार्थनिमित्तेन चतुर्विधा ।
एकैवं पुनरेतेषां क्रियाभेदात्प्रभिद्यते ॥
विज्ञानमुच्यते शिल्पं हेमकुप्यादिसंस्कृतिः ।
नृत्तादिकं च तत्प्राप्तं कुर्यात्कर्मगुरोर्गृहे ॥

कङ्कणकटकादिनिर्माणविषयं नृत्तगीतादिकरणविषयं च चकारात् स्तम्भकुम्भादिरचनाविषयं च विज्ञानं शिल्पविज्ञानमित्युच्यते । अन्तेवासिशब्दार्थमाह नारदः—

स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बान्धवानामनुज्ञया ।

आचार्यस्य वसेदन्ते कालं कृत्वा सुनिश्चितम् ॥

अन्ते समीपे एतावन्तं कालमस्मत्समीपे स्थातव्यमित्याचार्योक्तकालपरिमाणं सुनिश्चितं कृत्वेत्यर्थः। आचार्यस्यापि कर्तव्यमाह स एव—

आचार्यश्शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम् ।
न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत् ॥

नारदः—

आविद्याग्रहणाच्छिष्यः शुश्रूषेत्प्रयतो गुरुम् ।
एतच्च गुरुदारेषु गुरुपुत्रे तथैव च ॥

वेदत्रयाध्यायिनां त्रयाणामप्युपदेशः—

समावृत्तश्च गुरवे प्रदाय गुरुदक्षिणाम् ।
प्रतीयास्वगृहानेषा शिष्यवृत्तिरुदाहृता ॥

गृहान् आत्मीयगृहान। प्रतीयात्—प्राप्नुयात्। कात्यायनस्तु विशेषमाह—

यस्तु न ग्राहयेच्छिल्पं कर्माण्यन्यानि कारयेत् ।
प्राप्नुयात्साहसं पूर्वं तस्माच्छिष्यो निवर्तते ॥
शिक्षितोऽपि श्रितं काममन्तेवासी समाचरेत् ।
तत्र कर्म च यत्कुर्यादाचार्यस्यैव तत्फलम् ॥

तत्र हारीतः—

गृहीतशिल्पस्समये कृत्वाऽऽचार्यं प्रदक्षिणम् ।
शक्तितश्चानुमान्यैनं अन्तेवासी निवर्तते ॥

एते शिष्यादयश्चतुर्विधाः—शिष्योऽन्तेवासी भृतकोऽधिकर्मकृत् इति। तथा च—

शिष्यान्तेवासिभृतकाश्चतुर्थस्त्वधिकर्मकृत् ।

एते कर्मकरा ज्ञेया दासास्तु गृहजादयः ॥
सामान्यमस्वतन्त्रत्वमेषामाहुर्मनीषिणः ।
जातिकर्मकृतस्तूक्तो विशेषो वृत्तिरेव च ॥
कर्मापि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमेव च ।
अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्म कृतं स्मृतम् ॥
गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्याऽवस्करशोधनम् ॥
गुह्याङ्गस्पर्शनोच्छिष्टं विण्मूत्रग्रहणोज्झनम् ॥
इष्टतस्स्वामिनां स्वाङ्गैरुपस्थानमथान्ततः ।

इष्टतः—स्वामिन इच्छातः इति। स्वाङ्गैः—स्वहस्तादिभिः। अन्ततः अन्तिमस्य विण्मूत्रोज्झनस्य उपस्थानं घर्षणम्—

अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभमन्यदतः परम् ।

अतः शिष्यो वेदविद्यार्थी। अन्तेवासी शिल्पविद्यार्थी। मूल्येन यः कर्म करोति स भृतकः। कर्मकुर्वतामधिष्ठाता अधिकर्मकृत् इति ज्ञेयम्। शेषं सुगमम्। भृतकश्चापि त्रिविधः—

उत्तमस्त्वायुधीयोऽत्र मध्यमस्तु कृषीवलः ॥
अधमो भारवाही स्यादित्येवं त्रिविधो भृतः ॥

गृहजातादयस्तु—

गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः ।
अनाकालभृतस्तद्वदाहितस्स्वामिना च यः ॥
मोक्षितो महतश्चर्णाद्युद्धप्राप्तःपणे जितः ।
तवाहमित्युपगतःप्रव्रज्यावसितः कृतः ॥
भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव बडबाहृतः ।
विक्रेता चात्मनश्शास्त्रे दासाः पञ्चदश स्मृताः ॥

गृहे दास्यां जातो गृहजातः। क्रीतः—मूल्येन स्वाम्यन्तरात्। लब्धः

तत एव प्रतिग्रहादिना प्राप्तः। दायादुपगतः पित्रादिदासः। अनाकालभृतः दुर्भिक्षे यो दासत्वाय मरणाद्रक्षितः। आहितः स्वामिना धनसंग्रहणेनाधीं कृतः। ऋणमोचनेन दासत्वमुपगतो ऋणदासः। युद्धप्राप्तः समरे विजित्य गृहीतः। पणे जितः यद्यस्मिन् विवादे पराजितोऽहं भवामि तदा त्वद्दासो भवामीति परिभाष्य यो जितः। तवाऽहंश्चुचः। दास इति स्वयं प्रतिपन्नः। प्रव्रज्यावसितः प्रव्रज्यातश्च्युतः कृतः एतावन्तं कालं त्वद्दास इत्यभ्युपगमं प्राप्तः। भक्तदासः सर्वकालं भक्तार्थमेव दासत्वमुपगतो यः प्रविष्टः। बडबाहृतः बडबा–गृहदासी तया हृतः तल्लोभेन तामुद्वाह्य दासत्वेन प्रविष्टः। य आत्मानं विक्रीणीते सोऽत्र विक्रेतत्येवं पञ्चदश प्रकाराः। एवं पञ्चदशानां मध्ये केषांचिद्दासत्वमुक्तिप्रकारमाह नारदः—

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दासत्वान्न विमुच्यते।
प्रसादात्स्वामिनोऽन्यत्र दास्यमेषां क्रमागतम्॥

पूर्वश्चतुर्वर्गः गृहजातक्रीतलब्धदायादुपगतानां चतुर्णां वर्गः। अन्यस्यापि दासत्वविमुक्तिप्रकारमाह स एव—

विक्रीणीते स्वतन्त्रस्सन् य आत्मानं नराधमः।
स जघन्यतमस्तेषां सोऽपि दास्यान्न मुच्यते॥

प्रसादात्स्वामिन इत्येतदत्राप्यनुषज्यते। तदयमर्थः—गृहजातादयः आत्मविक्रेतृपञ्चमाः स्वामिप्रसादात् दास्यात् मुच्यन्ते नान्यथा। अनाकालभृतादयस्तु स्वामिप्राणरक्षणाद्दास्याद्विमुच्यन्ते। यथाऽऽह नारदः—

यो वैषां स्वामिनं कश्चि (न्मोचयेत्) द्प्रोपायेत्प्राणसंकटात्।
दासत्वात्स विमुच्येत पुत्रभागं लभेत च॥

एषां पञ्चदशविधानां दासानां मध्य इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति–

गृहजातादीनां आत्मविक्रेतृपञ्चमानां दासत्वापनये हेतुद्वयं; स्वामिप्रसादः प्राणसंकटाद्रक्षणं च। अनाकालभृतानां तु स्वामिप्राणरक्षणमेवेति। प्रव्रज्यावसिते विशेषमाह कात्यायनः—

प्रव्राज्यावसितो दासो मोक्तव्यश्च न केनचित्।

इति। याज्ञवल्क्योऽपि—

प्रव्रज्यावसितो राज्ञो दास आमरणान्तिकम्।

प्रव्रज्यावसितः—सन्यासाद्भ्रष्टः राज्ञो दासः। पार्थिवस्यैव नान्यस्येत्यर्थः।

राज्ञ एव तु दासस्स्यात्प्रव्रज्यावसितो नरः।
न तस्य प्रतिमोक्षोऽस्ति न विशुद्धिः कथंचन॥

इति नारदस्मरणात्। नर इति सामान्यवचनं क्षत्रियवैश्ययोरेव पर्यवस्यति। विप्रस्य दासत्वप्रतिषेधात्। यथाऽऽह कात्यायनः—

प्रव्रज्यावसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः।
निर्वास्यं कारयेद्विप्रं दासत्वं क्षत्रवि(ड्) द्भृगुः॥

तथा च हारीतः—

द्वावेव कर्मचण्डालौ लोके दूरबहिष्कृतौ।
प्रव्रज्यापरिवृत्तश्च वृथाप्रव्रजितश्च यः॥

इति। अत एव कात्यायनः—

अनाकालभृतो दास्यान्मुच्यते गोयुगं ददत्॥

इति। तथाच विष्णुः—

अधिकाधिकद्रव्यदानान्मुच्यते।

इति। एवमृणदासादीनां ऋणाद्युपाधिनिवृत्तौ दासत्वाद्विमुक्तिरिति न्यायसिद्धोऽर्थः। तथाहि-दुर्भिक्षे पो (षणे) षितेन कारितो

दासो गोद्वयार्पणाद्विमुच्यते। आहितदासस्त्वाधातृगृहीतर्णे प्रत्य-र्पिते सति उत्तमर्णस्य दास्याद्विमुच्यते। ऋणादासस्तु स्वकृतर्णा-पाकरणाद्विमुच्यते।पणजितरणप्राप्तोपगतास्त्रयो दासविशेषाः। स्वनिर्वर्त्याखिलव्यापारानिर्वर्तनक्षमदासान्तरप्रदानाद्विमुच्यन्ते। कृतस्तु दासविशेषो दास्यावधेर्विमुच्यते, बडबाहृतस्तु दासस्सं-भोगत्यागाद्विमुच्यते इति। दासाभासानाह नारदः—

चोरापहृतविक्रीता ये च दासा हृता बलात्।
राज्ञा मोचयितव्यास्ते दासत्वं तेषु नेष्यते॥

यत्तु कात्यायनेनोक्तम्—

तवाहमिति चात्मानं योऽस्वतन्त्रःप्रयच्छति।
न (समं) स तं प्राप्नुयात्कामं पूर्वस्वामी लभेत तम्॥

तत्परदासत्वेनास्वतन्त्रविषयम्। केवलास्वतन्त्रत्वे तु दासप्रति-निधिर्वा दाप्यः स्वयमेव वा दास्यं कुर्यात्। दास्यविमोक-प्रकारमाह नारदः—

स्वदासमिच्छेद्यःकर्तुमदासं प्रीतमानसः।
स्कन्धादादाय तस्यासौ भिन्द्यात्कुम्भं सहाम्भसा॥
साक्षताभिस्सपुष्पाभिर्मूर्धन्यद्भिर (वाकि) प्राहरेत्।
अदास इति चोक्त्वा त्रिःप्रा (ङ्मुखस्त) द्रवन्तमथोत्सृजेत्॥

एतच्च दास्या अपि समानं विधानम्। दास इत्यत्र लिङ्गव-चनयोरुद्देश्यतया अविवक्षितत्वात्। विष्णुस्तु विशेषमाह—

दासेन या परिणीता सा दासत्वमापद्यत इति। कात्या-यनोऽपि—

दासेनोढा च या दासी सापि दासीत्वमाप्नुयात्।
यस्तद्भर्ता प्रभुस्तस्याः स्वाम्यधीनः प्रभु (र्यतः) स्तयोः॥

तयोः—दासदास्योः । स्वामी प्रभुरित्यनेन दासस्यापि दासपत्न्याश्च तद्धनस्य च प्रभुरित्यर्थादुक्तं भवति । अत एव नारदः—

दासस्य तु धनं यत्स्यात्स्वामी तस्य प्रभुर्मतः ॥

इति । अनेन दासधनस्यापि स्वाम्येव प्रभुरिति मन्तव्यम् । दासत्वविमोकस्य फलमाह बृहस्पतिः—

ततःप्रभृति वक्तव्यस्स्वाम्यनुग्रहपालितः ।
भोज्यान्नोऽथ प्रतिग्राह्यो भवत्यभिमतस्सताम् ॥
दासीसुताश्चये जाताः तस्याःपत्या परेण वा ।
उत्पादको यदि स्वामी न दासीं कारयेत्प्रभुः ॥

इति । व्यासः—

अन्यदीया तु या दासी दास्यन्यस्य तु सा भवेत् ।
शुल्कं दत्वा तु तां गच्छेदगन्ता दास्यमर्हति ॥

यस्तु शुल्कं दत्वा दास्यां अपत्यं उत्पादितवान् तदपत्यं तस्यैव बीजप्राधान्यात् । शुल्कमदत्त्वैव गच्छति अपत्यं चोत्पन्नं तदपत्यं दासीस्वामिन एवेति भारुचिप्रभृतय आहुः । वरदराजस्तु द्वयोरित्याह—

अतोऽपत्यं द्वयोरिष्टं पितुर्मातुश्च धर्मतः ।

इति वदन् । दास्याधिकारे विशेषमाह नारदः—

वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ।
राजन्यवैश्यशूद्राणां त्यजतां हि स्वतन्त्रताम् ।
समवर्णे तु विप्रं तु दासत्वं नैव कारयेत् ॥

तथाच कात्यायनः—

त्रिषु वर्णेषु विज्ञेयं दास्यं विप्रस्य न क्वचित् ।

वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ॥

यथा दारग्रहणमानुलोम्येन न प्रातिलोम्येन दारवद्दासत्वमिति विष्णुस्मरणात् । अत्रापि विशेषमाहोशना—

न गुरुर्न सपिण्डश्च न विप्रो नान्त्ययोनयः ।
दासभावं न तेऽर्हन्ति न च विद्याधिको द्विजः ॥

अयमर्थः—ब्राह्मणस्य अन्त्ययोनिर्न दासः विद्याधिकश्च । एवं क्षत्रियादेर्ब्राह्मणः । समवर्णे तु विद्याधिको न दासः अन्त्ययोनिरपि न दास इति ध्येयम् । अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

शूद्रं तु कारयेद्दासं क्रीतमक्रीतमेव वा ।
दास्यायैव हि सृष्टस्स स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥

इति श्रीप्रतापरुद्रदेव महाराज विरचिते स्मृतिसङ्ग्रहे सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे अभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यस्य पदस्य विलासः.

## अथ वेतनानपाकर्माख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते

अत्र मनुः—

अतःपरं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपाक्रियाम् ।

इति। अतःपरं—अभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यस्य पदस्यानन्तरमित्यर्थः। पूर्वस्मिन् प्रकरणे उपगतपणजितादीनां प्रतिश्रुतनिर्वाहार्थं प्रतिनिधिर्वा कार्य इत्युक्तं। अत्र तु प्रातिश्रुतनिर्वाहार्थं वेतनं कर्तव्यं। अन्यथा तद्वेतनं प्रतिश्रुतमपहरणीयमिति संगतिः। नचास्य दत्ताप्रदानिकेऽन्तर्भावः तत्र दत्तस्यादत्तप्रायतोक्ता न तु दत्तस्यापहरणं। अतश्चानयोर्भेदः। तदेतदनुसंधाय—

अतःपरं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपाक्रियाम् ।

इत्यत्र 'अतःपरं' इति पदं प्रयुक्तमित्यनुसन्धेयं। तत्र नारदः—

भृत्याय वेतनं दद्यात् कर्मस्वामी यथाक्रमम् ।
आदौ मध्येऽवसाने च कर्मणे (णो) यद्विनिश्चितम् ॥

तुभ्यमिदं दास्यामि इति यद्वेतनं परिमाणतो निश्चितं तत्त्रेधा विभज्य कर्मणामादिमध्यावसानेषु दद्यादित्यर्थः। ननु कर्मकराणां पूर्वप्रकरण एव तत्स्वरूपनिरूपणावसरे तद्भृति(द्वृत्ति)दानप्रकारश्च तत्रैव वक्तव्य इति चेन्मैवम्। शिष्यदासादिसमानयोगक्षेमतयाकर्मकराणां तत्र स्वरूपमात्रमुपोद्धाततया निरूपितम्। तत्र तद्वेतनप्रदानावसरस्यानाकाङ्क्षितत्वात्। जिज्ञासाप्रसूतं हि व्युत्पाद्यमिति न्यायविदः। दत्ताप्रदानिके यद्वृत्तं तदवलम्ब्यैवाभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यस्य पदस्योत्थानमित्युक्तसङ्गतिः। अतश्च तदनु-

सारेणैव आकांक्षोत्थानात् पणाजितयुद्धप्राप्तस्वयमागतानां दासानां व्युत्पाद्यत्वं तदुत्थिताकाङ्क्षत्वात् गृहजातादीनां व्युत्पाद्यत्वं तत्प्रसङ्गात्कर्मकरादीनां व्युत्पाद्यत्वमिति तत्स्वरूपमात्रमेव पूर्वप्रकरणे व्युत्पाद्यं । न तु तत्र भृतिदानप्रकार इति स एवात्र प्रपञ्चयते । तत्र विशेषमाह कात्यायनः—

भृतावनिश्चितायां तु दशभागमवाप्नुयुः ।
लाभगोवीर्यसस्यानां वणिग्गोपकृषीवलाः ॥

दशभागं—दशमभागं इत्यर्थः । गोवीर्यं—पयः यथाक्रमेणेति शेषः । यदि कर्मस्वामी न ददाति तदा त्वाह याज्ञवल्क्यः—

दाप्यतु दशमं भागं वाणिज्यपशुसस्यतः ।
अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत्स महीक्षिता ॥

बृहस्पतिस्तु विशेषमाह—

त्रिभागं पञ्चभागं वा गृह्णीया (द्वा) त्सीरवाहकः ।

इति । अत्र विकल्पार्थमाह स एव—

वस्त्राच्छादभृतस्सारात्भागं गृह्णीत पञ्चमम् ।
जातसस्यात्त्रिभागं तु प्रगृह्णीयादथो भृतः ॥

इति । अयमर्थः—कृषीवलो जातसस्यात्पञ्चमं भागं गृह्णीयात् तेन यद्यशनाच्छादने निर्वर्त्येते; अन्यथा तृतीयभागमिति पारिभाषिकभृतावपि यदि भृत्यः प्रवीणः तदा किंचिदधिकं देयं । यदा अनिपुणः किंचिन्नेत्याह याज्ञवल्क्यः—

देशं कालं च योऽतीयाल्लाभं कुर्याच्च योऽन्यथा ।
तत्र स्यात्स्वामिनश्छन्दो रिक्थं देयं कृतेऽधिके ॥

अनेकभृतिनिर्वर्त्ये कर्मणि पारिभाषिकभृतेरर्पणप्रकारमाह याज्ञ-

वल्क्यः—

योे यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम् ।
उभयोरप्यसाध्यं चेत्साध्ये कुर्याद्यथाश्रुतम् ॥

यथाश्रुतं—यथापरिभाषितं । बृहस्पतिस्तु विशेषमाह—

भृतकस्तु न कुर्वीत स्वामिनश्शाठ्यमण्वपि ।
भृतिहानिमवाप्नोति ततो हानिः प्रवर्तते ॥

ततो—व्यवहारात् । भृतकस्य स्वामिनस्सकाशात् हानिः—पराजय इत्यर्थः। पराजितो भृतको हानिमवाप्नुयात् इति यावत् ।
तथा च नारदः—

कर्मोपकरणं चैषां क्रियां प्रति यदाहितम् ।
आप्तभावेन तद्रक्ष्यं न जैह्म्येन कदाचन ॥

इति । एषां—कर्मस्वामिनां कर्मोपकरणं लाङ्गलादिकं कृष्यादिक्रियामुद्दिश्य यद्भृत्यपार्श्वे निहितं तत्तेन निश्शाठ्येन । संरक्ष्यं ।
अन्यथा भृतेर्हानिस्स्यादिति शेषः । कर्माकरणे त्वाह विष्णुः—

'भृत्यो वेतनं गृहीत्वा यदि कर्म न करोति वेतनाद्द्विगुणं गृह्णीयात्' इति । तत्समर्थविषयम् । यथाऽऽह नारदः—

गृहीत्वा वेतनं कर्म न करोति यदा भृतः ।
समर्थश्चेद्दमं दाप्यो द्विगुणं तच्च वेतनम् ॥

अत्र कात्यायनः—

कर्मारम्भं तु यः कृत्वा सि(द्धिं)द्धं नैव तु कारयेत् ।
बलात्कारयितव्योऽसावकुर्वन् दण्डमर्हति ॥

अत्र बृहस्पतिः—

भृतोऽनार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म य (थोदितः) थेरितम् ।

स दण्ड्यः कृष्णलानष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥

नारदः—

कालेऽपूर्णे त्यजन् कर्म भृतेर्नाशमवाप्नुयात् ।
स्वामिदोषादपक्रामन् यावत्कृतमवाप्नुयात् ॥

अत्र विष्णुः—

भृतकश्चापूर्णे काले कर्म त्यजन् सकलमेव मूल्यं (दद्यात्) जह्यात्। राज्ञे पणशतं दद्यात्। स्वदोषेण च यद्विनश्येत् स्वामिने देयं। अन्यत्र दैवराजोपघातात्। स्वामी चेत् भृतकमपूर्णे काले जह्यात्तस्य सर्वमेव मूल्यं दद्यात् पणशतं च राज्ञे दद्यात्। अन्यत्र भृतदोषात्। याज्ञवल्क्यः—

अराजदैविकं नष्टं भाण्डं दाप्यस्तु वाहकः ।
प्रस्थानविघ्नकृच्चैव प्रदाप्यो द्विगुणं स्मृतम् ॥
प्रक्रान्ते सप्तमं भागं चतुर्थं पथि संत्यजेन् ।
भृतिमर्धपथे सर्वं प्रदाप्यस्त्याजकोऽपि च ॥

यदा प्रक्रान्ते गमने प्राक् प्रस्थानात्त्यजति तदा भृत्या सह चतुर्थभागं। अर्धपथे सार्धं। यदा पुनस्स्वामी भृतकं येषु स्थानेषु त्यजेत् तदा तेनापि भृतकाय पूर्वोक्तं देयं। अत्र विशेषमाह-कात्यायनः—

न तु दाप्यो हृतं चोरैर्दग्धमूढं जलेन वा ।

इति। ऊढं—नीतं। पण्यस्त्रीषु नारद आह—

शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् ।
अनिच्छन् शुल्कदाताऽपि शुल्कहानिमवाप्नुयात् ॥

बृहस्पतिस्तस्यापवादमाह—

व्याधिता संभ्रमाव्यग्रा राजधर्मपरायणा ।

आमन्त्रिता च नागच्छेदवाच्या बडबा स्मृता ॥

बडबा—वेश्या। अत्र विशेषमाह नारदः—

अप्रयच्छंस्तथा शुल्कं अनुभूय पुमान् स्त्रियम्।
अक्रमेण तु संगच्छेद्घातदन्तनखादिभिः॥
अयोनौ यस्समाक्रामेद्बहुभिर्वाऽपि वासयेत्।
शुल्कं सोऽष्टगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु॥

मत्स्यपुराणेषु विशेषान्तरं दर्शितं—

गृहीत्वा वेतनं वेश्या लोभादन्यत्र गच्छति।
तां दमं दापयेद्द्याद्दुत्तरस्यापि भाण्डकम्॥
वेश्याप्रधाना ये त्तत्र कामुकास्तद्गृहोषिताः।
तत्समुत्थेषु कार्येषु निर्णयं संशये विदुः॥

अत्र बृहस्पतिः—

प्रभुणा विनियुक्तस्सन् भृतको विदधाति यः।
तदर्थमशुभं कर्म स्वामी तत्रापराध्नुयात्॥

स्वामिन एव तत्रापराध इत्यर्थः। अत्र नारदः—

स्तोमवाहीनि भाण्डानि पूर्णकालान्युपावहेत्।
ग्रहीतुरावहेद्भग्नं नष्टं चान्यत्र संप्लवः॥

संप्लवः-परस्परमन्येन वा द्रव्येण संघट्टनम्। अत्र हारीतः—

परभूमौ गृहं कृत्वा स्तोमं दत्वा वसेत्तु यः।
स तद्गृहीत्वा निर्गच्छेत्तृणकाष्ठेष्टकादिकम्॥
स्तोमाद्विना वसित्वा तु परभूमावनिच्छतः।
निर्गच्छंस्तृणकाष्ठादि न गृह्णीयात्कथञ्चन।
यान्येव तृणकाष्ठानि इष्टका वा निवेशिता॥

(स)विनिर्गच्छंस्तु तत्सर्वं भूमिस्वामिनि वेदयेत् ।
स्तोमशब्देन परगृहानुभवार्थं तेभ्यो दक्षिणोच्यते ॥

स्नेहेन च चिरं लब्ध्वा मन्दिरं कुरुते तु यः ।
निर्गच्छतस्तस्य दारुदत्तस्तोमस्य नान्यथा ॥

अन्यथा राजा गृह्णीयादित्यर्थः ।

एतदन्तर्भूततया स्वामिपालविवादाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते । अत्र नारदः—

गवां शताद्वत्सतरी धेनुस्स्याद्द्विशते भृतिः ।
प्रतिसंवत्सरं गोपे सन्दोहश्चाष्टमेऽहनि ॥

प्रतिसंवत्सरं वत्सतरी—समतिक्रान्तवत्सत्वावस्था गौर्भृतिः पालके पाल्यमानगोशतवशाद्देया भवति । शतान्तराधिके तु वत्सतरीस्थाने सवत्सा गौरष्टमेऽहनि संदोहश्च भवतीत्यर्थः। संदोहः—सर्वदोहः। यथाऽऽह बृहस्पतिः—

तथा धेनुभृतःक्षीरं लभेतास्याष्टमेऽखिलम् ।

इति । गोस्वामिनोऽनुमते तु भृत्यादेयैव भृतिर्दोहनात्मिका। अत्र दशदोग्ध्रीणां मध्ये उत्कृष्टां वत्सतरीं स्वभृत्यर्थं क्षीरभृतो गृह्णीयादित्याह मनुः—

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशातः पराम् ।

इति । परां उत्कृष्टां दशतः सार्वविभक्तिकस्तसिः निर्धारणे; दशानां दोग्ध्रीणां मध्ये इत्यर्थः । स्वामिपालकयोः कर्तव्यमाह नारदः—

उपानयेद्गा गोपालः प्रत्यहं रजनीक्षये ।
समर्पिताश्च ता गोपः सायाह्ने प्रत्युपानयेत् ॥

उपानयेत्—स्वीकुर्यादित्यर्थः। अत एव याज्ञवल्क्यः—

यथाऽर्पितान् पशून् गोपः सायं प्रत्यर्पयेत्तथा।

इति। गोपो गोपालः। यावत्यः प्रातस्समार्पिताः तावत्यः प्रत्यर्पणीया इत्यर्थः। तथाच बृहस्पतिः—

'सायं समर्पयेत्सर्वं' इति, सर्वासमर्पणे त्वाह याज्ञवल्क्यः—

प्रमादहृतनष्टांश्च प्रदाप्यः कृतवेतनः।

इति। कृतवेतनः—पालक इत्यर्थः। प्रमादग्रहणं पालकदोषोपलक्षणार्थं। तेन हरणमरणादिविषये निर्दोषश्चेत् पालको न दाप्यः। अत एव मनुः—

विघुष्योपहृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति।

यदि देशे च काले च स्वामिनस्स्वस्य शंसति॥

विघोषणं काहलवेण्वादिना बहूनामनुभावनार्थं। देशो यत्र स्वामी स्थितस्सोऽभिमतः। कालोऽनतिविलम्बितः। एवंभूतं देशं कालं वा यदा स्वदोषेणातिक्रम्य देशान्तरे कालान्तरे वा शंसति तदा सोऽपराधानुसाराद्दातुमर्हतीति गम्यते॥ क्वचिद्विशेषे पालकस्य निर्दोषत्वमाहव्यासः—

पालग्रहे ग्रामघाते तथा राष्ट्रस्य विभ्रमे।

यत्प्रणष्टं हृतं वा स्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी॥

अत्र विशेष माह मनुः—

नष्टं विनष्टं क्रिमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।

हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु॥

नष्टं—कुत्र तिष्ठतीत्यविदितं। क्रिमिभिर्विनष्टं प्रध्वस्तं। श्वहतं शुना हतं। विषमे मृतं कर्दमादौ मृतं। पुरुषकारेण हीनं—भु(श)क्तिहीनं।

अतश्च स्वामिने निवेदनीयं अन्यथा पालकः किल्बिषी भवेदिति गम्यते । एतदेव स्पष्टयितुमाह स एव—

स्याच्चद्गोऽव्यसनं गोपो व्यायच्छेत्तत्र शक्तितः ।
अशक्तस्तूर्णमागत्य स्वामिने वा निवेदयेत् ॥

अन्यथा करणे विष्णुः—द्रव्यं विनष्टं चेद्विनष्टपशुमूल्यं स्वामिने दद्यात् । दिवापशूनां वृकाद्युपघाते पाले त्वपालयति पालदोष इति । दिवाग्रहणाद्रात्रौ न दोष इति गम्यते। यथाऽऽह मनुः—

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ।
यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥

यां व्यक्तिमित्यर्थः । अनायति–अप्रयतमाने उदासीने इत्यर्थः । यद्वा अनायति—अधावति । यत्तु नारदोक्तं—

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।
यामुपेत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥

असमर्थविषयमेतत् । पशुपालकशुद्ध्यशुद्धिविषयमाह विष्णुः— 'पशुषु विनष्टेषु तद्वालशृङ्गादिदर्शनात् शुध्यति' इति । वाला-दिकं हृ(मृ)तपशवयवभूतं अरण्ये पश्वपहारशङ्कानिवृत्त्यर्थं पाल-को दर्शयेदित्यर्थः । तच्च लिङ्गदर्शनं सर्वभृतकानामुपलक्षणं । तथा च विष्णुः—

'भृतकविनाशे भृतकं वा तच्छिष्टं वा राज्ञे निवेदयेत्' इति । राजग्रहणाद्राजभृतकविषयमेतत् ॥

इति श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराज विरचिते स्मृतिसंग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे वेतनानपा-
कर्माख्यस्य पदस्य विलासः

अथ अस्वामिविक्रयाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते.

---

अत्र नारदः—

अस्वमिना कृतो यस्तु क्रयो विक्रय एव च ।

अकृतस्स तु विज्ञेयो व्यवहारस्य नित्यशः ॥

पूर्वप्रकरणे वेतनमपाकरणीयमित्युक्तं । अत्र तु क्रीतमपाकरणीयमिति संगतिः । दत्ताप्रदाने तु दत्तास्यादत्तप्रायतोक्ता । अत्र तु क्रीतस्यापाकरणं न तु क्रीतस्याक्रीतप्रायतेति तस्माद्भेदः । अ(त)त्र नारदः—

द्रव्यमस्वामिविक्रीतं प्राप्य स्वामी तदाप्नुयात् ।

इति । अस्वामिविक्रीतं स्वकीयद्रव्यं यस्य पार्श्वे दृष्टं तस्य सकाशात्स्वामी तद्गृह्णीयादित्यर्थः । यत्तु चन्द्रिकाकारेणोक्तं—एतच्च स्वाम्यननुमत्या विक्रीतद्रव्यविषयमिति, तन्न, स्वाम्यनुमतौ विद्यमानायां अस्वामिविक्रयत्वाविषयत्वात् । यत्तु मनुनोक्तं—

विक्रीणीते परस्य स्वमस्वामी स्वाम्यसम्मतः ।

असम्मतः—असम्यक्ज्ञानवान् । स्वामिनं वञ्चयित्वेति यावत् । किमिदं परस्वमित्यपेक्षिते बृहस्पतिः—

निक्षेपान्वाहितन्यासहृतयाचितबन्धकम् ।

उपांशु येन विक्रीतमस्वामी सोऽभिधीयते ॥

निक्षेपादीनां लक्षणानि पूर्वमेवोक्तानि । उपांशु—अप्रकाशं । कात्यायनः—

अस्वामिविक्रयं दानमाधिं च विनिवर्तयेत् ।

आधिक्रयदानेभ्यः प्रागेवा स्वामिहस्ते दृष्टं नष्टं अपहृतं स्वकीयं द्रव्यमस्वामिनस्सकाशात् स्वामी गृह्णीयादिति दण्डापूपन्याया-दनेन वचनेन गम्यते । तत्र विशेषमाह विष्णुः—

अज्ञानतः प्रकाशं यः परद्रव्यं विक्रीणीते तत्र तस्यादोषः। स्वामी तद्द्रव्यमवाप्नुयादिति। अज्ञानतः—विक्रेतुरस्वामित्वाज्ञानतः। तत्र परद्रव्य (क्रये) विषये तस्य क्रेतुरदोषः—तस्कर दोषो नास्ती-त्यर्थः। विक्रेतुस्तु तद्दोषोऽस्तीति गम्यते । स तु तस्करवद्द-ण्ड्यः। न पुनः क्रेता प्रकाशमित्यनेन रहसि लोभात्परद्रव्यमिति ज्ञात्वा क्रीणाति तत्र क्रेतुरपि तस्करदोषोऽस्ति । तथाच स्मृतिः—यद्यप्रकाशं प्रकाशं वा हीनमूल्यं विक्रीणीयात्तदा क्रेता विक्रेता च चोरवत् शास्यौ इति । अत्र बृहस्पतिः—

अन्तर्गृहे बहिर्ग्रामान्निशायामसतो जनात् ।
हीनमूल्यं च यत्क्रीतं ज्ञेयोऽसावुपधिक्रयः ॥

असतो जनात्—चण्डालादिजनादित्यर्थः । केचिदसद्ग्रहणं अस्वामित्वज्ञापकदासत्वादीनामुपलक्षणार्थत्वात् कितवादिपर-मित्याहुः। उपधिक्रयस्तु तेन दोषापादक इत्याह स एव—

येन क्रीतं तु मूल्येन तत्प्राग्राज्ञे निवेदितम् ।
न तत्र विद्यते दोषस्स्तेनस्स्यादुपधिक्रयात् ॥

स्तेनः—चोरः। चोरवच्छास्य इत्यर्थः। अत्र कात्यायनः—

नाष्टिकस्तु प्रकुर्वीत तद्धनं ज्ञातिभिस्स्वकम् ।

इति। नाष्टिको—नष्टधनवान्। नष्टं स्वकीयं धनं ज्ञातिभिः साक्षि-भूतैः प्रकुर्वीत साधयेदित्यर्थः। क्रेतारं प्रत्याह बृहस्पतिः—

पूर्वस्वामी तु तद्द्रव्यं यदागत्य विचारयेत् ।

तत्र मूलं दर्शनीयं क्रेतुश्शुद्धिस्ततो भवेत् ॥

व्यासः—

मूले समाहृते क्रेता नाभियोज्यः कथञ्चन ।
मूलेन सह वादस्तु नाष्टिकस्य तदा भवेत् ॥

अत्र कात्यायनस्तु विशेषमाह—

तदानयनकालस्तु देयो योजनसंख्यया ॥

इति । योजनसंख्यया—देशविप्रकर्षापेक्षयेत्यर्थः । कालविप्रकर्षादौ प्रतिभूप्रकरणं द्रष्टव्यं । अत्र विशेषमाह व्यासः—

अनुपस्थापयेन्मूलं क्रयं वाप्यविशोधये (य) त् ।
यथाऽभियोऽगं धनिने धनं दाप्योऽयमञ्जसा ॥

मूलं पूर्वविक्रेतारं नाष्टिकं प्रत्याह स एव—

यदि स्वं नैव कुरुते ज्ञातिभिर्नाष्टिको धनम् ।
प्रसंगविनिवृत्त्यर्थं चोरवद्दण्डमर्हति ॥

प्रसंगोऽतिप्रसंगः । अत्राह याज्ञवल्क्यः—

नष्टापहृतमासाद्य हर्तारं ग्राहयेन्नरम् ॥

नष्टमपहृतं वा अन्यदीयं क्रयादिना प्राप्य हर्तारं ग्राहयेत् ॥ चोरोद्धरणकारिभिः । अथाविदितदेशान्तरं गतः कालान्तरे वा विपन्नः तदा मूलसमाहरणाशक्तः क्रेतारमदर्शयित्वैव स्वयमेव तद्धनं नाष्टिकस्य समर्पयेदिति श्रीकररुचिकादय आहुः॥ विज्ञानेश्वरस्तु—नष्टमपहृतं वाऽऽत्मीयं द्रव्यमासाद्य क्रेतुर्हस्तस्थं ज्ञात्वा तद्धर्तारं क्रेतारं स्थानपालादिभिर्ग्राहयेत् । देशकालातिपत्तौ—देशकालातिक्रमे स्थलपालाद्यसन्निधानात्तद्विज्ञापनकालात्पलायनशङ्कया स्वयमेव गृहीत्वा तेभ्यस्समर्पयेदिति व्याख्यातवान् ॥ यदा

मूलोपस्थाने अशक्तस्सन् दिव्यमङ्गीकरोति तदा दिव्येनैव विनिर्णयः। यदा तु दिव्येन वा क्रयं न दर्शयति तदा स एव दण्डभाग्भवतीति विज्ञानयोगिमेधातिथ्यसहायादिसा आहुः। चन्द्रिकाकारापरार्कभारुच्यादयस्तु अस्वामिविक्रयविषये दिव्याव (तारो) काशो नास्तीत्याहुः॥ निर्णयस्तु राजाज्ञया समन्यूनाधिकत्वेन धनं विभज्यैव निर्णय इति॥

प्रमाणहीनवादे तु पुरुषापेक्षया नृपः।
समन्यूनाधिकत्वेन समं कुर्याद्विनिर्णयम्॥

इति। पुरुषापेक्षया—नाष्टिकक्रेतृपुरुषयोस्साधुत्वापेक्षया। असहायमेधातिथिप्रभृतीनां तु समन्यूनाधिकत्वेन पुरुषापेक्षया साक्षिपुरुषापेक्षया निर्णयं कुर्यात्। स च प्रकारस्साक्षिप्रकरणोक्तो वेदितव्यः। साक्ष्यादिमानुषाभावे दिव्यमवतरतीत्येवं परमेतद्वचनमित्याहुः। अत्र चद्रिकाकारभारुच्यपरार्कादीनां मतमसम्यक्। यत्तूक्तं हारितेन—

प्रकाशं च क्रयं कुर्यात्साधुभिर्ज्ञातिभिस्स्वकैः।
न तत्रान्या क्रिया प्रोक्ता दैविकी न च मानुषी॥

इति। तत्तु 'लेख्यं यत्र न विद्यते' इत्यादिवचनसमानार्थं ज्ञेयं। तद्वचनार्थस्तु दिव्यनिरूपणप्रकरणे निरूपितः अत एवावधार्यः॥

इति श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराज विरचिते स्मृतिसंग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे अस्वामिविक्र-
याख्यस्य पदस्य विलासः

## अथ विक्रीयासंप्रदानाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते

---

विक्रीय मूल्यं पण्येन क्रेतुर्यन्न प्रदीयते ।
विक्रीयासंप्रदानं तद्विवादपदमुच्यते ॥

पूर्वप्रकरणे अस्वामिविक्रीते स्वत्वानुत्पत्तेस्तत्परावर्तनीयमित्युक्तं। अत्र तु क्रयात्स्वत्वोत्पत्तावपि तस्य प्रतिबद्धत्वात्परावर्तनीयमिति संगतिः। न च भोग्याधिवत् सोपाधिकत्वेऽपि न ऋणादानान्तःपातित्वमस्य। तत्र भोग्याधौ परिभाषामूलं स्वत्वस्यौपाधिकत्व। अत्र तु अनुशयमूलमित्यनयोर्भेदः। नच दत्ताप्रदानिकेऽन्तर्भावः, दानविक्रययोर्भेदात्। किंच तत्र दत्तस्यादत्तप्रायता अत्र तु न क्रीतस्याक्रीतप्रायता किंतु विक्रीतस्य पर्यावृत्तिरिति भेदः। अत एव वेतनानपाकर्मादौ नान्तर्भावः।

लोकेऽस्मिन् द्विविधं द्रव्यं स्थावरं जङ्गमं तथा ।
क्रयविक्रयधर्मेषु सर्वं तत्पण्यमुच्यते ॥
षड्विधस्तस्य विबुधैर्दानादानविधिस्स्मृतः ।
गणितं तुलितं मेयं क्रियया रूपतःक्रिया ॥

एतद्व्याख्यानमुद्देशस्थल एवोक्तं अत एवावधार्यं।

विक्रीय पण्यं मूलेन य क्रेतुर्न प्रयच्छति ।
स्थावरस्य क्षयं दाप्यो जङ्गमस्य क्रियाफलम् ॥

क्षयं-गतभोगादिकमित्यर्थः। स्थावरस्यापि वस्त्रादेः क्षयस्य दातुमशक्यत्वात् तदनुगुणद्रव्यं दाप्यः। जङ्गमस्य द्विपदां चतुष्पदां च तत्कर्मनिमित्तं मूल्यं दाप्यः। यथा क्रयकालगृहीतेन मूल्येन यावत्पण्यं अर्पणकाले अर्घवशादधिकं लभ्यते। स च

विक्रेता सोदयं तत्पण्यं क्रेतारमेव प्रापयेत्। अत एव विष्णुः—

अर्घवशादधिकं चेत्क्रेतारं प्रत्यर्पणकाले प्रापयेत् ।

इति। यत्तु याज्ञवल्क्येनोक्तं—

गृहीतमूल्यं यत्पण्यं क्रीतं नैव प्रयच्छति ।
सोदयं तस्य दाप्योऽसौ दिग्लाभं वा दिगागते ॥

इति। तच्च क्रयकाले प्रत्यर्पणकाले साम्यविषयम्। अर्घस्य ह्रासवृद्धिग्रहणाभावात्। सोदयस्य दाप्य इति वृथा, न न्यायतः प्राप्तं। अर्घसाम्ये तु पण्योपचयरूपोदयासम्भवात्। अतश्च—

निक्षेपं वृद्धिशेषं च क्रयविक्रयमेव च ।
याच्यमानमदत्तं चेद्वर्धते पञ्चकं शतम् ॥

इति अकृतवृद्धिप्रकरणोक्तपरिमाणा वृद्धिः कल्प्यते। तत्सहितं पण्यं दाप्य इति। अत्र नारदः—

स्थायिनामेष नियमो दिग्लाभं दिग्विचारिणाम् ।

ग्रामपट्टणादौ स्थित्वैव ये पण्यविक्रयक्रयरूपादिव्यवहारान् कुर्वन्ति ते स्थायिनः। तदितरे सांयात्रिकादयो दिग्विचारिणः। स्थायिनामेष नियमः इति 'स्थावरसंक्षयं दाप्य' इत्यादि। दिग्विचारिणां तु यत्पण्यं यस्मिन् दिगन्तरे विक्रेतुं क्रीतं तत्पण्यं तस्मिन् दिगन्तरे विक्रीणानस्य यो लाभः तेन सहितं देयमिति दिग्लाभशब्दार्थः कात्यायनस्तु—

क्रीत्वा प्राप्तं न गृह्णीयाद्यो न दद्याददूषितं ।
स मूल्याद्दशमं भागं दत्वा स्वद्रव्यमाप्नुयात् ॥
अप्राप्तेऽर्थे क्रियाकाले कृते नैव प्रदापयेत् ।
एवं धर्मो दशाहं तु परतोऽनुशयो न तु ॥

दूषितं–जलादिनेति शेषः। अर्थक्रियाकालो–दोह्यवाह्यादिपण्यस्य दोहनवाहनादिकालः तस्मिन् प्राप्ते सति अदाने वा अग्रहणे वा प्रकृतेनैव दशमं मूल्यभागं प्रदापयेत्। किंतु तमदत्त्वैव स्वद्रव्यमामुशात्। एवमुक्तधर्मो दशाहात्प्रागर्थक्रियाकालादूर्ध्वं वेदितव्यः। दशाहात्परतस्तु अनुशयो न कर्तव्यः। अनुशयकालस्यातीतत्वात्।

क्रीत्वाऽप्यनुशयात्पण्यं त्यजेद्दोह्यादि यो नरः।
अदुष्टमेव काले तु स मूल्याद्दशमं वहेत्॥
निर्दोषं दर्शयित्वा तु यस्स दोषं प्रयच्छति।
मूल्यं तद्द्विगुणं दाप्यो विनयं तावदेव च॥
उपहन्येत वा पण्यं दह्येतापह्रियेत वा।
विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयासंप्रयच्छतः॥

अत एवाह याज्ञवल्क्यः—

रजदैवोपघातेन पण्ये दोषमुपागते।
हानिश्च क्रेतुरेवासौ याचितस्याप्रयच्छतः॥

याचितस्येति वदन् अयाचितस्य विक्रेतुरप्रयच्छतो न हानिरिति दर्शयति। अतश्च 'स्थावरश्च क्षयं दाप्यः' इत्यादि वचनं याचितविषयमिति मन्तव्यम्। नारदस्तु विशेषमाह—

दीयमानं न गृह्णाति क्रीतं पण्यं च यः क्रयी।
स एवास्य भवेद्दोषो विक्रेतुर्योऽप्रयच्छतः॥

अप्रयच्छतो विक्रेतुर्यो दोषः अस्य क्रेतुः स एवेत्यर्थः। अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

दीयमानं न गृह्णाति क्रीतं मण्यं च यः क्रयी।

विक्रीतं च तदन्यत्र विक्रेता नापराध्नुयात् ॥

अबुद्धिपूर्वकस्थलेऽपि परावर्तनीयो व्यवहार इत्याह स एव—

मत्तोन्मत्तेन विक्रीतं हीनमूल्यं भयेन वा ।
अस्वतन्त्रेण मुग्धेन त्याज्यं तस्य पुनर्भवेत् ॥

तत्र नारदः—

दत्तमूल्यस्य पण्यस्य विधिरेष प्रकीर्तितः ।
अदत्तेऽन्यत्र समयान्न विक्रेतुरपि क्रमः ॥
अदत्तमूल्ये पण्ये च वाङ्मात्रेण क्रये कृते ।

न परावर्तितव्यमित्येवमादिसमयाभावे सति प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा न कश्चिद्दोष इति । अत्र याज्ञवल्क्यः—

सत्यङ्कारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रति दापयेत् ।

क्रयं सत्यं कर्तुं यद्विक्रेतृहस्ते कृतं तत्सत्यङ्कारकृतं । क्रेतृदोषवशेन क्रयासिद्धौ त्वाह (स एव) व्यासः—

सत्यङ्कारं च यो दत्वा यथाकालं न दृश्यते ।
पण्यभावेन दृष्टं तु दीयमानमगृह्णतः ॥
लाभार्थो वणिजां सर्वः पण्ये (षु) तु क्रयविक्रयः ।
स च लाभोऽर्घमासाद्य महान्भवति वा न वा ॥

लाभपरिमाणमाह याज्ञवल्क्यः—

स्वदेशपण्ये तु वणिक्शतं गृह्णीत पञ्चकम् ।
परदेशे तु दशकं यस्सद्यः पण्यविक्रयी ॥

तेनायमर्थस्सम्पन्नः---अन्येनापि क्रयमर्थसम्पन्नः अन्येनापि क्रयसंभाषणे कृतेऽप्यदत्तमूल्ये ततो लाभे सत्यन्येनातिक्रयः कर्तव्यः अत एव व्यासः—

तस्माद्देशे च काले च वणिगर्धं प्रकल्पयेत् ।
न जैह्मेन प्रवर्तेत श्रेयानेवं वणिक्पथः ॥

इति श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराज विरचिते स्मृतिसंग्रहे सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे विक्रीयासंप्रदानाख्यस्य पदस्य विलासः

## अथ क्रीत्वाऽनुशयाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते.

---

क्रीत्वा मूल्येन यत्पण्यं क्रेता न बहुमन्यते ।
क्रीत्वाऽनुशय इत्येतद्विवादपदमुच्यते ॥

पूर्वस्मिन् प्रकरणे विक्रीतस्य परावृत्तिः अत्र तु क्रीतस्येति सङ्गतिः। न चास्य पूर्वत्रान्तर्भावः; क्रीतविक्रीतगतत्वेन भिन्नविषयत्वात्परावृत्तेः । ननु क्रयविक्रययोर्वीवधकलशतुल्यतया परस्परापेक्षत्वाद्द्वैवधिकं पण्यं युक्तमिति चेत्; सत्यं । 'दशाहोऽनुशयः क्रय' इत्यत्र क्रयशब्दः परिवृत्तिविनिमययोरुपलक्षकः । तत्राप्यनुशयस्य तुल्यत्वात् । यथाऽऽह भारद्वाजः—

सन्धिश्च परिवृत्तिश्च विभागश्च समा यदि ।
आदशाहं निवर्तेत विषमे नववत्सरात् ॥

इति । परिवृत्तिशब्दो विनिमयस्याप्युपलक्षकः । 'सजातीययोर्द्रव्ययोर्विनिमयः। विजातीययोस्तु परिवृत्तिरिति' विष्णुस्मरणात्।

न च परिवृत्तेः क्रय एवान्तर्भाव इति वाच्यं; क्रये तु मूल्यं त्रिवर्षफलं; परिवृत्तौ तु स्वतस्तुल्यमेव। यद्यपि रिक्थक्रयादिगौतमसूत्रे परिवृत्तिविनिमययोः परिगणनाभावात् स्वत्वहेतुता नास्तीति प्रतिभाति, तथाऽपि तिलक्रयस्य निषिद्धत्वात् प्रतिग्रहस्यातिदुष्टत्वात् तिलान् दत्वा व्रीह्यादिग्रहणस्थले विनिमयपरिवृत्त्योरिव स्वत्वापादकत्वमिति लोकप्रसिद्धिः॥ यत्तु 'आधिः प्रणश्येद्द्विगुण' इत्यादौ तिलविनिमयवद्धनद्वैगुण्यं स्वत्वापादकं न भवति । अपि तु क्रयान्तपर्यवसानात्स्वत्वापादकमित्युक्तं ।

तत्तु विनिमयस्य स्वत्वापादकत्वं नास्तीत्येवम्परं न भवति। किंतु तस्मिन् स्थले क्रयान्तपर्यवसानाद्वाचिकादानान्ततया वा स्वत्वापादकत्वं; अन्यत्र तु तिलविनिमयादौ विनिमयपरिवृत्त्योरपि क्रयादीनामिव स्वत्वापादकत्वं लोकप्रसिद्धं नापह्नोतुं शक्यमित्याह भारुचिः। वस्तुतस्तु—विनिमयपरिवृत्त्योः पारिभाषिक्योःपरिभाषया तयोर्वाचीनकदानरूपेण स्वत्वहेतुत्वसिद्धिरस्त्येवेत्युक्तम् तत्रैव॥ पूर्वस्मिन्प्रकरणे विक्रीयासम्प्रदानता अत्र तु परिवृत्त्यनुशय इति प्रकरणभेदः। क्रीत्वाऽनुशय इति समाख्या तु परिवृत्तिविनिमययोरपि लक्षणयेत्याह भारुचिः। अत्राह नारदः—

क्रेता पण्यं परीक्षेत प्राक्स्वयं गुणदोषतः।

इति। क्रीत्वाऽनुशयो माभूदिति स्वयं क्रेत्रा प्रागेव क्रयात्पण्यं गुणाढ्यं दुष्टं वेति निर्णयार्थं परीक्षा कर्तव्येत्यर्थः। बृहस्पतिस्तु पण्यदोषगुणविदामन्येषामपि प्रदर्शयेदित्याह—

परीक्षेत स्वयं पण्यं अन्येषां च प्रदर्शयेत्।

इति। अत्र व्यासस्तु विशेषमाह—

चर्मकाष्ठेष्टकासूत्रधान्यस्य पनसस्य तु।
वसुकुप्यहिरण्यानां सद्य एव परीक्षणम्॥

वसुशब्दो हेमवचनः। कुप्यशब्दः हेमरूप्यव्यतिरिक्तत्रपुसीसादिवचनः। हिरण्यशब्दो रजतवचनः 'तस्माद्रजतं हिरण्यम्' इति श्रुतेः॥ अत्र बृहस्पतिः—

परीक्षितं बहुमतं गृहीत्वा न पुनस्त्यजेत्।

इति। तथा च नारदः—

परीक्ष्याभिमतं क्रीतं विक्रेतुर्न पुनर्भवेत्।

परीक्षायां कालनियममाह कात्यायनः—

त्र्यहं दोह्यं परीक्षेत पञ्चाहाद्वाह्यमेव तु ।
मुक्तावज्रप्रवाळानां सप्ताहं स्यात्परीक्षणम् ॥
द्विपदामर्धमासं तु पुंसां तद्द्विगुणं स्त्रियाः ।
दशाहं सर्वबीजानां एकाहं लोहवाससाम् ॥
अतो वाक्पण्यदोषस्तु यदि संज्ञायते क्वचित् ।
विक्रेतुःप्रतिदेयं तत्क्रेता मूल्यमवाप्नुयात् ॥

अत्र नारदः—

अविज्ञातं तु यत् क्रीतं दुष्टं पश्चाद्विभावितम् ।
क्रीतं तत्स्वामिने देयं पण्यं कालेऽन्यथा त्विति ॥

पश्वादिपण्यद्रव्याणामिति ऊर्ध्वमुपचयो वा वृद्धिर्वा भविष्यतीति देशकालवशात् ज्ञात्वा क्रयादौ (प्रवर्तितव्य) प्रवृत्तमित्याह हारीतः—

क्षयं वृद्धिं च जानीयात्पण्यानामागतिं तथा ।

इति । अपशकुनतोऽपि विक्रेता स्वक्रीतं दुष्क्रीतं मन्यते तदा क्रयः परावर्तते । यदा बहुदोषत्वं ज्ञात्वा हिरण्यस्वल्पमूल्येन क्रीणाति न तत्र दुष्क्रीतं मन्यत इति न तत्र परावर्तते क्रयः । यदा क्रीत्वाऽप्यन्यत्र ततोऽप्यधिकलाभे अपशकुनादिव्याजमुत्पादयति तदा व्यावहारो न परावर्त्यः । अपि तु दण्ड्यः । यथाऽऽह विष्णुः—

लाभाद्व्याजान्तरमुत्पादयति स दण्ड्यः ।

इति । अत एव कात्यायनः—

परिभुक्तं तु यद्वासः क्लिष्टरूपं मलीमसम् ।

सदोषमपि तत्क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत्पुनः ॥

अत एव स्वयं परीक्षकः परीक्ष्यैव गृह्णाति। पश्चाद्विसंवादेऽपि न परावर्त्यो व्यवहारः। स्वस्यैव परीक्षकत्वेन स्वापराधात्। तत्राविक्रेयान्याह मनुः—

नान्यदन्येन संसृष्टं विरूपं विक्रयमर्हति।
न सावद्यं न च न्यूनं न दूरे न तिरोहितम् ॥

अत्र। कात्यायनः—

साधारणं तु यत्क्रीतं नैको दद्यान्नराधमः।
नादद्यान्न च गृह्णीयाद्विक्रीयाच्च न चैत्र हि ॥
क्रीत्वा मूल्येन यत्पण्यं दुष्क्रीतं मन्यते क्रयी।
विक्रेतुः प्रतिदेयं तत् तस्मिन्नेवाह्न्यवीक्षितम् ॥
द्वितीयेऽह्नि ददत् क्रेता मूल्यात्त्र्यंशांशमाहरेत्।
द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परतः क्रेतुरेव तत् ॥

एतद्द्रव्यानुशयोत्तरकालं द्रष्टव्यं। अपरार्कस्तु—अयमेवैषामनुशयकाल इत्याह। वस्त्राणामुपभोगवशान्मूल्यत्वं(?) चाह विष्णुः—

सकृद्धौतस्य नाशे मूल्यादष्टमभागो हीयेत। द्विर्धौतस्य नाशे पादहानिः। त्रिर्धौतस्य नाशे तृतीयांशहानिः। चतुर्धौतस्य नाशे अर्धमूल्यं हीयते। पञ्चमे अर्धादष्टमभागहानिः। षष्ठे त्विच्छातो न शास्त्रत इति। अत्र विशेषमाह विष्णुः—

अनसां दोह्यानां बलीवर्दादिवाह्यानां सीमोल्लङ्घनेन परावृत्तिरिति। अयमर्थः—समीपग्रामस्थानां दूरग्रामस्थानामपि ग्रामान्तरे क्रीतानां शकटगोमाहिषादीनां तज्ग्रामसीमोल्लङ्घने

व्यवहारस्यापरावृत्तिः । सीमोल्लङ्घनात्प्रागेव शकटादिपरीक्षणं ततः परं नास्तीति । अत्र कात्यायनः—

द्रव्यस्वं पञ्चधा कृत्वा त्रिभागो मूल्यमुच्यते ।
लाभश्चतुर्थो भागस्स्यात् पञ्चमस्सत्यमुच्यते ॥

एतत्कुङ्कुमवाणिज्याविषयम् । 'चतुर्थो भागो लाभः । पञ्चमो भागस्सत्यः कुङ्कुमादाविति' विष्णुस्मरणात् । मूल्यनिर्णये प्रजापतिः—

संविभागे विनिमये क्षेत्रयोरुभयोरपि ।
अनुस्मृतिकृता ताभ्यां कार्यसिद्धिर्भविष्यति ॥
मणिगान्धर्ववीणानां नारीणां मूल्यकल्पना ।
नृपाज्ञयाऽऽपणस्थानां गोभूम्योरुभयेच्छया ।

गान्धर्वा—हयाः । गोशब्दो महिष्यादीनामुपलक्षकः । राजाज्ञयेति नियमव्यावर्त्यमाह—

न सामन्तैर्न तज्ग्रामैस्तस्य मूल्यं नियम्यते ।

किं तु राज्ञैवैति शेषः । न तज्ग्रामणैरिति—तेषां ते पण्यादीनां । ग्रामो ग्रामस्थपुरुषाः । विवादस्वरूपमाह वृद्धयाज्ञवल्क्यः—

इदमस्येति यत्क्रेता विक्रेत्रा सह संवदेत् ।

एतदेव विक्रीतस्य क्षेत्रस्य मूल्यमिति । अत्र विशेषमाह बृहस्पतिः—

यः कश्चिद्वञ्चकस्तेषां विज्ञातः क्रयविक्रये ।
शपथैस्स विशोध्यस्स्यात्सर्ववादेष्वयं विधिः ॥

इति । यथा क्रयस्य स्वत्वापादकत्वं लोकप्रसिद्धं तद्वद्विनिमयपरिवृत्त्योरप्यस्तीत्याह विष्णुः—'परिवृत्तिविनिमयौ क्रयवदिति' क्रयेण तुल्यं वर्तते क्रयवत् । यथा क्रयस्स्वत्वापादकः

तथा परिवृत्तिविनिमयाविति वतेरर्थः । अयमर्थः--स्वामी रिक्थक्रयसंविभागेत्यादि गौतमसूत्रं नियमार्थमिति विनिमय-परिवृत्त्योः क्रयान्ततया वाचनिकदानान्ततया वा स्वत्वापादकत्वमिति विष्णुस्मृतेस्तात्पर्यं वर्णयन्ति भारुच्यसहायप्रभृतयः। विज्ञानयोगिवरदराजप्रभृतयस्तु 'सप्त वित्तागमा धर्म्या' इति सप्तसंख्याया अयोगव्यवच्छेदपरत्वाद्विनिमयपरिवृत्त्योरपि पृथक् स्वत्वापादकत्वमिति विष्णुस्मृतेरर्थ इत्याहुः । गौतमसूत्रं तु पुरस्ताद्व्याख्यास्यते। परिवृत्तिविनिमययोस्स्वरूपमाह स एव--

विजातीययोर्द्रव्ययोरेकं गृहीत्वा एकस्य प्रदानं परिवृत्तिः । सजातीययोर्द्रव्ययोर्विनिमय इति ।

ननु तिलान् दत्वा तिलग्रहणमेव विनिमयः ; स च न संगच्छते । प्रयोजनाभावादिति चेन्नैवं, तिलान् दत्वा कालव्यवधानेन तिलग्रहणं विनिमय इति । यद्वा-तिलानां बीजत्वाहार्णां बीजत्वेन सम्पादनार्थं तैलजननसमर्थैस्तिलैस्सह विनिमय इति न काचित् क्षतिः । यद्यपि सुवर्णादिकं मूल्यं दत्वा क्षेत्रगृहादि पण्यं गृह्यते । तथाऽपि सा न परिवृत्तिः । मूल्यात्सकाशात्फलाधिक्यात्। 'त्रिवर्षमूलफलकं क्रेयमिति' विष्णुस्मरणात्। यावता मूल्येन क्रेयं क्षेत्रं तन्मूल्यं वर्षत्रयादर्वागेव याति चेत्क्रेयमिति परिवर्तनाद्विजातीयाधिक्ये मूल्याधिक्ये मूल्यसमय(?) एव भवति । विनिमयस्तु तथैवेति तेषां परस्परभेदः। अत्र विशेषमाह भारद्वाजः--

सान्धश्च परिवृत्तिश्च विभागश्च समा (यदि) अपि ।
आदशाहान्निवर्तन्ते विषमे नववत्सरात् ॥

सुमन्तुरपि—

सन्धिश्च परिवृत्तिश्च विभागश्च समा यदि ।
आदशाहान्निवर्त्यास्स्युर्वैषम्ये नववत्सरात् ॥

इति । साम्यपक्षे सामान्यतः प्राप्तदशाहान्निवृत्तिः । वैषम्ये सति नववर्षादूर्ध्वं निवृत्तिर्नास्तीत्येवमर्थमुक्ता । न च क्रयस्यैव दशाहानुशयो न परिवृत्त्यादेरिति वाच्यं । 'दशाहोऽनुशयः क्रय' इति क्रयशब्दस्य तुल्यानामर्थक्रियाणामुपलक्षकत्वात् । यत्तु वृद्धकात्यायनेनोक्तं—

सन्धिश्च परिवृत्तिश्च विषमा वा त्रिभोगतः ।
आज्ञयाऽपि क्रयश्चापि दशाब्दं विनिवर्तयेत् ॥

त्रिभोगतः—त्रिपुरुषतः । स च वर्षमध्ये यद्यासीत्तदसन्तवैषम्यविषयम् । आज्ञाक्रयसमानयोगक्षेमत्वोक्तेः कचित्परिवृत्तिरपि परिवर्तनीयेत्याह विष्णुः । 'अब्दान्मण्यादिविनिमयः परावर्तते । तथैवार्धाधिकेन मिश्रिता परिवर्तना' अर्धाधिकद्रव्येणेति शेषः । रत्नहीरादिमिश्रितद्रव्यं दत्वा यत्किञ्चिद्धान्यादिकं हयादिकं वा गृह्णाति सा परिवर्तना । तथा च सुमन्तुः—

क्रय एवं भवेन्न्यूने विपरीतौ समावुभौ ।

अयमर्थः—'अर्धान्न्यूने समे वा क्रयः परावर्तते । अर्धाधिके क्रयासिद्धिरिति' स्मृतेः परिवृत्तिविनिमयौ तु विपरीतौ—विषमौ परावर्तेते । न समौ, साम्ये परावृत्त्ययोगात् । आदशाहान्निवर्तन्त इति सर्वसमानत्वेनौत्सर्गिकत्वात् । दशाहस्यानुशयकालत्वात् । तद्वद्धीनक्रयः परिवृत्तिश्च परावर्त्येते ॥

यथाह विष्णुः—

हीनक्रयपरिवृत्त्योर्व्यावर्तनमिति । हीनक्रयो नामाल्पद्रव्येणाधिकक्षेत्रादेः क्रयः । परिवृत्तिरप्यल्पद्रव्यस्याधिकद्रव्येण परिवृत्तिः । एतच्चाज्ञापरिवृत्तिविनिमयविषयं वेदितव्यं । रुचिक्रये तु स्वरुच्या स्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापत्तिश्च सङ्कल्पमात्रादित्युक्तम् प्राक् । अतश्च किंचिदपि द्रव्यं मूल्ये प्रविष्टं चेत्क्रेयं स्थावरं जङ्गमं च क्रेतुरेव न तु विक्रेतुः ; किं त्ववशिष्टं द्रव्यं दातव्यं ग्रहीतव्यं च। यथोक्तं विष्णुना—'स्वल्पमपि द्रव्यं क्रेयं व्याप्नोतीति'। क्रेयं—स्थावरजङ्गमात्मकं । तथा च स एव—'स्थावरजङ्गमात्मकद्रव्यं क्रेयमुच्यते' इति । अत एवाह सुमन्तुः—

माषमात्रमपि द्रव्यं क्रेतुर्विक्रेतरि स्थितम् ।
व्याप्नोति सकलां भूमिं कायमल्पं विषं यथा ॥

न चैतद्वचनं प्रतिबन्धकविषयं । तत्प्रकरणे अपाठात् । भूमिविषयत्वात् प्रतिबन्धक क्रयविषययो न भवतीति भारुच्यादिभिर्व्याख्यातत्वात् । वरदराजोऽप्येवमेवाह तेन स्वल्पद्रव्यप्रदानेऽपि क्रयसिद्धिरस्त्येवेति वदन्। नन्वर्थदत्तस्य चा दत्तस्य चावक्रयत्वात्कथं स्वल्पद्रव्यप्रदाने क्रयसिद्धिः, उच्यते । अवक्रयोऽपि सिध्यत्येव ; यदि सङ्कल्पितकाले मूल्यं दीयते ; अन्यथा न सिध्यतीत्यभिसन्धायाह स एव—

अर्थदत्तमदत्तं तु क्रयमाहुरवक्रयम् ।
अवक्रयो निवर्तेत यदि काले न दीयते ॥

इति । प्रतिबन्धक्रये विशेषमाह भारद्वाजः—

प्रतिबन्धं क्रये कृत्वा विक्रेत्रनुशयो यदि ।

क्रेत्रे स दाप्यस्तद्रव्यं द्विगुणं दममर्हति ॥

यदा क्रेतुरेव प्रतिबन्धं कृत्वाऽनुशयस्तदाह विष्णुः—'अनुशयते क्रेता प्रतिबन्धो विक्रेतुरेवेति'। अयं प्रतिबन्धक्रयः स्थावरे नास्ति। यदाह स एव—'प्रतिबन्धक्रयो नास्ति स्थावरे' इति। तत्तु पूगाद्यारामस्थावरविषयमित्येके। अपरे तु फलितव्रीह्यादिक्षेत्रविषयमिति। अन्ये तु साधारणक्षेत्रविषयमित्याहुः। सर्वत्र स्थावरक्रये ज्ञातिसामन्ताद्यनुमत्या भाव्यं। तथा च प्रजापतिः—

ज्ञातिसामन्तधनिकाननुज्ञाप्य समीपगान्।
क्रयविक्रयणे कुर्याच्छ्रावयित्वा तु साक्षिणः ॥

कात्यायनः—

ज्ञात्यादीननुज्ञाप्य समीपस्थान (तन्द्रि) निन्दितान्।
क्रयविक्रयधर्मोऽपि भूमेर्नास्तीति निर्णयः ॥

सुमन्तुस्तु विशेषमाह—

ज्ञात्यादीननुज्ञाप्य समीपस्थान (निन्दि) तन्द्रिनान्।
क्रयविक्रयकर्तारौ तत्समं दण्डमर्हतः ॥

समीपस्थानित्येकग्रामवासिनां ग्रहणम्। बृहस्पतिः—

प्रष्टव्याः सन्निधिस्थाश्चेत् क्रेत्रा ज्ञात्यादयस्स्मृताः।
अन्यथा चेत्कृतं कर्म ज्ञातीच्छां दर्शयेत्ततः ॥

'तत्कर्म ज्ञातीनेवानुसरतीत्यर्थः' इति भारुचिः। तत्र कालनियममाह स एव—

त्रिपक्षादथवा मासत्रितयात्तदवाप्नुयात्।

इति। ज्ञातिरिति शेषः। तत्र विशेषमाह (विष्णुः) कात्यायनः—

स्वग्रामे दशरात्रं स्यादन्यग्रामे त्रिपक्षकम्।

राष्ट्रान्तरेषु षण्मासं भाषाभेदे तु वत्सरम् ॥

यथाऽऽह बृहस्पतिः—

ज्ञात्यादिप्रत्ययेनैव स्थावरक्रय इष्यते ।
अन्यथा चेत्क्रयो यस्स्यादन्यग्रामे त्रिपक्षकम् ॥

अत्र व्यासः—

भूमेर्दशहोऽनुशयः क्रेतुर्विक्रेतुरेव च ।
तात्कालिकास्तु सामन्तास्तत्काला धनिकास्तथा ॥
तात्कालिकाः सपिण्डाश्च वेदनीयाः क्रये मताः ।

तत्र सामन्तान्प्रत्याह सुमन्तुः—

अथोदीच्यः पश्चिमोऽपि सर्वाभावे(तु)ऽपि दक्षिणः ।
चतुस्सामन्तसान्निध्ये प्राचीदिग्बलवत्तरा ॥
उदीची च प्रतीची च सर्वाभावे तु दक्षिणा ।

बृहस्पतिः—

सोदराश्च सपिण्डाश्च सोदकाश्च सगोत्रिणः ।
सामन्ता धनिका ग्राह्याः सप्तैते योनयो मताः ॥

योनयः—कारणानि । अत्र एतेषां ज्ञातिसामन्तधनिकानां आज्ञाक्रये उक्तलाभक्रये च प्रवेशो नास्ति । यथाऽऽह विष्णुः—

'उक्तलाभे आज्ञायां न निरोधः'

इति । ज्ञात्यादिकृत इति शेषः । आज्ञाक्रयोक्तलाभक्रययोः स्वरूपं सुमन्तुना दर्शितम्—

मूल्यस्य पादमर्धं वा मूल (मूल्य) माज्ञाक्रये(स्मृ)स्थितम् ।
मूल्यं तदाप्तमखिलं दत्वा क्षेत्रं समाप्नुयात् ॥
आत्रिभोगात्ततः क्रेतुः परतो दृढतामियात् ।

अत्रापि विशेषमाह कात्यायनः—

पलायिते तु करदे करप्रतिभुवा सह ।
करार्थं करदक्षेत्रं विक्रीणीयुः सभासदः ॥

भारद्वाजस्तु विशेषमाह—

आज्ञाधिस्तत्क्रयश्चैव करे दण्डो विधीयते ।
उभावन्यत्र न स्यातामिति धर्मविदो विदुः ॥

इति । अन्यत्र न स्यातामिति—आह्वानेऽपि नागता इत्यर्थः ।
अथोक्तलाभक्रयः ॥

[1] किञ्चिच्च द्रव्यमादाय काले दास्यामि ते क्वचित् ।
नो चेन्मूलमिदं त्यक्तं केदारस्येति यः क्रयः ।
स उक्तलाभ इत्युक्तं उक्तकालेऽप्यनर्पणात् ॥

अतश्च आज्ञाक्रयोक्तलाभक्रयोः औपाधिकस्वत्वात् ज्ञात्यादीनां तत्रानवकाश इत्यनुसन्धेयम् । अनेन न्यायेन ज्ञायते क्रयान्तगोप्याधिप्रभृतिसङ्कराधिक्रयेषु सोपाधिक स्वत्वात् । ज्ञात्यादिकृतो निरोधो नास्त्येवेति मन्तव्यम् । केचित्तु सङ्करादिषु ज्ञात्यादिप्रत्ययेन भाव्यमित्याहुः ।

पूर्वाह्णे ग्राममध्ये तु ज्ञातिसामन्तसन्निधौ ।
हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनी ॥

एतद्धर्मषट्कमध्ये ज्ञातिसामन्तसान्निधिरावश्यकः । 'ज्ञात्यादिप्रत्ययेनैव स्थावरक्रय इष्यत' इत्यादिवचनानु (सारा) रोधात् । पूर्वाह्णग्राममध्ययोस्तु न नियमः । हिरण्योदकदानेनेति तु नियतो धर्मः, भूक्रयस्य निषिद्धत्वात् । अतश्चैतद्धर्मषट्कं सतिसम्भवे अङ्गीकर्तव्यमेव । असम्भवे तु भूक्रये ज्ञातिसामन्तस-

[1] किञ्चिद्द्रव्यं सहाय.

न्निधानात्मकधर्मत्रयमवश्यमङ्गीकर्तव्यमिति भारुचेरभिप्रायः । आधुनिकानां वरदराजप्रभृतीनामपि सम्मतमेतम् । विज्ञानयोगिनस्तु न संमतं । यथाऽऽह विज्ञानयोगी—

'पूर्वाह्ण इत्यनेन दानकाल उक्तः । ज्ञातीत्येतत् विभक्ताविभक्तत्वनिश्चयार्थमुक्तं पदं । सामन्तपदं तु गृहक्षेत्रादीनां परस्परं सङ्कीर्णत्वफलाभिप्रायं । हिरण्योदकदानेनेत्यादि भूक्रयस्य निषिद्धत्वादिति सर्वमेतद्धर्मषट्कं न नियतं स्वत्वस्य लौकिकत्वादिति' तन्न सहन्ते भारुच्यादयः । स्वत्वस्य लौकिकत्वेऽपि भूक्रयस्य निषिद्धत्वात् तद्दानाङ्गतया धर्मपञ्चकस्य नियतत्वमिति । एतदेव (सष्टीकृतं मतं) सम्यञ्चतम् । अथ क्षेत्रविषये अनुचितमूल्यमाह कात्यायनः—

समवेतैस्तु सामान्तैरभिज्ञैः पापभीरुभिः ।
क्षेत्रारामगृहादीनां द्विपदां च चतुष्पदाम् ॥
कल्पितं मूल्यमित्याहुः भागं कृत्वा तदष्टधा ।
एकभागातिरिक्तं वा हीनं वाऽनुचितं स्मृतम् ॥

तद्धीनमूल्यमनुचितमूल्यं वेत्यभिधीयत इत्यर्थः । हीनमूल्यं सर्वथा [1]प्रत्यावर्तनीयमाह स एव—

समाश्शतमतीतेऽपि सर्वं तद्विनिवर्तते ।
क्रयविक्रयणे क्रय्यं यन्मूल्यं धर्मतोऽर्हति ॥
तत्तुर्ये पञ्चमे षष्ठे सप्तमेंऽशेऽष्टमेऽपि वा ।
हीनो (ने) यदि विनिर्वृत्ते क्रयविक्रायणे सति ॥
हीनमूल्यं तु तत्सर्वं कृतमप्यकृतं भवेत् ।

---

[1] प्रत्यावर्तत इत्याह.

उक्तादल्पतरे हीने क्रये नैव प्रदुष्यति ॥
तेनाप्यंशेन हीयेत मूल्यतः क्रयविक्रये ।
कृतमप्यकृतं प्राहुरन्ये धर्मविदो जनाः ॥

बृहस्पतिः—

[1]मूल्यं दत्वाऽधिकं न्यूनं मूल्यस्यानुचितं स्मृतम् ।
क्रयसिद्धे (द्धि) स्तु नैव स्याद्वत्सराणां शतैरपि ॥

अत्र ज्ञात्रादिप्रवेशोऽस्त्येव । रुचिक्रयत्वात् । अत्र बृहस्पतिर्विशेषमाह—

विक्रयेषु च सर्वेषु कूपवृक्षादि लेखयेत् ।
जलमार्गादि यत्किंचिदन्यैश्चैव बृहस्पतिः ॥

क्षेत्राद्युपेतं परिपक्वसस्यं
वृक्षं फलं वाऽप्युपभोगयोग्यम् ।
कूपं तटाकं गृहमुन्नतं च
(क्रीते) क्रेत्रे च विक्रेतुरिदं वदन्ति ॥

एषु क्रयपत्रेषु आलिखितेषु विक्रेतुर्भवन्तीत्यर्थः । अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

अर्धाधिके क्रयस्सिद्धश्चेदुक्तलाभो दशा(ब्दि)धिकः ।
अ(व)प क्रयस्त्रिभा(भो)गेन सद्य एव रुचिक्रयः ॥

अत्र विनिमयपरिवृत्त्योः क्रयधर्मानतिदिशति हारीतः—

मत्तमूढानभिज्ञातभीतैर्विनिमयः कृतः ।
यच्चानुचितमूल्यं स्यात् तत्सर्वं विनिवर्तते ॥

---

[1] मूल्यात्पादाधिकं.

स्वल्पमूल्यात्क्रयसिद्धौ विशेषमाह कात्यायनः—

मूल्यात्स्वल्पप्रदानेऽपि क्रयसिद्धिः कृता भवेत् ।
चक्रवृद्ध्या प्रदातव्यं देयं तत्समयादृते ॥

एतावता कालेन दास्यामीति समयादृते याच्यमानमदत्तं चक्रवृद्ध्या वर्धते । समयकरणे तस्मिन् काले पूर्वदत्तशेषं देयं । तस्मिन्नपि काले याच्यमानं न दत्तं चेच्चक्रवृद्ध्या वर्धत एवेति ध्येयम् ॥

इति श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराज विरचिते स्मृतिसंग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे क्रीत्वानुश-
याख्यस्य पदस्य विलासः

## अथ समयानपाकर्माख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते

तत्र नारदः—

पाषण्डनैगमादीनां स्थितिस्समय उच्यते ।
समयस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम् ॥

तथाच विष्णुः—

बहुभिस्साधुभिर्महाजनरक्षणार्थं कृता संवित् समयः । अस्यान्यथा करणं समयानपाकर्मेति । तथा च शङ्खलिखितौ—

यां विनोपद्रवो दुष्परिहरो धर्मकार्यं च दुस्साधं सा पारिभाषिकी धर्मक्रिया । तदनपाकरणं समयानपाकरणमिति । पूर्वस्मिन् प्रकरणे क्रीतानुशये परिवृत्त्यनुशये च क्रीतविषयः परिवृत्तिविषयश्चेति क्रम उक्तः । अत्र तु समयस्यातिक्रम उच्यत इति सङ्गतिः । अत्र समयानपाकरण शब्दे दर्शवल्लक्षणेत्युपोद्घातप्रकरणे निरूपितं । अत्र तु तदुपयोगितया किञ्चिदाह याज्ञवल्क्यः—

राजा कृत्वा पुरे स्थानं ब्राह्मणान्न्यस्य तत्र तु ।
त्रैविद्यं वृत्तिमद्ब्रूयात्स्वधर्मः परिपाल्यताम् ॥

इति । तदयमर्थः—राजा—नृपतिः स्वपुरे—दुर्गादौ तद्देशेऽवस्थानं गृहारामक्षेत्रादिकं च दत्वा सर्वमान्यग्रामान् दत्वेत्यर्थः । अत्र ब्राह्मणान् स्थापयित्वा तत् ब्राह्मणव्रातं वेदत्रयसम्पन्नं वृत्तिमत्सर्वसम्पत्समृद्धं कृत्वा स्वधर्मः—वर्णाश्रमविहितः श्रुतिस्मृतिविहितो भवद्भिरनुष्ठीयतामिति तान् ब्रूयात् । एवमेवं नियुक्तैः यः कृतः समयः सोऽनुल्लङ्घनीयो राज्ञेत्याह ।

स एव—

निजधर्माविरोधेन यस्तु सामायिको भवेत् ।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥

त(अ)त्राह मनुः—

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥
निगृह्य दापयेदेनं समयव्यभिचारिणम् ।
चतुस्सुवर्णं षण्णिष्कं शतमानं च राजतम् ॥

एतदनुबन्धाल्पत्वे वेदितव्यम् । अनुबन्धाद्यतिशये तु याज्ञवल्क्यः—

गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः ।
सर्वस्वहरणं कृत्वा तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ।

इति । बृहस्पतिः—

यस्तु साधारणं हिंस्यात् क्षिपेत्त्रैविद्यमेव वा ।
साक्षि(सन्धि)क्रियां विहन्याच्च [1] क्षिप्रं निर्वास्यते पुरात्॥
अरुन्तुदस्सूचकश्च भेदकृत्साहसी तथा ।
श्रेणीपूगनृपद्विट्चेत् क्षिप्रं निर्वास्यते ततः ।
कुलश्रेणीगणाध्यक्षाः पुरदुर्गनिवासिनः ॥
वाग्धिग्दमं परित्यागं प्रकुर्युः पापकारिणाम् ।
तैः कृतौ यौ स्वधर्मेण निग्रहानुग्रहौ नृणाम् ॥
तद्राज्ञाऽप्यनुमन्तव्यं निसृष्टार्था हि ते स्मृताः ।

वाग्धिग्दममिति द्वन्द्वः । मुख्यानां विवादे विशेषमाह ।

---

[1] सनिर्वास्यस्तत.पुरात्. II द्विट्च.

सुमन्तुः—

मुख्यैस्सह समूहानां संविवादो यदा भवेत् ।
तदा विचारयेद्राजा स्वमार्गे स्थापयेच्च तान् ॥

अयमर्थः—यदा नैगमादीनां आन्दोलिकारोहणं चामरादिवीजनादिकं सम्भावितं कर्मास्तीति समयस्तत्कर्मकारिभिरनुष्ठीयेत तदा राज्ञैव विवादः परिसमाप्यः । तथैव पाषण्डादीनां वैष्णवानामेवोत्सवादौ कुङ्कुमवसन्तोऽस्ति शैवानां नेति विवादः । एतादृशो विवादो राज्ञैव परिसमाप्यः । अत एवाह याज्ञवल्क्यः—

श्रेणीनैगमपाषण्डि ग (णि) नानामप्ययं विधिः ।
भेदं चैषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत् ॥

तेषां स्वरूपमुपोद्धातप्रकरण एवोक्तम् । अत्र कात्यायनः—

एकपात्रेऽथ पङ्क्त्यां वा न भोक्ता येन यो भवेत् ।
अकुर्वन्स (न्न) तथा दण्ड्यः तस्य दोषमदर्शयन् ॥

गणद्रव्यापहारे विशेषमाह बृहस्पतिः—

संभूयैकतमं कृत्वा गणद्रव्यं हरन्ति ये ।
एतदष्टादशगुणं वणिजश्च पलायिनः ॥

दाप्या इति शेषः । राज्ञा दापिते विशेषमाह—

ततो लभेत यत्किञ्चित्सर्वेषामेव तत्समम् ।
षाण्मासं मासिकं वाऽपि विभक्तव्यं यथांऽशतः ॥
देयं वा निस्स्ववृद्धार्तस्त्रीबालातुररोगिषु ।
सान्तानिकादिषु तथा धर्म एष सनातनः ॥

इति । तत्र कात्यायनः—

यत्तैः प्राप्तं रक्षितं वा गणार्थे वा ऋणं कृतम् ।

राजप्रसादलब्धं च सर्वेषामेव तत्समम् ॥

महीपतिग्रहणं अमात्यादीनामुपलक्षणार्थम् । समूहाकारेण नगरादिकं प्रविश्य तदाकारविच्छेदे सति प्रातिस्विकलब्धमप्यविभक्तार्जितधनवत्साधारणमित्यर्थः । अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

गणमुद्दिश्य यत्किञ्चित्कृत्वर्णं (च यदा) भक्षितं भवेत् ।
आत्मार्थं विनियुक्तं वा देयं तैरेव तद्भवेत् ॥

अन्यथा गणेनैव देयमित्यर्थः । श्रेण्यादीनधिकृत्याह याज्ञवल्क्यः—

समूहकार्य आयातान् कृतकार्यान् विसर्जयेत् ।
सदानमानसत्कारैः पूजयित्वा महीपतिः ॥

इति श्री प्रतापरुद्रदेवमहाराज विरचिते स्मृतिसङ्ग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे समयानपाकर्माख्यस्य पदस्य विलासः ॥

## अथ क्षेत्रजविवादाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते.

पूर्वस्मिन्प्रकरणे नैगमादिविषयतया संविद्व्यतिक्रमः। अत्र तु सीमाविषयस्संविद्व्यतिक्रम इति यद्यप्यैकाधिकरण्यमेव युक्तं; तथाऽपि स्त्रीपुंसाख्यविवादपदोपयोगितया गृहक्षेत्रादिनिर्णयोपयोगितया च पृथगधिकरणता। अत्र नारदः—

प्रकाशैरप्रकाशैश्च लिङ्गैस्सीमां नयेन्नृपः।
अर्थिप्रत्यर्थिनोर्यत्र साक्ष्यादिप्रत्ययैर्नयेत्॥

प्रकाशैर्न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकादिवृक्षलतातृणगुल्मसेतुवल्मीककुल्यादिभिर्लिङ्गैः अप्रकाशैः करीषास्थ्यंगारशर्करादिभिः भूमौ गूढं निक्षिप्तैर्लिङ्गैः। अत एव मनुः—

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः।

एतैः—पूर्वोक्तैः गूढागूढैर्लिङ्गैः। तथा च बृहस्पतिः—

निवे(दे)शकाले कर्तव्यस्सीमाबन्धविनिर्णयः।
प्रकाशोपांशुचिह्नैश्च लक्षितः संशयापहः॥

निवेशकालो—ग्रामादिनिर्माणकालः। सीमानियामको विनियुक्तश्च यो निश्चायकः। यद्वा चिह्नैर्विनिश्चयः कर्तव्यः। यथा उत्तरोत्तरं कालहो माभूदिति। उपांशुचिह्नानि—गुप्तलिङ्गानि। प्रकाशलिङ्गानि गुप्तलिङ्गान्यपि स्मृत्यन्तरे दर्शितानि। तथा च स्मृतिः—

वापीकूपतटाकानि चैत्यारामसुरालयाः।
स्थलनिम्ननदीस्रोतः शरगुल्मलतादयः॥

प्रकाशचिह्नान्येतानि सीमायां कारयेत्सदा ।
करीषास्थितुषाङ्गारशर्करास्थिकपालिकाः ॥
सिकतेष्टकगोवालकार्पासास्थीनि भस्म च ।
एतानि कुम्भे निक्षिप्य सीमान्तेषु निखानयेत् ॥

इति । कुम्भ इत्येकवचनमविवक्षितं; कुम्भेष्वित्यर्थः । आदिशब्देन वेणुवल्मीकवर्त्मपुरातनसेत्वादीनां ग्रहणं । कार्पासास्थि तुषाङ्गारकार्पासबीजानि । एतेषां प्रयोजनमाह मनुः—

उपचिह्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य लोके नित्यं विपर्ययम् ॥

विपर्ययज्ञानं निवर्तयेदित्यर्थः । (पात्स्यनैधनित्यादीनां)? सीमानैरास्यनिखानां स्वरूपं लक्षणं च शास्त्रादेवोक्तम् । तथाच बृहस्पतिः—

ततः पौगण्डबालानां प्रयत्नेन प्रदर्शयेत् ।
वार्धकेन शिशूनां ते दर्शयेयुस्तथैव च ॥

ते—पौगण्ड बालाः स्ववार्धके शिशूनां दर्शयेयुरित्यर्थः—

एवं परम्पराज्ञाने सीमाभ्रान्तिर्न जायते ।

इति । लिङ्गान्यवलम्ब्य निर्णयाशक्तौ मनुः—

यदि संशय एव स्यात् लिङ्गनामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमा वाद विनिश्चये ॥

अत्र साक्षिणो विशिनष्टि बृहस्पतिः—

आगमं च प्रमाणं च भोगकालं च नाम च ।
भूभागलक्षणं चैव ये विदुस्तेऽत्र साक्षिणः ॥

आगमस्स्वत्वापादकः क्रयादि । प्रमाणं—दण्डादिना एतावान्

भूभाग इति परिकल्पितं प्रमाणं। साक्ष्यभावेऽपि स एवाह—

साक्ष्यभावेऽपि चत्वारो ग्रामास्सीमान्तवासिनः।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ॥

यदि सीमान्तग्रामा दुष्टाः तदा तत्प्रान्तग्रामैः निर्णयः कार्यः। यदि तेऽपि दुष्टाः ते सर्वे त्याज्याः अन्ये ग्राह्या इत्याह स एव-

त्यक्त्वा दुष्टांस्तु सामन्तात् अन्यान्मौलयादिभिस्सह।
संमिश्र्य कारयेत्सीमामेवं धर्मविदो विदुः॥

इति। अन्यशब्दार्थमाह नारदः—

नगरग्रामगणिनो ये च वृद्धोद्यता नरः।

अत्र मौलानां स्वरूपमाह कात्यायनः—

ये तत्र पूर्वसामन्ताः पश्चाद्देशान्तरं गताः।
तन्मूलत्वात्ततो मौला ऋषिभिस्संप्रकीर्तिताः॥
निष्पाद्यमानं यैर्दृष्टं तत्कार्यस्य गुणान्वितैः।
वृद्धा वा यदि वाऽवृद्धास्ते वृद्धाः परिकीर्तिताः॥
उपश्रवणसंभोग कार्याख्यानोपचिह्निताः।
उद्धरन्ति ततो यस्मादुद्यतास्ते ततस्स्मृताः॥

इति। साक्षिप्रभृत्युद्धृतपर्यन्तानामभावे मनुः—

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीमसाक्षिणाम्।
इमान(प्यु)प्यनुपयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान्॥

इमानिति वक्ष्यमाणान्–तानेव दर्शयति—

व्याधान् शाकुनिकान् गोपान् कैवर्तान् मूलहीनकान्।
व्याळग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनगोचरान्॥

इमाननुयुंजीतेत्यन्वयः। अन्यान् काष्ठतृणादिविविधवाहादीन्।

एतेषां साक्षिणां नियमपूर्वकमेव वक्तव्यमित्याह बृहस्पतिः—

शपथैः शापिताश्चैव ब्रूयुः सीमाविनिर्णयम् ।
दर्शयेयुश्च लिङ्गानि तत्प्रमाणमिति स्थितम् ॥
सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।

इति । इत्यादिनोक्तव्यवस्थातिक्रमेणेत्यर्थः । यदा तु सीमालिङ्गसाक्षिणो लक्षणानि कथं चिदपि दर्शयितुं न शक्नुवन्ति केवलं सीमामेव वदन्ति तान्प्रत्याह मनुः—

शिरोभिस्स्वैर्गृहीताग्निस्रग्विणो रक्तवाससः ।
सुकृतैःशापितास्स्वैस्स्वैः नयेयुस्तत्स(स्तांस)मञ्जसम् ॥

यावन्तः सीमालिङ्गसाक्षिणः ते सर्वे रोहितकुकुमस्रग्विणः लोहितवसनाः कुकुलाग्निं शिरसि धारयन्तः सीमानुयायिनो विना चङ्क्रमणेन सीमान्तं प्रदर्शयन्तः तां सीमां समञ्जसं—सम्यक निर्णयेयुरित्यर्थः । सामन्तादीनां सीमोन्नयने लिङ्गप्रदर्शनाशक्तावयमेव विधिर्ज्ञातव्यः । तत्र विशेषमाह नारदः—

नैकस्समुन्नयेत्सीमां नरः प्रत्ययवानपि ।
गुरुत्वादस्य कार्यस्य क्रियैषा बहुभि(षु)स्स्थिता ॥

अत्रापवादमाह बृहस्पतिः—

ज्ञातृचिह्नैर्विना साधुरेकोऽप्युभयसम्मतः ।
रक्तमाल्याम्बरधरो मृदमादाय मूर्धनि ॥
सत्यव्रतः सोपवासः सीमान्तं दर्शयेन्नरः ।

इति । ज्ञातृचिह्नैस्साक्ष्यादि वनगोचरान्त चिह्नैः । प्रकाशोपांशुलिङ्गैर्विना अभावे मृदमादायेति । अग्निविरहितः अपक्वः मृण्मयः-कुकुलः । तस्मिन् गणाधिपं कृत्वा तत्र निक्षिप्य आवाहनादि-

षोडशोपचारैः पूजां कृत्वा पश्चाद्दर्भैरेकोत्तरसंख्याभिः स्सं-
पूज्य तद्गणेक्षयुक्तं शिरसि धृत्वा चङ्क्रममाण एव सीमां नये-
दिति । बहूना सीमोन्नयने कुकुलाग्निधारिणं चङ्क्रमणं विना
मन्दगमनमेकस्य तु तदभाव इति । अत्र प्रत्यर्थिना शिरस्स्थानी-
य्यतया अनुयातव्यं । अत्र कुद्दालादीनाकट्वादिकं कार्यं ।
अत्र मनुवचने चङ्क्रमाणानन्तरमेव शुद्धिरिति प्रतिभाति ।
तन्न, तथाऽऽह कात्यायनः—

सीमा चङ्क्रमणे कोशे पादस्पर्शे तथैव च ।
त्रिपक्षपक्षसप्ताहं दैवराजकमिष्यते ॥

इति । यथासंख्यमिति शेषः । ननु सीमोन्नयनवेळायां प्रत्यर्थ्य-
नुयाने दैववशात् स्खलितं पतनं च भवेत् । कुकूलभङ्गः
अन्यैर्वा नाशः । आमुककुलस्य विनायकस्यं वा भिन्नत्वमित्येवं
प्रकारदृष्टापचार दर्शने सद्य एव जयव्यवस्था दृश्यते । तद्वत्तद-
भावेऽपि सद्य एव प्रत्यर्थिनः पराजयव्यवस्थया भाव्यमिति
तत्कथं दैवराजकोपयातपरिज्ञानार्थं त्रिपक्षादिप्रतीक्षणामिति चे-
त्सत्यं क्षेत्रविवादस्य महत्वात् । जयव्यवस्था सद्यपि । तदभावेऽ-
पि सद्यएव प्रत्यर्थिनः पराजयव्यवस्थाऽपि प्रतीक्ष्यैव । त्रिपक्षप्र-
तीक्षणं एतावत्पर्यन्तं प्रतिघाते च माभूदिति दृष्टप्रमाणेभ्यः तु-
लादिभ्यः कुकूलधारणं (नास्ती यत्रात्ते तत्रत्रिपक्षप्रतीक्षणमुक्त-
रीत्येति भारुचेरभिप्रायः) भिन्नत्वेन स्मृतमिति ध्येयं । एत्तु
भारुचिमतम् ।

विज्ञानयोगिप्रभृतयश्च कुकूलद्वयमनुलिखितवंतो मृदमा-
दाय मूधनीति वचनं मृत्पिण्डमानपरत्वेन व्याख्यातवन्त-

त्रिपक्षप्रतीक्षणं व्याकुर्वते । तन्मते सीमानिर्णयाय कुकूलधारणं नास्ति। यत्रास्ति तत्र त्रिपक्षप्रतीक्षणमुक्तरीत्येति भारुचेरभिप्रायः। यत्तूक्तं विष्णुना—

'सीमाविवादे मरणान्तिका जयव्यवस्थेति' तत्तु विषयानन्तरेण राज्ञा विषयान्तरस्थस्य राज्ञस्सीमाविवादे युद्धसाध्यविषये केचन त्रैविद्यवृद्धाः विवदमानराजद्वयमनुमान्य तत्सीमापरिज्ञातारं कुकूलधारणादिनियमेन नयेयुः। यदा सत्य-(तस्य)भङ्गः स तु हन्तव्यं इति तद्विषयः। तत्प्रकारश्च अनेकस्मृतिसिद्धः संगृह्य किंचिदुच्यते—राज्ञोस्सीमानिमित्ते विवदमानयोर्मध्यस्थैरागत्य तत्सीमानिर्णयार्थं तत्परिज्ञातृपुरुषं यं कंचन समाहूय तमेकेन नयनेन साञ्जनं अन्येन निरञ्जनमेकेन केशभागेन शिखावन्तमन्येन विस्रस्तकेशमेकेन पादेन सोपानत्कमन्येन निरुपानत्कं धृतकौपीनं बद्धमौनं कृत्वा आमकुकूलमध्ये जलं निक्षिप्य तन्मध्ये गणेशमर्चयित्वा तत्कुकूले दिक्पालाद्यावाहनं दिव्यमातृकोक्तं विधाय वरुणपूजां कृत्वा धरणीवराहमावाह्य 'उद्धृतासीति' मन्त्रेण पूजयित्वाऽपश्चाल्लोकं नयेत्। पश्चाद्भागं न लोकितवान् अपश्चाल्लोकः । तस्मिन्नेकादशपदचंक्रमणैः सीमामुन्नयति सति कुकूलजलशोषो वा कुकूलभंगो वा यदि स्यात्तं तथैवानुयायिनः प्रत्यर्थिनो हन्युः । अत्र साद्यस्कीजयपराजयव्यवस्था। नचात्र त्रिपक्षप्रतीक्षणमिति। विवादकालमाह मनुः—

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठमासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥

इति । क्षेत्रादिनिर्णये सामन्तैरन्योन्यसीमानिर्णयः कार्यः । ग्रामसामन्तादीनां क्षेत्रगृहसीमादिषु परिचितत्वात् । तथाऽऽह-स एव—

ग्रामो ग्रामस्य सामन्तः क्षेत्रं क्षेत्रस्य कीर्तितः ।
गृहं गृहस्य विद्धिष्टं सामन्तान् परिभावयेत् ॥

तथा च बृहस्पतिः—

सर्वस्मिन् स्थावरे वादे विधिरेष प्रकीर्तितः ।

इति ॥ अयमर्थः—एवमेव केदारारामोद्यानदेवालयतटाककूप-प्रवर्षणोद्भूतजलप्रवाहस्थानादिसीमाविवादे साक्षितः तत्साम न्तादितः निर्णेता राजा निर्णयेत् इति । नद्याऽपहृतभूविषये नारदः—

एकत्र कूलपातं तु भूमेरन्यत्र संस्थितिः ।
नदीतीरे प्रकुरुते तस्य तां न विचा(ल)रयेत् ॥

तस्य नदीवशात् लब्धभूमिकस्य तां नदीकृतभूसंस्थितिं पूर्व-स्वामी न विचालयेदित्यर्थः । एतदेव स्पष्टीकृतं बृहस्पतिना—

अन्यग्रामात्समाहृत्य दत्ताऽन्यस्य यदा मही ।
महानद्याऽथवा राज्ञा कथं तत्र विचारणा ॥
नद्योत्सृष्टा राजदत्ता यस्य तस्यैव सा मही ।
अन्यथा न भवेल्लाभो नराणां राजदैविकः ॥
क्षयोदयौ जीवनं च दैवराजवशान्नृणाम् ।
तस्मात्सर्वेषु कार्येषु तत्कृतं न विचालयेत् ॥

एतच्चालुप्तसस्यतीरविषयम् । लुप्तसस्यतीरविषये मनुः—

क्षेत्रं ससस्यमुल्लङ्घ्य भूमिश्छिन्ना यदा भवेत् ।

नदीस्रोतःप्रवाहेण पूर्वस्वामी लभेत ताम् ॥

लुप्तफलसस्यलाभादूर्ध्वं प्राचीनवचनाविषयत्वमेव । राजदत्तविषये विशेषमाह मनुः—

राज्ञा क्रोधेन लोभेन छलान्नयायेन वा हृता ।
प्रदत्ताऽन्यस्य तुष्टेन न सा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

गृहादिविषये विशेषमाह बृहस्पतिः—

निवेशकालादारभ्य गृहवार्यापणादिकम् ।
येन यावद्यथा भुक्तं तस्य तां न विचा(ल)रयेत् ॥

आदिशब्देन वातायनादीनां ग्रहणम् । तथा च कात्यायनः—

वातायनं प्रणाली च तथा निर्व्यूहवेदिका ।
चतुश्शालस्य धनिकाः प्राङ्निविष्टा न चालयेत् ॥
निवेशसमयादूर्ध्वं नैते योग्याः कदाचन ।

इति । वह्निश्वभ्रादीनां विषये बृहस्पतिः—

विण्मूत्रोदकवप्रांश्च वह्निश्वभ्रनिवेशनम् ।
अरत्निद्वयमुत्सृज्य परकुड्यां निवेशयेत् ॥
यान्त्यायान्ति जना येन पशवश्चानिवारिताः ।
तदुच्यते संसरणं नरोद्धव्यं तु केनचित् ॥

तथा च नारदः—

चतुष्पथसुरस्थानराजमार्गं न रोधयेत् ।
परक्षेत्रस्य मध्ये तु सेतुर्न प्रतिषिध्यते ॥
महागुणोऽल्पबाधश्चेद्वृद्धिरिष्टा क्षये सती ।
न निषिद्धोऽल्पबाधश्च सेतुः कल्याणकारकः ॥

इति याज्ञवल्क्यस्मरणात्—

परभूमौ हरेत्कूपं स्वल्पक्षेत्रे बहूदकम् ।
स्वामिनो यो निवेद्यैव क्षेत्रे सेतुं प्रकल्पयेत् ॥
तत्स्वामिनो भोगलाभस्तदभावे महीपतेः ।
पूर्वप्रवृत्तमुत्पन्नमपृष्ट्वा स्वामिनं तु यः ॥
सेतुं प्रकल्पयेत्कश्चिन्न स तत्फलभाग्भवेत् ।
मृतेऽपि स्वामिनि पुनस्तद्वंश्ये चापि मानवे ॥
राजानमामन्त्र्य ततः कुर्यात्सेतुप्रवर्तनम् ।

कात्यायनः—

अस्वाम्यनुमतेनैव संस्कारं कुरुते तु यः ।
कूपोद्यानतटाकानां संस्कर्ता लभते न तु ॥
अशक्तः प्रेतनष्टेषु क्षेत्रकेष्वनिवारितः ।
क्षेत्रं चेद्विकृषेत्कश्चिदश्नुवीत स तत्फलम् ॥

अस्यापवादमाह स एव—

विकृष्यमाणे क्षेत्रे च क्षेत्रि(कः) पुनराव्रजेत् ।
शीलोपचारं तत्सर्वं दत्वा क्षेत्रमवाप्नुयात् ॥
तदष्टभागापचयाद्यावत्सप्त गतास्समाः ।
समाप्तेष्वष्टमे वर्षे भुक्तक्षेत्रं लभेत सः ।
अशक्तितो न दद्याच्चेत्तदर्थं यः कृतो व्ययः ॥
तदष्टभागहीनं तु कर्षकः फलमाप्नुयात् ।
वर्षा ह्यष्टौ स भोक्ता स्यात्परतः स्वामिने तु तत् ॥

नारदः—

संवत्सरेणार्धखिलं खिलं स्याद्वत्सरैस्त्रिभिः ।
पञ्चवर्षोऽवसानं तत् क्षेत्रं स्यादटवी समम् ॥

क्षेत्रं गृहीत्वा यः कश्चित् न कुर्यान्न च कारयेत् ।
स्वामिने स दमं दाप्यो राज्ञा दण्ड्यश्च तत्समम् ॥

याज्ञवल्क्यः—

फालाहतमपि क्षेत्रं यो न कुर्यान्न कारयेत् ।
स प्रदाप्यः कृष्टफलं क्षेत्रमन्येन कारयेत् ॥

चिरावसन्ने दशमं कृष्यमाणे दशाष्टमम् ।
सुसंस्कृतेषु षष्ठं स्यात्परिकल्प्यं यथास्थिति ॥

इति श्री प्रतापरुद्रमहादेवमहाराज विरचिते स्मृतिसंग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे सीमा-
विवादाख्यस्य पदस्य विलासः ॥

## अथ स्त्रीपुंसयोगाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते.

---

तत्र नारदः—

विवादादेर्विधिःस्त्रीणां यत्र पुंसा च कीर्त्यते ।
स्त्रीपुंसयोगसंज्ञं तद्विवादपदमुच्यते ॥

इति । अत्र पूर्वप्रकरणे क्षेत्रजविवादः कथितः । क्षेत्रं द्विविधं स्थावरं जङ्गमं चेति । स्थावरक्षेत्रविषयविवादनिर्णयानन्तरं जङ्गमात्मकस्त्रीरूपक्षेत्रजविवादनिर्णय इति सङ्गतिः ।

तथा च मनुः—

अस्वतन्त्रास्स्त्रियः कार्याः पुरुषैस्तैर्दिवानिशम् ।

इति । यद्यपि स्त्रीपुंसयोः परस्परमार्थिप्रत्यर्थितयानृपसमक्षं व्यवहारो निषिद्धः । तथाऽपि प्रत्यक्षेण कर्णपरम्परया विदिते तयोः परस्परातिचारे दण्डादिदानं निजधर्ममार्गेण राज्ञा कार्यं । इतरथा दोष एव राज्ञः ।

धर्म एकः पतिस्स्त्रीणां पूर्वमेव तु कल्पितः ।
बहुपत्नीकृतः पुंसो धर्मश्च बहुभिः कृतः ॥
स्त्रीधर्मः पूर्वमेवायं निर्मितो मुनिभिः पुरा ।
सहधर्मचरी भर्तुरेका चैकस्य चोच्यते ॥
एको भर्ता हि नारीणां कौमार इति लौकिकः ।
आपत्सु च नियोगेन सन्तानार्थे परःस्मृतः ॥
गच्छेत या तृतीयं त यास्यान्निष्कृतिरुच्यते ।
चतुर्थे पतिता धर्मात् पञ्चमे वर्धकी भवेत् ॥

एवं गते धर्मपथे न वृणेद्बहुसंस्कृताम् ।
अलोकाचरितादस्मात्कथं मुच्येद्धि सङ्करात् ॥

ईश्वर उवाच—

अनावृताः पुरा नार्यो मासाच्छुद्ध्यन्ति चार्तवे ।
सकृदुक्तं तु या नैव नाधर्मस्ते भविष्यति ॥

इति महाभारतोक्तराजधर्ममध्ये अस्य स्त्रीपुन्धर्मजातस्योपदेशः कृतो मनुनारदाभ्यां । योगीश्वरेण तु विवाहप्रकरण एव सप्रपञ्चं प्रतिपादितमिति न पुनरत्रोक्तं । अत एवास्माभिरपि तन्मतानुसारिभिः न प्रपञ्च्यते विवादपदं । अत्र यद्बहुवक्तव्यमस्ति तदस्माभिरप्याचारकाण्डे विवाहप्रकरण एव प्रपाञ्चितमिति तत एवावधार्यम् ।

इति श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराज विरचिते स्मृतिसंग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे स्त्रीपुंसयो-
गाख्यस्य पदस्य विलासः

## अथ दायभागाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते.

पुरुषोत्तमभूमींद्रतनयेन महीभुजा ।
प्रतापरुद्रदेवेन दायभागो निरूप्यते ॥

पूर्वप्रकरणे स्त्रीपुंसयोगाख्यो धर्मः प्रतिपादितः । अत्र तु स्त्रीपुंसावेवाधिकृत्य विभागः प्रवर्तत इति तयोरुपजीव्योपजीवकतया सङ्गतिः । न च 'जायापत्योर्न विभागो विद्यते' इति स्मृतेःस्त्रीपुंसयोर्विभाग एव नास्तीति वाच्यं । स्त्रीपुंसयोर्विभागो वक्ष्यते । किंच क्वचित्पुंसां विभागः क्वचित् स्त्रीणां विभागः क्वचित् स्त्रीपुंसयोरिति न कदाचित् क्षतिरिति । दायो नाम पितापुत्रसमुदायद्रव्यं ।

पितृद्रव्यं विभक्तव्यं दायमाहुर्मनीषिणः ।

इति स्मृतेः । विभक्तव्यं—विभागार्हं । बृहस्पतिरपि—

ददाति दीयते पित्रा पुत्रेभ्यः स्वस्य यद्धनम् ।
तद्दायं . . . . . . . . . ॥

इति । पिता पुत्रेभ्यो यद्धनं ददातीति कर्त्रन्तपितृशब्दोऽध्याहर्तव्यः । एवं दायशब्दः कर्मण्येव व्युत्पन्न इति । अनेन पितापुत्रसमुदायविषयकं द्रव्यं दायमिति सामान्यलक्षणम् । संग्रहकारोऽपि—

पितृद्वाराऽऽगतं द्रव्यं मातृद्वाराऽऽगतं च यत् ।
कथितं दायशब्देन तद्विभागोऽधुनोच्यते ॥

इति । भारुच्यपरार्कादीनां लक्षणं—विभागार्हं पितृर्द्रव्यं दायमिति । तदेव सम्यक् । धर्मविभागे द्रव्यविभागेऽप्यनुगतेः । न च वाच्यं; धर्माणामग्निहोत्रवैश्वदेवादीनां पितृद्रव्यत्वाभावाद्विभक्तव्यं पितृ-

द्रव्यमिति लक्षणस्य तत्रानुगतिर्नास्तीति । 'पैतृकधनं द्विविधं । भोक्तव्यमनुष्ठातव्यं च' इति विष्णुवचनेन भोक्तव्यं क्षेत्रगवादिकं अनुष्ठातव्यमग्निहोत्रादिकमिति अनुष्ठातव्यस्याग्निहोत्रादेः पैतृकत्वस्य प्रतिपादनात् । अत एव याज्ञवल्क्यः—

कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही ।
दायकालाहृते वाऽपि श्रौतं वैतानिकाग्निषु ॥

विवाहसम्बन्धादूर्ध्वमप्ययमग्निर्वैवाहिको भवत्येवेत्याह कर्किः । दायकालाहृते वापीत्यनेन अग्निहोत्रादेर्विभाग उक्तः । तच्चाग्निहोत्रादि पैतृकमेवाङ्गीकर्तव्यम् । अन्यथा कर्म स्मार्तंविवाहाग्नाविति व्याहन्येतेति । अत्राह कर्किः—

अभ्रातृकस्य वैवाहिको भ्रातृणां दायकालाहृत एवेति व्यवस्थेति । अतश्च दायकाले—दायविभागकाले दायत्वेनाहृते स्वीकृत इति ।

भारुचिः—अजीवद्विभागे श्रोत्रियागाराज्ज्येष्ठेनानीतमग्निं भ्रातरो विभजेयुः । अत्र पैतृकत्वमग्नेरुपचरितं । जीवद्विभागे पित्रानीतमग्निं विभजेयुः । पित्रानीतः पैतृक इति मुख्यं पैतृकत्वमग्नेः । अस्मिन् पक्षे तथाविधस्यैवाऽग्नेः पित्रा स्वभ्रातृभ्य आनीतत्वादिति । अत्र केचिदाहुः—दायकालाहृत इत्यस्य अग्निहोत्रस्वीकरणस्य कालान्तरमुक्तमिति । तन्न सहन्ते भारुचिप्रभृतयः । तथा सत्यसंस्कृत्यास्वीकारप्रसङ्गादिति । केचित्तु—'दायाद्यकाल एतेषाम्' इति स्मृतेः अग्न्याहरणस्य कालान्तरमुक्तमिति । अत्रेदं तत्त्वं । वैवाहिकोऽग्निर्लौकिकोऽलौकिकश्चेति मतद्वयं । लौकिकत्वपक्षे प्राकरणिकस्य मन्त्राम्नानस्य वैधदान-

सिद्ध्यर्थत्वात् कर्तृसंस्कारकत्वमेव । नाग्निसंस्कारकत्वं अहारणमात्रस्य मथनमात्रस्य वा संस्कारकत्वं वक्तुमयुक्तं 'मथितेनाग्निना श्रोत्रियागारादाहृतेन वा स्फटिकोत्पन्नेन वा दवानलेन वा विवाहः कार्यः' इति कर्कभाष्ये आहृतत्वमाथितत्वयोः स्फटिकोत्पन्नत्वदावानलत्वाभ्यां तुल्ययोगक्षेमतया प्रतिपादनात्। न च स्फटिकोत्पन्नस्य स्फटिकोत्पत्तिरेव; दावानलस्य वा दावानलत्वमेव संस्कार इति वक्तुं युक्तं; अतो लौकिक एव-वैवाहिकाग्निरिति । अत एवास्तम्बेन ।

'अग्निनाशे श्रोत्रियागारान्मथनाद्वाऽग्निमाहृत्य उपोष्यायाश्चेति प्रायश्चित्तं कृत्वा पूर्ववज्जुहुयात्' इत्युक्तं । अनुगतोमन्थ्यः श्रोत्रियागारादाहृतो वाऽ याश्चेति हुत्वा जुहुयादिति । अग्निनाशेऽप्ययमेव विधिरिति वृत्तिकारः । अत एव संसृष्टानां पृथगग्निहोत्रकरणं च निषिद्धमिति यद्वचनं जातं तदुपपन्नं भवति । अयमर्थः—विभागकाले आहृतस्याग्नेः पुत्राणां परस्परविभागः । वैवाहिकाग्नेरलौकिकत्वपक्षे 'भूर्भुवस्सुवरोमित्यग्निं प्रतिष्ठापयेदिति' विधेश्श्रौतातिदेशेन अलौकिकत्वमग्नेः । अत एवाविभागदशायामपि पृथगग्निहोत्रकरणपृथग्वैश्वदेवादिकरणविधय उपपन्ना भवन्तीति । पक्षद्वयप्रतिपादको वाशब्द इत्याहुः । अत एवाश्वलायनेन अग्निनाशे युगलोजान्तसंस्कारकलापं कृत्वा पुनर्जुहुयादित्युक्तं । 'श्रौतं वैतानिकाग्निषु' इति पृथगुक्तिः सर्वथा वैतानिकाग्नीनां विभागो नास्तीति ज्ञापनार्था । अत्राहुः— वैवाहिकाग्नेरलौकिकत्वपक्षे परस्परं पृथगनुष्ठानमेव विभागः । लौकिकत्वपक्षे परस्परमग्निस्वीकरणमेव विभाग इति लक्ष्मीधर-

प्रभृतयः। एतच्च विभागसन्देहनिर्णये प्रपञ्चयते। असहायविज्ञानयोगिप्रभृतीनां तु यत् स्वामिसम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तद्दायशब्देनोच्यते इति; तन्न सहन्ते भारुच्यपरार्कप्रभृतयः—स्वत्वहेतूनां क्रयादीनां तल्लक्षणासम्भवात्। न च वाच्यः मेवकारेण क्रयादयोऽव्युदस्यन्ते, क्रेतरि दायादो दायं गृह्णातीति लौकिकप्रयोगाभावादिति। तर्हि स्त्रीणां दायानर्हत्वात्। "तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीः" इति श्रुतेः। स्त्रीधनं दायशब्दवाच्यं न भवतीति तदुत्तरत्र स्फोर्यते। विभागो नाम द्रव्यधर्मयोरन्यतरस्य पृथक्करणमित्याह भारुचिः। विज्ञानयोगी तु विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थानमित्याह। तन्न सहते भारुचिः—धर्मविभागे तदभावात्। धर्मविभागो नाम धर्ममात्रविभागः। पृथग्वैश्वदेवपञ्चमहायज्ञानुष्ठानं पैतृकादिकरणं। तच्च केषांचिदसन्तानिस्स्वानां द्रव्याभावात् धर्मविभागः कर्तव्यः 'विभागे धर्मवृद्धिस्स्यादिति' गौतमस्मृतेः। धर्मवृद्धिकामानां धर्ममात्रविभागो वा कर्तव्यः। अत एव विष्णुः—

'धर्ममात्रं वा विभजेत्' इति। अत्यन्तनिस्स्वानामिति शेषः। अनेन ज्ञायेत परिभाषां विना संकल्पमात्रेणापि विभागसिद्धिः यथा; पुत्रिकाकरणं परिभाषां विना संकल्पमात्रात्सिध्यतीति। द्रव्यवतां तु धनविभागानन्तरमेव धर्मविभागः। 'विभक्ताः भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः कथंचन' इति। विभक्तकर्तव्यतया धर्मान् वैश्वदेवादिकानाधिकृत्योक्तत्वात्। अतश्च निस्स्वानामितरानुमत्या तदन्तरेणापि धर्मानु-

ष्ठानमेव धर्मविभागः । धनिकानां धनविभागः । एवं विभागस्य द्वैविध्यम् । अत एवोक्तं विष्णुना—

'द्विविधो विभागः कर्ममूलो दायमूलश्चेति । अत्र—दाय शब्दस्य सामान्यवाचित्वेऽपि विशेषपर्यवसानाद्द्रव्यवाचित्वं । अत्र धर्मशब्देन तत्साधनभूतमग्निहोत्रादिकमुच्यते । धर्मविभागो मनुयाज्ञवल्क्यादिस्मृतिकाराणान्तत्स्मृतिव्याख्यातॄणामसहायमेधातिथिविज्ञानयोगीश्वरापरार्काणां निबन्धॄणां चन्द्रिकाकारादीनां च सम्मत एव । तथा हि—

वसेयुर्दश वर्षाणि पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः ।
विभक्ता भ्रातरस्तेऽपि विज्ञेयाः पैतृकाद्धनात् ॥

इति धर्मविभाग उक्तः । तत्र स्वयमेवेतरानुमतिं विना दशवर्षपर्यन्तं पृथग्धर्माचरणं विभागः । यथा—

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत्स्वयमार्जितम् ।
मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानान्न तद्भवेत् ॥

इत्यत्र मैत्रादिव्यतिरेकेण यस्य किमपि नास्ति तस्य मैत्रादि ग्रहणमेव विभागः। तद्वदत्रापीत्यनुसन्धेयम् । अत एवोक्तं मनुना—

एवं(एष) स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो यो रति संज्ञितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायधर्मं निबोधत ॥

इति । अत्र भारुचिः—दायधर्मशब्देन दायविभागो धर्मविभागो लक्ष्यत इत्याह । दायविभागं धर्मविभागं मयोच्यमानं निबोधतेति वचनार्थः । यद्यपि दायशब्देन विभागार्हद्रव्य वाचिना धर्मस्याप्युपसंग्रहः । तथाऽपि विस्पष्टार्थमुक्तं दायधर्ममिति । पैतृकाद्धनादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । पैतृकं धन-

मुपजीव्यापि दशवर्षपर्यन्तं पृथग्धर्माचरणं विभागहेतुरेवेति कैमुतिकन्यायप्रदर्शनार्थमिति केचित्। अपरे तु पैतृकं धनं विहायेति ल्यब्लोपमाहुः। अन्यथा 'अनुपघ्नन् पितृद्रव्यम्' इत्यादि मन्वादिवचनविरोधादिति। एतदेव सम्यक्। यथाऽऽह निबन्धनकारः। अयमेव पक्षो ज्यायानिति—

यस्मिन् काले यया भङ्ग्या यैरेव क्रियतेऽपि च।
यादृशस्य यदा यस्य यथा शास्त्रं प्रदृश्यते॥

इति। यादृशस्य दायस्य पैतृकमातृकादेर्यस्मिन् काले 'मातुर्निवृत्ते रजसि' इत्यादिकं यथा–समविषमादिभङ्ग्या प्रकारेण यैः–पितृमातृभगिन्यादिभिर्विभागो वक्तव्य इति। एव चतुर्थेतिकर्तव्यता कलापो यस्मिन्विवादपदे निरूप्यते तद्दायविभागो नामविवादपदं। अत्र संग्रहकारो विशेषमाह—

पितृद्रव्यविभागस्स्याज्जीवन्त्यामपि मातरि।
न स्वतन्त्रतया स्वाम्यं तस्मान्मातुः पतिं विना॥
मातृद्रव्यविभागोऽपि तथा पितरि जीवति।
सत्स्वपत्येषु यस्मान्न स्त्रीधनस्य पतिः पतिः॥

इति। एकः पतिशब्दः स्वामिवाचकः। अपरो भर्तृवाचकः। अनेन पितरि जीवति द्रव्यविभागो मातरि जीवन्त्यां तद्द्रव्यविभागः पुत्रादेः न कार्य इत्यर्थादुक्तं भवति। तथा च मनुः—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरस्सह।
भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥

इति। अनीशाः—अस्वतन्त्रा इत्यर्थः। तथा च हारितः—जीवति पितरि पुत्राणामर्थादानविसर्गाक्षेपेष्वस्वातन्त्र्यमिति'।

अर्थादानं—समक्षोपभोगः। विसर्गो—व्ययः। आक्षेपो—दासादि-परिजनस्यापराधे शिक्षार्थः। अस्वातन्त्र्यं—पितुरनुज्ञामन्तरेण स्वेच्छया अर्थादानादावप्रवृत्तिः। धर्मस्वातन्त्र्यमप्येवं पृथगिष्टापूर्तादावप्रवृत्तिः। एवं च पित्रानुज्ञातेन पुत्रेण स्वकर्माग्निहोत्रादि कार्यं; नाननुज्ञातेनेति चन्द्रिकाकारः। अग्निहोत्रादिक्रियास्वननुज्ञातस्यापि पुत्रस्याधिकारोऽस्तीति अपरार्कः। आचाराद्व्यवस्था। व्यवस्थिताचारद्वयस्य पूर्वमेवोक्तत्वान्नोक्तं। यत्तु देवलोऽपि—

> पितर्युपरते पुत्रा विभजेरन् पितुर्धनम्।
> अस्वाम्ये तु भवेत्तेषां निर्दोषे पितरि स्थितम्॥

इति। अत्रास्वाम्यमस्वातन्त्र्यमित्यर्थः। पुत्राणां जन्मना स्वातन्त्र्यस्य सिद्धत्वात्। तदुत्तरत्र प्रपञ्च्यते। निर्दोषग्रहणात्पितरि सदोषे स्थितेऽपि सति पुत्राणां तत्स्वातन्त्र्यमिति दर्शयति। तेन पितरि स्थितेऽप्यशक्तत्वादिदोषे सति अर्थादानविसर्गादौ ज्येष्ठस्य स्वातन्त्र्यं। अनुजानां ज्येष्ठाधीनत्वमवगन्तव्यम्। अत एव शङ्खलिखितौ—

'पितर्यशक्ते तु कुटुम्बस्य व्यवहारान् ज्येष्ठः कुर्यादनन्तरो वा कार्यज्ञस्तदनुमत्येति'। तच्छब्देन ज्येष्ठ उच्यते। तदानीं तस्यैव स्वातन्त्र्यात्। कार्यज्ञपदेनापि तदनन्तरपदस्यानुजोपलक्षणपरत्वं सूच्यते। अशक्तग्रहणं च दीनादेरप्युपलक्षणमिति चन्द्रिकाकारः। अनेनाशक्तग्रहणेन वार्धकादिना पितर्यस्वतन्त्रतामापन्ने तदनिच्छया तद्धनविभागः पुत्राणामिच्छयैव भवतीति ज्ञायते। तथा च नारदः—

व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः ।
अन्यथा शास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः ॥

इति। अपि तु पुत्रा एव प्रभव इति शेषः । अत एवाह स एव—

पितैव वा स्वयं पुत्रान् विभजेद्वयसि स्थितः ।

इति । वयसि स्थितः—अप्रतिहतस्वातन्त्र्ययुक्तः । पितैव वेत्येवकारवाशब्दाभ्यां व्याधितत्वादिदोषराहित्ये पितुरेव विभागकरणेऽधिकारः । अन्यथा पुत्राणामित्यर्थः ।

अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा विभजेरन् समं धनम् ।
मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च ॥
निवृत्ते चापि रमणे पितर्युपरतस्पृहे ।

रमणे—रमणविषये—रन्तुमित्यर्थः । उपरतस्पृह इत्यनेन मातुर्निवृत्ते रजसीत्यनेन च पितुः पत्न्यन्तरस्वीकारेच्छायां विभागो नास्तीति गम्यते । अतश्च 'ऊर्ध्वं पितुरित्यनेन एको विभागकालः । स चाजीवद्विभागः । 'मातुर्निवृत्ते रजसि' इत्यनेन जीवद्विभागकालः । एवं विभागस्य कालद्वयमुक्तं । पितुरिच्छायास्तु जीवद्विभागानतिरेकान्न पृथक्कालभेदः । विभागफलमाहतुः शंखलिखितौ--

भ्रातॄणां जीवतोः पित्रोः सह भावो विधीयते ।
तदूर्ध्वमपि तेषां च वृद्ध्यर्थं च सह त्रिभिः ॥
कामं वसेयुरेकत्र संहता वृद्धिमाप्नुयुरेन् ।

इति । पृथक्पृथग्व्ययाभावादिति भावः । विभागे तु धर्मो वृद्धिमापद्यत इति । तथा च गौतमः—

विभागे धर्मवृद्धिः ।

इति । सा कथमित्यपेक्षिते नारदः—

भ्रातॄणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तते ।
विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्तेषां पृथक्पृथक् ॥

इति । धर्मः—पितृदेवतार्चनादिजन्यः । तथा च बृहस्पतिः—

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम् ।
एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद्गृहे गृहे ॥

अतश्चाविभक्तानामपि स्वसाध्याग्निहोत्रादिजन्योधर्मः सम्पद्यत एव । किंतु विभागे सति धर्मवृद्धिर्गौतमादिमत (द्वय) त्वेनोक्तेत्यनुसंधेयं । अत्र समविभागपक्षस्य सार्वत्रिकत्वेनाभिधानाद- (द्य) स्मिन् विषये यदि पिता स्वकीयेच्छया समविभागपक्षमङ्गीकुर्यात्तदापत्नयः पुत्रवत्यः समानांशभाजः कार्या इत्याह याज्ञवल्क्यः—

यदि कुर्यात्समानं (नां) शान् पत्नयः कुर्यात्समांशकाः ।

यदि वार्धकेऽप्यात्मना सह समभागपक्षमिच्छया स्वपिता कुर्यात्तदा स्वात्मभागेन सह तत्समानभागं पत्नी प्रतिगृह्णीयादिति । अनेन 'जायापत्योर्न विभागो विद्यते' इति आपस्तम्बवचनं यत्र सहत्वचोदना तत्रैवेति मन्तव्यमिति भारुचिराह । अत एवाह याज्ञवल्क्यः—

भ्रातॄणामथ दम्पत्योः पितुः पुत्रस्य चैव हि ।
प्रातिभाव्यमृणं साक्ष्यमविभक्तेन तु स्मृतम् ॥

इति । अत्राह विज्ञानयोगी—ननु दम्पत्योर्विभागात्प्राक्प्रातिभाव्यादि प्रतिषेधो न विद्यते । तयोर्विभागाभावेन विशेषानर्थक्यात् । विभागाभावस्त्वापस्तम्बेन दर्शितः । 'जायापत्योर्न

विभागो विद्यते' इति, सत्यं। श्रौतस्मार्ताग्निसाध्येषु कर्मसु तत्फलेषु विभागाभावो न पुनस्सर्वकर्मसु द्रव्येषु वा। तथा हि— 'जायापत्योर्न विभागो विद्यते' इत्युक्त्वा किमिति न विद्यत इत्यपेक्षायां हेतुमुक्तवान् 'पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेषु च' इति। अस्यार्थः—हि यस्मात्पाणिग्रहणादारभ्य-कर्मसु सहत्वं श्रूयते 'जायापती अग्नीनादधीयाताम्' इति तस्मा-दाधाने सहाधिकारादाधानसिद्धाग्निसाध्येषु कर्मसु सहाधिकारः तथा—'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ' इत्यादि स्मरणात् विवाह-सिद्धाग्निसाध्येषु कर्मस्वपि सहाधिकार एव। ततश्चोभयविधाग्नि-निरपेक्षेषु कर्मसु पूर्तेषु जायापत्योः पृथगेवाधिकारस्सम्पद्यते। तथा पुण्यादीनां फलेषु स्वर्गादिषु जायापत्योस्सहत्वं श्रूयते। 'दिवि ज्योतिरजरमारभेताम्' इत्यादि। येषु पुण्यापुण्यकर्मसु सहाधिकारस्तेषां फलेषु सहत्वमिति बोध्यं। न पुनः पूर्तानां भर्त्रनुज्ञयाऽनुष्ठितानां फलेष्वपि। ननु द्रव्यस्वामित्वेऽपि सहत्व-मुक्तं द्रव्यपरिग्रहेषु च 'न हि भर्तुर्विप्रवासे। नैमित्तिकेदाने स्तेयमुपदिशन्ति' इति। सत्यं; द्रव्यस्वामित्वं पत्न्या दर्शित-मनेन न पुनर्विभागाभावः। यस्मात् 'द्रव्यपरिग्रहेषु च' इत्युक्त्वा तत्र कारणमुक्तं भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तके अवश्यकर्तव्ये अतिथि-भोजनभिक्षाप्रदानादौ हि यस्मात् न स्तेयमुपदिशन्ति मन्वा-दयस्तस्माद्भार्याया अपि द्रव्यस्वामित्वमस्ति। अन्यथा स्तेयं स्या(दिति)देव। तस्माद्भार्याया अपि भर्तुरिच्छया द्रव्यविभागो भवत्येव न स्वेच्छयेति। अपरार्कमतं तु—स्त्रीणां दायविभागो नास्त्येव 'तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरिति' श्रुतेः। अतश्च पत्युरिच्छानुसारेण पत्नीनामपि धनं दातव्यं। समशब्दस्तु पत्यु-

र्भागान्न्यूनं न कार्यं सममंशमधिकांशं वा दातव्यम्। 'यदि कुर्यात्' इति यदिशब्देन इच्छानुसारप्रतिपादनादैच्छिकत्वादंशदानस्येत्यवगन्तव्यमिति। अत्रेदं तत्त्वं—भारुचिमते पत्नीनां बहुत्वसद्भावे तासामेव विभागः। विज्ञानयोगिप्रभृतीनां मते पत्न्येकानियतो विभागो नास्ति। किं तु पुत्रैस्समविभागः पत्नीनां। अपरार्कादीनां तु मते पत्नीविभागः पुत्रसमविभागश्च नास्ति। किंतु पतीच्छया देयमिति। अत्र पक्षत्रये वर्णतो व्यवस्थामाहुर्भाष्यकाराः—'ब्राह्मणीनां पत्नीनां स्वपुत्रैः समविभागः। क्षत्रियाणां तु पत्नीविभागो नास्ति। न पुत्रसमविभागः किंतु पतीच्छया यत्किंचिद्देयमिति' वैश्यशूद्रयोः पत्नीविभागः। एतद्व्यवस्थायामाचार एव मूलमित्याहुः। अत्राहतुश्शङ्खलिखितौ—जीवति पितरि रिक्थविभागोऽनुमतः प्रकाशं वा मिथो वा धर्मत इति। यो जीवद्विभागपक्षोऽनुमतः स तावत्प्रकाशं बन्ध्वादिजनसमक्षं यथा भवति तथा मिथो वा रहसि धर्मतः—धर्मप्रकारेण कार्य इत्यर्थः। तमेव प्रकारमाह कात्यायनः—

सकलं द्रव्यजातं यद्भागैर्गृह्णन्ति तत्समैः।
पितरौ भ्रातरश्चैव विभागो धर्म्य उच्यते॥

धर्म्यो धर्मादनपेतः। 'मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्' इत्यविशेषेण समविभागश्रुतेः। विषमविभागश्च शास्त्रदृष्टोऽपि लोकविरोधाच्छ्रुत्यन्तरविरोधाच्च नानुष्ठेय इति समैर्भागैर्मध्यकद्रव्यं गृह्णन्तीति नियम्यते। अतश्चास्मिन् कलियुगे अननुष्ठेयत्वात् ज्येष्ठाद्युद्धारपक्षा न प्रतिपादिताः। तथाहि—

अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्या चरेन्न तु।

इति निषेधात् यथा 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' इति विधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयं तथा 'मैत्रावरुणीं गां वशामनूबन्ध्यामालभेत' इति गवालम्भविधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानं। उक्तं च--

यथा नियोगधर्मोऽपि नानूबन्ध्यावधोऽपि वा ।
तथोद्धारविभागोऽपि नैव संप्रति वर्तते ॥

इति। संप्रति—कलियुगे। तथा आपस्तम्बोऽपि 'जीवन्पुत्रेभ्यो दायं विभजेत्समम्' समं इति वयमुक्त्वा 'ज्येष्ठो दायाद इत्येके' इति कृत्स्नधनग्रहणं ज्येष्ठस्यत्येकीयमतत्वेनोपन्यस्य 'देशविशेषे सुवर्णं कृष्णा गावः कृष्णं भौमं ज्येष्ठस्य रथः पितुः परिभाण्डं च गृहेऽलङ्कारो भार्याया ज्ञातिधनं च' इति एकीयमतेनैवोद्धारविभागं दर्शयित्वा 'तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धामिति' निराकृतवान्। अतश्च ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेनेत्यत्र अपरार्कादिव्याख्यातृव्याख्यानस्खालित्यं नोद्घाटितं। अत्र जीवद्विभागे ऐच्छिको विभागः। अत्राह नारदः—

द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता ।

इति। एतच्चैकपुत्रविषयं। तथाऽऽहतुः शंखलिखितौ—'स यद्येकपुत्रस्स्याद्द्वौ भागावात्मनो गृह्णीयादिति' स इति प्रकृतः पिता परामृश्यते। एकपुत्रस्स्यादिति गत वयस्कः अतिक्रान्तपुत्रान्तर लाभकालः। एतच्च धनविभाग एव न धर्मविभागे। धर्मविभागे अंशद्वयस्य प्रयोजनाभावात्। यत्र पुत्रस्य पितृधने धनार्जन समर्थतया स्वांशं ग्रहीतुं नेच्छा तत्र यावत्स्वीकरोति तावत्तस्मै दत्वा पित्रा पृथक्क्रिया कार्येत्याह याज्ञवल्क्यः—

शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद्दत्वा पृथक् क्रिया ।

इति। यदा पुनर्जीवति पितरि पुत्रकर्तृको विभागः क्रियते तदाऽपि 'सकलं द्रव्यजातं' इत्यादिकात्यायनवचनोक्तसमविभागप्रकारेणैव कार्यः। पुत्रकर्तृके जीवद्विभागे प्रकारान्तरप्रतिपादकशास्त्रान्तराभावात्। 'तथैवाजीवद्विभागे पैतृके विभज्यमाने दायाद्ये भ्रातृणां समो विभाग' इति पैठीनसिस्मरणात् 'समानो मृते पितरि विभाग' इति हारीतवचनाच्च मृते पितरि भ्रातृभिः क्रियमाणो रिक्थविभागस्समविभागेनैव कार्य इत्यर्थः। दायाद्ये दायधन इत्यर्थः। भ्रातृणामिति समस्वाम्यानां समवर्णानामेव। क्लीबादीनां समवर्णानां भागनिरासस्यासवर्णानां च तारतम्येन भागप्राप्तेश्च वक्ष्यमाणत्वात्। यथा पुत्रा रिक्थे समांशिनः तथा ऋणेऽपि समांशिन इत्याह याज्ञवल्क्यः—

विभजेरन् सुताः पित्रोरूर्ध्वं रिक्थमृणं समम्।

इति। अत्र ऋणं पैतृकं विवक्षितं। अपैतृकस्य सहैवापाकरणीयत्वानियमात्। अत एवाह कात्यायनः—

भ्रात्रा पितृव्यमातृभ्यां कुटुम्बार्थमृणं कृतम्।
विभागकाले देयं तद्रिक्थिभिः सर्वमेव (तु) तत्॥

इति। अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

धर्मार्थं प्रीतिदत्तं च यदृणं स्वनियोजितम्।
तद्दृश्यमानं विभजेन्न दानं पैतृकाद्धनात्॥

इति। यद्धर्मार्थं संकल्पितं यच्च पित्रा प्रीतेन दत्तं यच्च स्वेनैव पित्रा पुत्रैरपाकरणीयमिति नियोजितं। तदेव त्रिविधं ऋणं दृश्यमानं ज्ञायमानं विभजेदेवेत्यर्थः

ननु कथं—

‘ यदि कुर्यात् समानंशान् पत्न्यः कार्यास्समांशकाः ’

इत्यत्र स्त्रीणां दानानर्हत्वादंशशब्दोऽन्यथा व्याकृतः।
कथं तर्हि याज्ञवल्क्येनोक्तं—

पितुरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत्।

इति। कथं च व्यासेन—

असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः।
पितामह्यश्च सर्वास्ताः मातृतुल्याः प्रकीर्तिताः॥

इति। कथं च विष्णुना—

‘ मातरः पुत्रभागानुसा(रि)रेण भागहारिण्यः अनूढाश्च दुहितरः ’ इति। तर्हि स्त्रीणां दायानर्हत्वे मात्रादीनां दुहित्रन्तानामंशहारित्वोक्तिर्न युज्यते, मैवं, अत्र अंशशब्दो न दायभागवचनः। अपि तु द्रव्यसमुदायप्रतीकमात्रवचनः। अतश्च नोक्तदोष इति केचित्। अत्र मात्रादिशब्दानां गुरुरूपस्त्रीविशेषपरत्वादजीवद्विभागे माताऽप्यंशं दायभागं हरेदित्यन्ये। मेधातिथिमतं तु वर्णव्यवस्थया पूर्वमेवोक्तं। अथ भ्रातृणां दायविभागो याश्चानपत्यास्स्त्रियः तासामापुत्रलाभात् इति वसिष्ठः। अस्यार्थः—याः पितुः स्त्रियो अनपत्याः गर्भस्थापत्याः तासामापुत्रलाभात्—आप्रसवात् सहवासेन स्थितानां भ्रातृणां प्रसूतापत्यलिङ्गज्ञानानन्तरं दायविभाग इति। नन्वत्र भ्रतृणामनपत्यस्त्रीणां च दायविभागो भवतीति ऋज्वर्थः किमिति परित्यज्यते, उच्यते, अनपत्यस्त्रीणामापुत्रलाभादिति विरुद्धार्थप्रतीतेः; स्त्रीणां दायानर्हाणां दायविभागासंभवाच्च परित्यज्यते। अत एव स्मृत्यन्तरं—

इति । जनन्यस्वधना पुत्रैः विभागेंऽशं समं हरेत् । अस्वधना—प्रातिस्विकस्त्रीधनशून्या जननी पुत्रैरेव जीवद्वि-भागे क्रियमाणे पुत्रांशसममंश हरेदित्यर्थः । अत्र जननीग्रहणं सपत्न्यादेरुपलक्षणार्थं । मातरः पुत्रभागानुसारिभागहारिण्य इति। अस्वधनेति विशेषणोपादानात् स्वधने विद्यमाने तेनैव जीव-नस्य स्वानुष्ठेयस्य च धनसाध्यस्य कर्मणस्सिद्धिसंभवे नांश-ग्रहणमिति प्रतीयते । स्वधनमात्राज्जीवनधनसाध्यकर्मणोः सिध्य-संभवे स्वधनानामपि न समभागहरणं । किं तु यथोपयोगं न्यून-भागस्यैव हरणमिति गम्यते । तथा विभाज्यराशेरतिबहुत्वे निर्धनानामपि जनन्यादीनां न समांशग्रहणं । किं तु यथास्वो-पयोगं समांशन्यूनस्यैवांशस्य हरणमित्यवगम्यते । अस्वधनेति विशेषणस्योपयोगवशादंशग्रहणं पत्न्याः न पुनर्भ्रातृवद्दायभा गित्ववशादिति ज्ञापनार्थत्वात् । न तु सममिति विशेषणस्योप योगात्; असमांशस्य हरणेऽपि अवैयर्थ्यात् । अजीवद्विभागस्थले पतीच्छया पत्नीनामधिकांशस्यापि दातुमर्हत्वादित्युक्तं प्राक् । अस्मिन्नजीवद्विभागस्थले भ्रातॄणां इच्छानुसारेण मातुरंशो दातव्यः समो वा अधिको वा । यदीच्छा नास्ति अल्पविभा-ज्यराशेरधिकस्य प्राप्तस्य निवृत्त्यर्थत्वात् सममिति पदमित्यनु-सन्धेयं । अतः एतत्सर्वमनुसन्धायैव याज्ञवल्क्येन "यदि-कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः" इत्यभिधाय

'न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा।

इत्यभिहितं । स्त्रीधनं दत्तं चेत्तासां पत्नीनां नांशहरत्वमिति वचनार्थः । अत एवोक्तं चन्द्रिकाकारेण । तेनात्र न मातुस्स्वत्व-व्यवस्थापको दायविभागः, किं तु यावदर्थमेवार्थहरणमिति

मन्तव्यमिति। विज्ञानयोगिना 'भ्रातॄणामथ दम्पत्योः' इति वचनव्याख्याने तस्माद्भार्याया अपि द्रव्यस्वामित्वमस्ति अन्यथा स्तेयं स्यादिति, तत्तु दायहरत्वप्रतिपादकं न भवति किं त्वतिथिभोजनभिक्षाप्रदानादिस्वाम्यमात्रमित्यनुसन्धेयं । अपरार्केण तु 'यदि कुर्यात्समानंशान्' इत्यत्र अंशशब्दो विभाज्यद्रव्यैकदेशपरः। अतश्च पत्नीनामंशहरत्वं नास्तीति पत्युरिच्छया यत्किंचिद्देयमित्येवं परमिति । अतो मतत्रयेऽपि न दायभाक्त्वं स्त्रीणां अपित्वंशहरत्वं। तच्च स्त्रीधनसद्भावतारतम्यनिबन्धनं प्रागुक्तमनुसन्धेयं। भाष्यकारमते तु शूद्रपत्नीनां विभागो लोकाचार सिद्ध इति मन्तव्यं ।

यत्तु विष्णुनोक्तम्—'अनूढाश्च दुहितरः पुत्रभागानुसारिभागहारिण्या' इति; तत्त्वनूढेति विशेषणोपादानात् स्वविवाहार्थं पुत्रभागानुसारिभागग्रहणं यथाशक्ति; न पुनः मातॄणामिव जीवनार्थमंशहरत्वमिति गम्यते। अत एव देवलेनोक्तम्—

कन्याभ्यश्च पितुर्द्रव्यं देयं वैवाहिकं (धनम्) वसु। वैवाहिकं वसु—विवाहप्रयोजनकं धनमित्यर्थः। अत एवाह याज्ञवल्क्यः—

भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वाऽशं तु तुरीयकम्।

इति। अस्यार्थः—भगिन्यश्चासंस्कृता स्संस्कर्तव्या भ्रातृभिः; किं कृत्वा? निजादंशाच्चतुर्थमंशं दत्वा। अनेन दुहितरः पितुरूर्ध्वमंशभागिन्य इति गम्यते। अत्र निजादंशादिति प्रत्येकं परिकल्पितादंशात् उद्धृत्य चतुर्थांशो दातव्य इत्ययमर्थो न भवति। किं तु यज्जातीया कन्या तज्जातीयपुत्रभागात् चतु-

र्थांशभागिनी सा कर्तव्या। एतदुक्तं भवति—यदि ब्राह्मणजातीया सा कन्या तदा ब्राह्मणी पुत्रस्य यावानंशो भवति तस्य चतुर्थांशः तस्या भवतीति। तद्यथा—यदि कस्यचिद्ब्राह्मणी पत्नी' तत्र चैकः पुत्रः कन्या चैका तत्र तत्पित्र्यं सर्वमेव द्रव्यं द्विधा विभज्य तत्रैकं भागं चतुर्धा विभज्य तुरीयांशं कन्यायै दत्वा शेषं पुत्रो गृह्णीयात्। अथ तु द्वौ पुत्रावेका कन्या; तथाऽपि पितृधनं त्रेधा विभज्य तत्रैकं भागं चतुर्धा विभज्य तुरीयांशं कन्यायै दत्वा शेषं पुत्रौ विभज्य गृह्णीतः। अथ त्वेकः पुत्रः द्वे कन्ये तदा पितृधनं त्रेधा विभज्य एकं भागं चतुर्धा विभज्य द्वौ भागौ द्वाभ्यां कन्याभ्यां दत्वा शेषमंशं सर्वं पुत्रो गृह्णातीति। एवं समानजातीयेषु समविषमेषु भ्रातृभगिनीषु योजनीयं। यदा तु ब्राह्मणीपुत्रः एकः क्षत्रिया कन्यैका तत्रापि पित्र्यं द्रव्यं सप्तधा विभज्य क्षत्रियापुत्रभागान् त्रीन् चतुर्धा विभज्य तुरीयांशं क्षत्रियाकन्यायै दत्वा शेषं सर्वं ब्राह्मणीपुत्रो गृह्णाति। यदा तु द्वौ ब्राह्मणापुत्रौ क्षत्रिया कन्यैका तत्र पित्र्यं धनमेकादशधा विभज्य तेषु त्रीनंशान् क्षत्रियापुत्रभागान् चतुर्धा विभज्य चतुर्थांशं क्षत्रियाकन्यायै दत्वा शेषं सर्वं ब्राह्मणी पुत्रौ गृह्णीतः। एवं जातिवैषम्ये भ्रातॄणां भगिनीनां च संख्यायास्साम्ये वैषम्ये च सर्वत्रोह्यम्। नतु 'दत्वांशं तु तुरीयकमिति' तुरीयांशविवक्षया संस्कारमात्रोपयोगि द्रव्यं दत्वेति व्याख्यानं युक्तं। वचनविरोधात्।

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यस्स्वं दद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतितास्स्युरदित्सवः॥

इति।

इति। अस्यार्थः—ब्राह्मणादयो भ्रातरः ब्राह्मणीप्रभृतिभ्यो भगिनीभ्यः स्वजातिविहितेभ्योंऽशेभ्यः 'चतुरंशान् हरेद्विप्र' इत्यादि वक्ष्यमाणेभ्यस्स्वात्स्वादंशादात्मीयादात्मीयात् भागाच्चतुर्थ--तुरीयं भागं दद्युः। न च स्वात्मीयभागादुद्धृत्य चतुर्थांशो देय इत्युच्यते; किं तु स्वजातिविहितादेकस्मादंशात्पृथक्पृथगेकैकस्यै कन्यायै चतुर्थांशो देय इति। जातिवैषम्ये संख्यावैषम्ये च विभागक्लृप्तिरुक्तैव। "पतितास्स्युरादित्सव" इति अदाने प्रत्यवायश्रवणात् अवश्यदातव्यता प्रतीयते। अत्रापि चतुर्भागवचनमविवक्षितं; संस्कारोपयोगिद्रव्यदानमेव विवक्षितमिति चेन्न; स्मृतिद्वयेऽपि चतुर्थांशदानाविवक्षायां प्रमाणाभावात्। अदाने प्रत्यवायश्रवणाच्चेति। यदपि कैश्चिदुक्तं—अंशदानविवक्षायां बहुभ्रातृकाया बहुधनत्वं बहुभगिनीकस्य निर्धनता प्राप्नोतीति; तदुक्तरीत्या परिहृतमेव। न ह्यत्रात्मीयाद्भागादुद्धृत्य चतुर्थांशस्य दानमुच्यते; येन तथा स्यात्; तस्मात्पितुरूर्ध्वं कन्याप्यंशभागिनी। पूर्वं तु यत्किञ्चित्पिता ददाति तदेव; विशेषवचनाभावादिति। एतच्च सर्वं असहायमेधातिथि विज्ञानयोगिप्रदीपकारादीनां मतं। एतन्मतं भारुचयपरार्कप्रभृतयो न मन्यन्ते; पितुरूर्ध्वं जीवति वा पितरि कन्या नांशभागिनी; जीवति पितरि पित्रा स्वेच्छया पुत्रिकाणां यत्किंचिद्दातव्यं। पितर्युप्ररते भ्रातृभिरप्यनूढानां संस्कारोपयोगि अप्रतिष्ठितानां प्रतिष्ठोपयोगि द्रव्यं दातव्यं। न तु ताश्चतुर्थांशहरा इति। चतुर्थांशप्रतिपादकवचनानि तु संस्कारोपयोगि द्रव्यप्रतिपादनपराणिप्रतिष्ठोपयोगिद्रव्यप्रतिपादनपराणि। 'अनूढानामप्रतिष्ठितानामेवांशो दातव्य' इति विष्णुवचने

अनूढात्वाप्रतिष्ठितत्वविशेषणविशेषितानामेव भगिनीनामंशदानं प्रतीयते। तच्च प्रतिष्ठोपयोगि विवाहोपयोगि वा प्रतीयते। "पतितास्स्युरदित्सव" इत्यदाने प्रत्यवायस्मरणं तु प्रतिष्ठोपयोगिद्रव्यदानेन प्रतिष्ठाया अकरणे संस्कारोपयोगिद्रव्यदानेन संस्काराकरणे प्रत्यवाय इत्यर्थकयवगन्तव्यम्। जीवति पितरि दुहितॄणां यत्किंचिद्दानमेवमजीवति पितरि । दृष्टार्थत्वे सिद्धे अदृष्टकल्पना अन्याय्या एतासां स्मृतीनां न्यायमूलत्वादिति भारुच्यपरार्कयज्ञपत्यादीनां मतम् । अत एव बृहद्विष्णुनोक्तं—

'अनूढानां च कन्यानां स्ववित्तानुसारेण संस्कारं कुर्यात्।

इति । अत्र विशेषमाह शङ्खः—

विभज्यमाने दायाद्ये कन्यालङ्कारं वैवाहिकं स्त्रीधनं च कन्या लभेत इति । कन्यालङ्कारं–कन्यया स्वधृतमलङ्कारं स्त्रीधनं–मातृधनं । अत्र बोधायनः—

मातुरलङ्कारं दुहितरः सांप्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वेति। सांप्रदायिकं मातृपरम्परायातं । अन्यत्तदितरत् भ्रातृभिः स्वेच्छया दत्तं कुमार्यो लभेरन् । दुहितरः सांप्रदायिकं लभेरन्नित्यस्यापवादमाह याज्ञवल्क्यः—

मातुर्दुहितरश्शेषमृणात्ताभ्य ऋतेऽन्वयः ।

इति। मातुर्धनं दुहितरो विभजेरन् यथाक्रमं ऋणाच्छेषं–तत्कृतर्णापाकरणावशिष्टं । एतदुक्तं भवति–मातृकृतमृणं पुत्रैरेवापाकरणीयं न दुहितृभिः । ऋणावशिष्टं मातृधनं दुहितरो गृह्णीयुरिति। युक्तं चैतत्—

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।

इति। स्त्र्यवयवानां दुहितृषु बाहुल्यात् स्त्रीधनं दुहितृगामि ।

पितृधनं पुत्रगामि; पित्रवयवानां पुत्रेषु बाहुल्यादिति। अत्र गौतमेन विशेषो दर्शितः—

स्त्रीधनं दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च इति। अस्यार्थः— प्रत्ताप्रत्तासमवाये अप्रत्तानामेव स्त्रीधनं; प्रत्तासु च प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितासमवाये अप्रतिष्ठितानामेवेति। अप्रत्ताः—अनूढाः अप्रतिष्ठिताः—निर्धनाः। दुहित्रभावे मातृधने ऋणावशिष्टं को गृह्णीयादित्यत आह—ताभ्य ऋतेऽन्वयः इति। ताभ्यो— दुहितृभ्यो विना दुहितृणामभावे अन्वयः—पुत्रादिः गृह्णीयात्। एतच्च पित्रोरूर्ध्वं विभजेरन्नित्यनेनैव सिद्धं स्पष्टार्थमुक्तमिति विज्ञानयोगी। एतच्च 'मातुर्दुहितरः शेषमिति वचनमन्यथा व्याकुर्वन्ति भारुचिप्रभृतयः— पुत्राभावे मातृधनं दुहितरो विभजेरन्। तदभावे स्वान्वयः—पितृव्यादिः गृह्णीयात्, 'दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुरिति' स्मृतेः। ऊर्ध्वं—धनस्वामिनः पुत्रिकादेरभाव इत्यर्थः। दायादाः—धनस्वामिपुत्रिकापितृव्यादयः। अत एवोक्तं सङ्ग्रहकारेण—

पितृद्वाराऽऽगतं द्रव्यं मातृद्वाराऽऽगतं च यत्।
कथितं दायशब्देन तद्विभागोऽधुनोच्यते॥

इति। मातृद्वाराऽऽगतद्रव्यस्य दायशब्दवाच्यत्वात् दायार्हत्वं पुत्राणामेव। न तु स्त्रीणां; "तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया आदाया(दीः) दाः" इति श्रुतेः। 'स्त्रीणां दायविभागो नास्ति निरिन्द्रियत्वादिति' गौतमस्मृतेश्च। भ्रातृसद्भावे दुहितृणां मातुरलङ्कारादिकं भ्रातृणामिच्छया यत्किञ्चिद्देयं; तदेव ग्रहीतव्यं नाऽन्यदिति प्रतिपादयन्तः। अत्र विशेषमाह हरीतः—

अनेडमूका जात्यन्धा विकलाङ्गाश्च कन्यकाः।

संस्कार्याः पैतृकाद्रिक्थाद्भ्रातृभिः मनुरब्रवीत् ॥

अनेडमूकाः—वक्तुं श्रोतुमसमर्थाः। विकलाङ्गाः—न्यूनाङ्गा अधिकाङ्गाश्च। पैतृकाद्रिक्थादिति सामान्यनिर्देशात्सर्वं वा रिक्थं भ्रातृभिः वराय दत्वा संस्कर्तव्या इति वचनार्थः। केचिदनेडमूकत्वादिदोषदुष्टानां विवाहसंक्सारो नेति वदन्ति; तदपास्तमिति वेदितव्यं। मनुरपि दायानर्हानाह—

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः॥

अस्यार्थः—अनंशौ क्लीबपतिताविति द्वित्वोक्त्या दायार्हभ्रातृभिः रिक्थग्राहैर्वा योषिद्ग्राहैर्वा पोष्यौ; जात्यन्धबधिराविति द्वित्वोक्त्या तयोरंशोऽस्त्येव; किं त्वंशयुक्तावपि पोष्यौ विवाहसंस्कारसद्भावात्। तथाशब्दप्रयोगेण पङ्ग्वदयः विवाहसंस्कारार्हाश्चेदंशहराः पोष्यश्चेति रहस्यम्। उन्मत्तजडमूकाश्चेति समुच्चयोक्त्या तेऽपि भर्तव्या एव नांशहराः। विवाहार्हा न चेदिति शेषः। 'ये च केचिन्निरिद्रिया' इति स्त्रीणामप्युपलक्षणं निरिन्द्रियाणां स्त्रीणां सपत्नीदुहितृभगिनीप्रभृतीनां पुंसां च भ्रातृतत्सुतभ्रातृव्यादीनां मातुलादीनां च संरक्षणं कार्यमिति। केचित्तुनिरिन्द्रियाः व्याधिना विनष्टघ्राणादीन्द्रिया इत्याहुः। यत्तु नारदेनोक्तम्—

पितृद्विट् पतितः षण्डो यश्च स्यादवपातितः।
औरसा अपि नैवांशं लभेरन् क्षेत्रजाः कुतः॥

अवपातितो—महापराधो बान्धुभिः बहिष्कृतः। पतितषण्डौ स्पष्टौ। पितृद्वेषो नामासौ मम पिता नेत्येवं रूपः, अन्यथा पितुः पक्षपाते पुत्राणां द्वेषसंभवे तत्र भागस्य विहितत्वात्। वसिष्ठोऽपि 'अनं-

शास्त्वाश्रमान्तरगा' इति । गृहाश्रममुपेक्ष्येति शेषः । अत एवाह देवलः—

'मृते न पितरि क्लीबकुष्ठोन्मत्तजडा (न्धकाः) दयः ।
पतितः पतितापत्यं लिङ्गी दायांशभागिनः ॥

मृते पितरि क्लीबादयो दायांशिनो न भवन्तीत्यर्थः । लिङ्गी नैष्ठिकवनस्थादिः क्षपणकपाशुपतादिश्च । पतितापत्यमिति पातित्यदशायामुत्पन्नः पुत्रः । तत्पूर्वोत्पन्नस्य पुत्रस्य पितृगतपातित्यदोषानुषङ्गाभावात् । पितापुत्रसंबन्धो लौकिकः पातित्यादौ निवर्तत इति पुरस्तान्निवेदयिष्यते । तथा च विष्णुः—

'तेषामेवौरसाः पुत्राः भागहारिणो न तु पतितस्य पतनीये कृते कर्मण्यनन्तरोत्पन्नाः । प्रतिलोमासु स्त्रीषूत्पन्नाश्चाभागिनः तत्पुत्राः पैतमाहेऽप्यर्थे' ।

इति । मृते पितरीत्यत्रापिशब्दोऽध्याहार्यः; पितरि मृतेऽप्यमृतेऽपीति क्लीबादयो नांशहरा इति व्याख्येयं । तथाचाहापस्तम्बः—'जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत्समं क्लीबमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्येति' । परिहाप्य—वर्जयित्वा । चशब्दो विवाहानर्हाणामुपलक्षकः । चन्द्रिकाकारस्तु मृते पितरीति विभागकालप्रदर्शनार्थमुक्तमित्याह । तेन विभागकाले स्थिते क्लैब्यादिशालिनामप्यभागहरत्वं । न पुनः क्लैभ्यबाधिर्यादिशालिनामेवेति मन्तव्यमिति । यत्तु याज्ञवल्क्येयनोक्तम्—

औरसाः क्षेत्रजाश्चैषां निर्दोषा भागहारिणः ।

इति । तद्वापरादियुगविषयमिति मन्तव्यं । कलौ क्षेत्रजपुत्रनिषेधात् । तथा च निरंशकपुत्राणामंशग्रहणविरोधिव्याध्याद्यभावे पैतामहधनप्राप्तिः ।

तत्पुत्राः पितृदायांशं लभेरन् दोषवर्जिताः ।

इति देवलवचनात् । दोषाः—क्लैब्यादयः । अत्र याज्ञवल्क्यः—

क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पङ्गुरुन्मत्तको जडः ।
अन्धाचिकित्स्यरोगाद्या भर्तव्यास्ते(स्युर्नि)निरंशकाः ॥

तज्जः—पतितोत्पन्नः आद्यशब्दो निरिद्रियादिसङ्ग्रहार्थः । भरणं यावज्जीवं—'यावज्जीवं भर्तव्या' इति मनुस्मृतेः । भिन्नजातीयानां भागे विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

चतुस्त्रिद्व्येकभागास्स्युः वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः ।
क्षत्रजास्त्रिद्व्येकभागा विड्जास्तु द्व्येकभागिनः ॥

ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्याः । क्षत्रियस्य तिस्रः । वैश्यस्य द्वे । शूद्रस्यैकैव भार्येति तिस्रो वर्णानुपूर्व्येणेति दर्शिताः । तत्र ब्राह्मणोत्पन्नाः वर्णशब्देन ब्राह्मणादिवर्णा उच्यन्ते । वीप्सायांशस्प्रत्ययः । अतश्च वर्णेवर्णे ब्राह्मणोत्पन्ना यथाक्रमं चतुस्त्रिद्व्येकभागास्युः । एतदुक्तं भवति—ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्ना एकैकशश्चतुरश्चतुरो भागान् लभन्ते । तेनैव क्षत्रियायामुत्पन्ना त्रींस्त्रीन् । वैश्यायामुत्पन्ना द्वौद्वौ । शूद्रायामुत्पन्नाः एकैकमिति । क्षत्रजाः—क्षत्रियोत्पन्नाः । वर्णश इत्यनुवर्तते । यथाक्रमं त्रिद्व्येकभागाः क्षत्रियेण क्षत्रियायामुत्पन्नाः प्रत्येकं त्रींस्त्रीन् भागान् लभन्ते । वैश्यायामुत्पन्ना द्वौद्वौ । शूद्रायां मुत्पन्ना एकमेकमिति । विड्जा—वैश्यजाः वर्णशो द्व्येकभागिनः । वैश्येन वैश्यायामुत्पनाः द्वौद्वौ लभन्ते । शूद्रेण शूद्रायामेकमेकं लभन्ते । शूद्रस्यैकैव भार्येति भिन्नजातीयपुत्राभावात् । तत्पुत्राणां पूर्वोक्त एक एव समविभागः । एतच्च स्मृत्यन्तरानुसारेणोक्तं याज्ञवल्क्येन । तन्मते ब्राह्मणस्य शूद्राविवाहस्य निषिद्धत्वात् ।

यत उक्तं तेनैव—

न तन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम् ।

इति । तदिति शूद्राविवाहो ब्राह्मणकर्तृकः परामृश्यते ।

विभाज्यद्रव्यमाह कात्यायनः—

पैतामहं च पित्र्यं च यच्चान्यत्स्वयमार्जितम् ।
दायादानां विभागेऽपि सर्वमेतद्विभज्यते ॥

स्वयमार्जितं—पित्राद्यविभक्तद्रव्योपयोगेन स्वयमार्जितं । तदन्यथा स्वयमार्जितस्याविभाज्यद्रव्यत्वात् । यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत्स्वयमार्जितम् ।
मैत्रमौद्वाहिकं चैव दयादानां न तद्भवेत् ॥
क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमभ्युद्धरेत्तु यः ।
दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥

मातापित्रोर्द्रव्याविनाशेन यत्स्वयमार्जितं । मैत्रं—मित्रसकाशात् लब्धं । औद्वाहिकं—विवाहाल्लब्धं दायादानां—भ्रात्रादीनां न तद्भवेत् । किञ्च क्रमादभ्यागतं—पितृक्रमात्क्रमायातं यत्किञ्चिद्द्रव्यमन्यैर्हृतमसामर्थ्यादिना पित्रादिभिरनुद्धृतं यः पुत्राणां मध्ये उद्धरेत् । तद्दायादेभ्यो न दद्यात्–उद्धर्तैव गृह्णीयात् । तत्र विज्ञानयोगिना पुत्राणां मध्ये इतराभ्यनुज्ञया य उद्धरति तद्दायादेभ्यो न दद्यादित्युक्तम् । तन्नसहते अपरार्कः—इतराभ्यनुज्ञयैव तेषां तदंशे अनधिकारादेतद्वचनवैयर्थ्यात् । क्षेत्रे तुरीयांशं लभत इत्याह शङ्खः—

पूर्वनष्टां तु योभूमिमेकश्चेदुद्धरेत् क्रमात् ।
यथाभागं लभन्तेऽन्ये दत्त्वाऽशं तु तुरीयकम् ॥

इति । क्रमादित्यत्र अभ्यागतमिति शेषः । यदन्यत्स्वयमार्जितमि-

त्यस्यार्थो मनुना स्पष्टीकृतः । तथाहि—

अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत् ।

श्रमेण—श्रमजनितकृष्यादिनेति यावत् । पितृद्रव्यमित्यत्र पितृग्रहणमविभक्तोपलक्षणार्थं । अनुपघ्नन्—अपीडयन् । व्यासोऽपि—

अनाश्रित्य पितृद्रव्यं स्वशक्त्याऽप्नोति यद्धनम् ।
दायादेभ्यो न तद्दद्यात् ।

इति प्राह । प्रजापतिरपि—

विद्याशौर्यश्रमैर्लब्धं स्त्रीधनं माधुपर्किकम् ।
मैत्रमौद्वाहिकं चैव भ्रातृभिर्न विभज्यते ॥

इति । विद्यया—वेदाध्ययनेन अध्यापनेन वा वेदार्थव्याख्यानेन वा यल्लब्धं तदपि दायादेभ्यो न दद्यात् । आर्जक एव गृह्णीयात् । एवंविधेषु स्थलेषु द्रव्यस्यैकनिष्ठत्वेऽपि विभक्तत्वमस्तीति भारुचिना प्रागेव प्रपञ्चितं । विद्याधनस्वरूपमाह कात्यायनः—

उपन्यस्य तु यल्लब्धं विद्यया पणपूर्वकम् ।
विद्याधनं तु तद्विद्याद्विभागे न नियुज्यते ॥
शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात्सन्दिग्धप्रश्ननिर्णयात् ।
सुज्ञानशंसनाद्वादाल्लब्धं प्राध्ययनाच्च यत् ॥
विद्याधनं तु तत्प्राहुः विभागे न नियुज्यते ।
परं निरस्य यल्लब्धं विद्यातो द्यूतपूर्वकम् ॥
विद्याधनं तु तद्विद्यान्न विभाज्यं बृहस्पतिः
विद्याप्रतिज्ञया लब्धं शिष्यादाप्तं च यद्भवेत् ।
ऋत्विजा येन यल्लब्धमेतद्विद्याधनं भृगुः ॥

प्राध्ययनं—घटिकाशतकादि निर्माणं । धनं विनाध्ययनं (अन्न

दानाध्ययनं) वा। अत्र च पितृद्रव्याविरोधेन यत्किञ्चित्स्वयमार्जितमिति सर्वशेषः। अतश्च पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रमार्जितं पितृद्रव्याविरोधेन यदौद्वाहिकं पितृद्रव्याविरोधेन यत्क्रमायातमुद्धृतं पितृद्रव्याविरोधेन विद्यया यल्लब्धमिति प्रत्येकमभिसंबध्यते। तथा च--पितृद्रव्याविरोधेन प्रत्युपकारेण यन्मैत्रं पितृद्रव्याविरोधेन आसुरादिविवाहेन च यल्लब्धं तथा पितृद्रव्याविरोधेन यत्क्रमायातमुद्धृतं तथा पितृद्रव्यव्ययलब्धया विद्यया यल्लब्धं तत्सर्वं सर्वैः भ्रातृभिर्विभजनीयम्। तथा पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्याविरोधेन प्रतिग्रहलब्धमपि विभजनीयम्। अस्य सर्वशेषत्वाभावे मैत्रमौद्वाहिकमित्यादि नारब्धव्यम्। अथ पितृद्रव्याविरोधेनापि यन्मैत्रादिलब्धं तस्याविभज्यत्वाय मैत्रादिवचनमर्थवदित्युच्यते। तथा सति समाचारविरोधो विद्यालब्धे नारदवचनविरोधश्च।

कुटुम्बं बिभृयाद्भ्रातुः यो विद्यामधिगच्छतः।
भागं विद्याधनात्तस्मात् स लभेताश्रुतोऽपि सन्॥

इति। पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्य भिन्नवाक्यत्वे प्रतिग्रहलब्धस्याविभाज्यत्वमाचारविरुद्धमापद्यते। एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना—'अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं' इत्याद्युक्तं प्राक्। विद्याधनस्याविभाज्यत्वलक्षणमुक्तं कात्यायनेन—

परभक्तोऽपयोगेन विद्या प्राप्ताऽन्यतस्तु या।
तया लब्धं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यते॥

परशब्दोऽत्र अविभक्तापेक्षया यद्व्यक्त्यन्तरं तत्र प्रयुज्यते। भक्तशब्दो द्रव्यमात्रोपलक्षकतया प्रयुक्तः। अतश्च पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्य सर्वशेषता युक्तेत्यनुसन्धेयम्। ननु पितृद्रव्याविरोधेन

यन्मैत्रादिना लब्धं द्रव्यं तदविभाज्यमिति न वक्तव्यं। विभागप्राप्त्यभावात्। यद्येन लब्धं तत्तस्यैव स्वं नान्यस्येति प्रसिद्धं। प्राप्तिपूर्वकश्च प्रतिषेधः; उच्यते—

समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वे तत्र समांशिनः।

इति प्राप्तस्यापवादः। अत्र हारीतः—

योगक्षेमं प्रचारान्न विभजेरन्।

इति। अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः। प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः। योगक्षेमशब्दार्थमाह लौगाक्षिः—

क्षेमं पूर्तं योगमिष्टमित्याहुः तत्त्वदर्शिनः।
अविभाज्ये च ते प्रोक्ते शयनासनमेव च॥

इति। तदयमर्थः—योगशब्देन अलब्धलाभकारणं श्रौतस्मार्ताग्न्यादिसाध्यमिष्टं कर्म लक्ष्यते। क्षेमशब्देन लब्धपरिपालनहेतुभूतं तटाकारमानिर्माणादि पूर्तं कर्म लक्ष्यते। तदुभयं पैतृकमपि पितृद्रव्यविरोधार्जितमप्यविभाज्यमिति। केचित्तु—योगक्षेमकारिणो राजमन्त्रिपुरोहितादय उच्यन्ते इत्याहुः। छत्रचामरशस्त्रवाहनप्रभृतय इत्यन्ये। प्रचारो—गृहारामादिषु प्रवेशनिर्गमनमार्गः सोऽप्यविभाज्यः। नारदस्तु विशेषमाह—

मात्रा च स्वधनं दत्तं यस्मै तु प्रीतिपूर्वकम्।
तस्याप्येष विधिर्दृष्टो मातापीष्टे पिता यथा॥

स्वधन इति शेषः। एष विधिः—अविभाज्यत्वविधिः पितृदत्तविषयोक्तः। यत्तूशनसा क्षेत्रस्याविभाज्यत्वमुक्तं—

अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्रकुलादपि।
याज्यं क्षेत्रं च पत्रं च कृतान्नमुदकं स्त्रियः'॥

तद्ब्राह्मणोत्पन्नक्षत्रियापुत्रविषयं—

न प्रतिग्रहभूर्देया क्षत्रियादिसुताय वै ।
यद्यप्येषां पिता दद्यात् मृते विप्रासुतो हरेत् ॥

इति स्मरणादिति विज्ञानेश्वरासहायमेधातिथीनामियं व्याख्या। भारुच्यपरार्कचन्द्रिकाकारादीनां तु याजनसकाशादुत्पन्नो लाभो विभजनीयः । क्षेत्रं चाखिलदायादानुमत्या विभजनीयं ।

दायादैर्नाभ्यनुज्ञातं यत्किञ्चित् स्थावरे कृतम् ।
तत्सर्वमकृतं ज्ञेयं यद्येकोऽपि न मन्यते ॥

इति प्रजापतिस्मरणात्

कौले रिक्थविभागेऽपि न कश्चित्प्रभुतामियात् ।
भोग (योग्यस्तु) एव तु कर्तव्यो नदानं न च विक्रयः ॥

इति । कौले—कुलक्रमागते स्थावरादौ न कश्चित्पित्रादिरपि रिक्थविभागे; अपिशब्दाद्विक्रयादौ प्रभुतामियात् । तत्र दायादानुमतिमन्तरेण न विभागविक्रयदानानि कुर्यादिति तस्यार्थ इति व्याख्यातवन्तः । यथोक्तं मनुना—

वस्त्रं पुष्पमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।
योगक्षेमप्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥

इति । वस्त्रस्याविभाज्यत्वं धृतानामेव नान्येषां । धृतानां तु वस्त्राणां न विभाग इति शङ्खलिखितौ। पितृधृतानि तु पितुरूर्ध्वं विभजतां श्राद्धभोक्त्रे दातव्यानि । यथाऽह बृहस्पतिः—

वस्त्रालङ्कारशय्यादि पितुर्यद्वाहनादिकम् ।
गन्धमाल्यैस्समभ्यर्च्य श्राद्धभोक्त्रे तदर्पयेत् ॥

इति । अश्वादिवाहनानां बहुत्वे तद्विक्रयोपजीविनां विभाज्यत्वमेव । अलङ्कारोऽपि यो येन धृतः स तस्यैव । अधृते

साधारणे विभाज्य एव—

पत्यौ जीवति यःस्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन् दायादाः भजमानाः पतन्ति ते ॥

इति स्मृतेः । अत्र धृतपदोपादानादधृतानां विभाज्यत्वं गम्यते । कृतान्नं—तुण्डुलमोदकादि । तण्डुलमोदकादीस्त्र तण्डुलकृतानि च तानि मोदकानि च तण्डुलमोदकानि । यच्चोक्तं मनुना—

तण्डुलानि च वस्त्राणि अलङ्कारश्च वाहनम् ।
[1]उदकं च स्त्रियश्चापि न विभाज्यास्समा अपि ॥

उदक-मुदकाधारः कूपादिः । तच्च मूल्यादिद्वारेण न विभाज्यं पर्यायेणोपभोक्तव्यम् । स्त्रियश्च दास्यो विषमा नः मूल्यद्वारेण विभाज्याः ; पर्यायेण कर्म कारयितव्याः । अथ पैतामहद्रव्ये पौत्राणां विभागे विशेषः प्रदर्श्यते । तत्र याज्ञवल्क्यः—

प्रमीतपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना ।

अविभक्तानां दिष्टं गतानां ये पुत्रास्तेषां पितृतो भागकल्पना । एतदुक्तं भवति—यथा अविभक्ता भ्रातरः पुत्रानुत्पाद्य दिष्टं गतास्तत्रैकस्य द्वौ पुत्रावन्यस्य त्रयः अपरस्य चत्वार इति पुत्राणां वैषम्ये तत्र द्वौ स्वपित्र्यंशमेकं लभेते ; अन्ये त्रयोऽप्येकमंशं पित्र्यं । चत्वारोऽप्येकमेवांशं लभेरन्निति । अत एव कात्यायनः—

स एवांशस्तु सर्वेषां भ्रातॄणां न्यायतो भवेत् ।

इति । स एवांशः—पित्र्यांशः । यद्यपि पितृभागहरत्वे अनेकपुत्राणां पितृभागकल्पना स्वा (स्यानतु) ननुरूपा ; तथाऽपि वाचनिकत्वादनुमन्तव्या । तथैव ससुतयोरविभक्तयोः भ्रात्रोः मध्ये कस्यचित् भ्राता मृतः तत्पुत्रस्तु पितृव्येण सार्धं विभजनीयः ।

---

[1] जलाशयः.

अविभक्तेऽनुजे प्रेते तत्सुतं रिक्थभागिनम् ।
कुर्वीत .................................... ॥

इति कात्यायनस्मृतेः । तथा च विष्णुः—

यद्येकः प्रमीतः द्वौ वा प्रमीतौ एको वा स्थितो द्वौ वा स्थितौ तत्पुत्रा विषमसमाः तत्रापि पितृतो भागकल्पनेति । अत्रापि नष्टानामपि पुत्राः पित्र्यानेवांशान् लभन्त इति वाचनिकी व्यवस्थेति विज्ञानेशः । अपरार्कभारुच्यादयस्तु प्रमीतपितृकाणां पितृद्वारागतद्रव्यदायस्य यथेष्टविनियोगार्हस्वत्वसंभवात् पितृस्वत्वस्यैव विभाग इति पितृतो भागकल्पनेति न्यायसिद्धार्थानुवादः । अत एवाह कात्यायनः—

स एवांशस्तु सर्वेषां भ्रातॄणां न्यायतो भवेत् ।

इत्याहुः । अत्र विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा ।
तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥

भूः—शालिक्षेत्रादिका । निबन्धः—नैगमादि—पण्यस्थले एकैकस्मिन्पण्ये प्रतिदिनं प्रतिमासं वा इयत्पण्यमेतस्य जीवनार्थं दातव्यमिति राजामात्यप्रधानपुरुषाधिकृतो निबन्ध इत्युच्यते । द्रव्यं—सुवर्णरजतादि स्पष्टं । यत्तु पितामहेन प्रतिग्रहक्रयादिना लब्धं तत्र पितुः पुत्रस्य च स्वाम्यं सदृशं समानं । हि यस्माल्लोकप्रसिद्धत्वादित्यर्थः । अतः पितुरिच्छयैव न विभागः । नापि पितृभागद्वयं । अतश्च—

विभागं चेत् पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान् ।

इत्येतत्स्वार्जितविषयमित्यवगन्तव्यम् । तथैव—

द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता ।

इत्येतदपि स्वार्जितविषयं—

जीवतोरस्वतन्त्रस्स्यात् जरयाऽपि समन्वितः ।

इति । एतदपि पारतन्त्र्यं मातापित्रार्जितद्रव्यविषयं । तथैव 'अनीशास्ते हि जीवतोः' इत्येतदपि। तथा सरजस्कायां मातरीत्येतत् । सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छयैव पितामहद्रव्यविभागो भवतीति ज्ञायते । तथा अविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पुत्रस्य पौत्रस्य प्रपौत्रस्य निषेधेऽप्यधिकारः । पित्रार्जिते तु न निषेधाधिकारः तत्परतन्त्रत्वात् । अनुमतिस्तु कर्तव्या । पैतृके पैतामहे च स्वाम्यं यद्यपि जन्मनैव; तथाऽपि पैतृके पितृपरतन्त्रत्वात् पितुश्चार्जकत्वेन प्राधान्यात् पित्रा विनियुज्यमाने स्वार्जिते द्रव्ये पुत्रेणानुमतिः कर्तव्या ।

असंभूय सुतान् सर्वान् न दानं न च विक्रयः ।

इति स्मरणाच्च ज्ञायते । पैतामहे तु द्वयोस्साम्यमविशिष्टमिति निषेधाधिकारोऽप्यस्तीति विशेषः । अत एवोक्तं मनुना—

स पैतृकं पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामस्स्वयमार्जितम् ॥

इति । अस्यार्थः—यत्पितामहार्जितं केनाप्यपहृतं पितामहेनानुद्धृतं यदि पितोद्धारति तत्स्वार्जितमिव पुत्रैस्सार्धमकामतः अनीहमानः स्वयं न विभजेदिति दर्शयतीति विज्ञायते । अत एव बृहस्पतिः—

द्रव्ये पितामहोपात्ते जङ्गमे स्थावरेऽपि वा ।
सममंशित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥

इति । व्यासोऽपि—

क्रमायाते गृहक्षेत्रे पुत्रपौत्रास्समांशिनः ।

अथ विभागानन्तरकालमुत्पन्नस्य विभागकल्पनामाह याज्ञवल्क्यः—

विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक् ।

अस्यार्थः—विभक्तेषु पुत्रेषु पश्चात्सवर्णायां भार्यायामुत्पन्नो विभागभाक् । विभज्यत इति विभागो–भागः–पित्रोर्भागः तं भजतीति विभागभाक् । पित्रोरूर्ध्वं तयोरंशं लभत इत्यर्थः । असवर्णायामुत्पन्नस्तु स्वांशमेव पित्र्याल्लभते । मातृकं तु सर्वमेवेत्याह विज्ञानेशः । उभयमपि सर्वमेवेत्याहुरपरार्कप्रभृतयः ।

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव धनं हरेत् ।

इति स्मृतेः । सामान्येन पित्रोरिदं पित्र्यमिति व्याख्याङ्गीकारात् । तथा—

अनीशः पूर्वजः पित्रोः भ्रातुर्भागे विभक्तजः ।

इति स्मरणात् । पित्रोः—मातापित्रोः विभागे–विभागात्पूर्वं उत्पन्नो न स्वामी । विभक्तजश्च भ्रातुर्भागे न स्वामीति वचनार्थः । तथा विभागोत्तरकालं पित्रा यत्किञ्चिदार्जितं तत्सर्वं विभक्तजस्यैव । तथा च विष्णुः—

पुत्रैस्सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमार्जितम् ।
विभक्तजस्य तत्सर्वं अनीशाः पूर्वजास्स्मृताः ॥

इति । ये च विभक्ताः पित्रा सह संसृष्टाः तैस्सार्धं पितुरूर्ध्वं विभक्तजो विभजेत् । तथाऽह मनुः—

संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैस्सह ।

इति । यत्र तु पितुः द्वौ वा त्रयो वा बहवः पुत्रास्तत्र

कतिभिः पुत्रैः विभक्तः कतिभिरविभक्तः अविभक्तानामेव पित्रार्जितद्रव्यमुपरते पितरि विभाज्यं। पश्चादेतैर्विभक्तः पिता चेत्तद्द्रव्यं पूर्वविभक्तानां पश्चाद्विभक्तानां पुत्राणामेव विभाज्यं न पत्न्याः। पत्नीदुहितर इत्यादि स्वामिना संक्रमक्रमो न पितृविषयः; अपि तु भ्रात्रादिविषय इति पुरस्तान्निवेदयिष्यते। विभागसमये भ्रातृभार्यायां मातरि चा स्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वं उत्पन्नस्य भागकल्पनमाह याज्ञवल्क्यः—

दृश्याद्वा तद्विभागस्यादायव्ययविशोधितात्।

एतदुक्तं भवति—प्रातिस्विकेषु भागेषु तदुत्पन्नमायं प्रवेश्य पितृकृतमृणमपनीय अवशिष्टेभ्यो भागेभ्यः किञ्चित्किञ्चिदुद्धृत्य विभक्तजस्य स्वभागसमः कर्तव्य इति। तद्विभागस्येति तस्य पितरि प्रेते भ्रातृविभागसमये अस्पष्टगर्भायां मातरि भ्रातृविभागोत्तरकालमुत्पन्नस्य विभागस्तद्विभाग इति विज्ञानेश्वरः प्राह। स्पष्टगर्भायां तु प्रसवं वीक्ष्य विभागः कर्तव्य इत्याह वसिष्ठः।

अथ भ्रातॄणां दायविभागो याश्चानपत्याः स्त्रियः तासामापुत्रलाभात्' इति गृहीतगर्भाणामाप्रसवं प्रतीक्षणीयमिति योजनीयं। अवशिष्टं पूर्वमेवोक्तमिति नेह प्रपञ्चयते। अयं च न्यायो देशान्तरगतस्यापि समान इत्याह बृहस्पतिः—

गोत्रसाधारणान् त्यक्त्वा योऽन्यदेशं समाश्रितः।
अर्धशस्त्वागतस्यांशः प्रदातव्यो न संशयः॥

गोत्रसाधारणान् त्यक्त्वा सर्वसहवासिनिवासदेशमुत्सृज्येत्यर्थः। अत्यन्तदीर्घकालप्रोषितस्य सद्भावाज्ञानतः कृतेऽपि विभागे तस्यापि भाग इत्याह स एव—

ऋणं लेख्य गृहं क्षेत्रं यस्य पैतामहं भवेत्।

चिरकालं प्रोषितोऽपि भागभागागतस्तु सः ।

भागभाग्धनभागित्यर्थः । आगतः—विभागादूर्ध्वमागतः । पौत्रादौ विशेषमाह स एव—

तृतीयः पञ्चमश्चैव सप्तमो योऽपि वा भवेत् ।
जन्मनामपरिज्ञाने लभेतांऽशं क्रमागते ॥

क्रमागतद्रव्यभाग इत्यर्थः । केचिदत्र क्रमागतस्य भूमात्रस्यांशो नान्यस्येत्याहुः । यथाऽऽह विष्णुः—मौलास्सामन्ता अन्वयिनं विदुस्तस्यागतस्य दातव्या गोत्रजैर्मही इति । क्रमागतद्रव्योपलक्षकमित्यपरे । अत्र विशेषमाह बृहस्पतिः—विभागादूर्ध्वमागतस्य पूर्वागतस्य वा स्वभागं ग्रहीतुं प्रवृत्तस्य दृष्टादृष्टप्रमाणेनादौ तावदात्मनः परायत्तद्रव्ये स्वाम्यं साधयतो भागहरणेऽधिकारो भवति ; नान्यथेति स्पष्टार्थः । विभक्तजः पुत्रः पित्र्यं मातृकं च धनं सर्वं गृह्णीत । तत्र यदि विभक्तः पिता माता वा विभक्ताय पुत्राय स्नेहवशादाभरणादिकं प्रयच्छति । तत्र विभक्तजेन दा.प्रतिषेधो न कर्तव्यः । नापि दत्तं प्रत्यादातव्यमिति । यथाऽऽह विष्णुः—

मातापितृभ्यां यद्दत्तं तत्तस्यैव धनम् ।

इति । न विभक्तजस्तत्रेष्ट इति—विभक्तजस्य स्वं न भवतीत्यर्थः । पित्रा यद्दत्तं तत्तस्यैवेति न्यायप्रतिपादनात् विभगात्प्रागपि यद्दत्तं तत्तस्यैवेति सिद्धं ।

अथ स्त्रीधनविभागः तत्र विष्णुः—

सौदायिकं स्त्री यथाकाममाप्नुयात् ।

इति । सौदायिकं भर्तृदत्तोपलक्षणकं । तथा च व्यासः—

यच्च भर्त्रा धनं दत्तं सा यथाकाममाप्नुयात् ।

इति । सौदायिकं नाम—

ऊढया कन्यया वाऽपि पत्युः पितृगृहेऽपि वा ।
भर्तुस्सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥

इति । लब्धं धनमिति शेषः । तथा च व्यासः—

यत्कन्यया विवाहे च विवाहात्परतश्च यत् ।
पितृभर्तृगृहात्प्राप्तं धनं सौदयिकं स्मृतम् ॥

ननु सौदायिकशब्दः स्वार्थे तद्धितान्तः । सुदाय एव सौदायिकं विनयादित्वात् ठक् । नन्वेतदनुपपन्नं—स्वार्थिकतद्धितान्तत्वेन स्त्रीणां दायानर्हत्वात् इति चेत्, मैवं; स्त्रीणां भर्तृदायार्हत्वात् । स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्त इति न्यायात्सौदायिकशब्दस्य नियतनपुंसकलिङ्गता । तथा च नारदः—

भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत् ।
सा यथाकाममश्नीयात् दद्याद्वा स्थावरादृते ॥

इति । अतश्च यथाकाममित्यनेन स्वातन्त्र्यमुक्तं । एवं च सौदायिके स्थावरेतरप्रीतिदत्ते स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिति मन्तव्यं । पुरुषाणां तु स्त्रीधने सर्वत्रास्वातन्त्र्यमेव। यथाह कात्यायनः—

न भर्ता नैव च सुतो न पिता भ्रातरो न च ।
आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः ॥

स्वामित्वाभावादित्यभिप्रायः । स्त्रीधनं तु अध्यग्न्यादिकं । तथाऽऽह मनुः—

अध्यग्न्यध्याहवनिकं दत्तं च प्रीतिपूर्वकम् ।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥

यच्च विवाहकाले अग्नावधिकृत्य मातुलादिभिर्दत्तं तदध्यग्नि ।

तथा च कात्यायनः—

विवाहकाले यत् स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसन्निधौ ।
तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥
यत्पुनर्नयते नारी नीयमाना पितुर्गृहात् ।
अध्याहवनिकं नाम स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥
प्रीत्या दत्तं च यत्किञ्चित् श्वश्र्वा वा श्वशुरेण वा ।
पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते ॥

पादवन्दनिकं—पादवन्दनावसरे भ्रातृमातृपितृभ्यः प्राप्तं । यदा कदा वा जीवनार्थमिति शेषः । षड्विधं इत्यादि न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थं ; नाधिकसंख्याव्यवच्छेदाय । अत एवाह याज्ञवल्क्यः—

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम् ।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥

आधिवेदनिकं—अधिवेदननिमित्तं ‘ अधिविन्नस्त्रियै दद्यात् ’ इति स्मृतेः । आद्यशब्देन रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमप्राप्तमेतद्धनं । अपरमपि स्त्रीधनमाह स एव—

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च ।

बन्धुभिः—कन्याया मातृबन्धुभिः पितृबन्धुभिश्च यद्दत्तं । शुल्कं नाम यद्गृहीत्वा कन्या दीयते तच्छुल्कमिति विज्ञानेशः । चन्द्रिकाकारस्तु—

गृहोपस्करवाह्यानां दोह्याभरणकर्मणाम् ।
मूल्यं लब्धं च यत्किञ्चिच्छुल्कं तत्परिकीर्तितम् ॥

इति । गृहोपस्करादीनां मूल्यं लब्धं कन्यागतत्वेन वरादिसकाशात् कन्यार्पणोपाधितयेति शेषः इति । अन्वाधेयं

नाम परिणयनादनुपश्चाद्वा आहितं दत्तं। उक्तं च कात्यायनेन—

> विवाहात्परतो यच्च लब्धं भर्तृकुलात् स्त्रिया।
> अन्वाधेयं तु तद्द्रव्यं लब्धं पितृकुलात्तथा॥

इति। स्त्रीधनं परिकीर्तितमिति संबन्धः। अत्र भारुचिः—शुल्कशब्देन कन्यामूल्यमुच्यते। तत्तु आसुरादिविवाह एवेति तत्तु निषिद्धमित्याह। अयमभिसन्धिः—आर्षविवाहे गोमिथुनं गृहीत्वा कन्या दीयते; 'आर्षे गोमिथुनेन गोद्वयेन वा' इति विष्णुस्मरणात्। तदेव कन्याया मातुः स्त्रीधनमिति अनिषिद्धता। यद्वा निषिद्धमस्त्वासुरादिविवाहे द्रविणादानं। अत्र निषिद्धत्वानिषिद्धत्वचिन्ता न प्रस्तुता; अपि तु विभाज्यत्वाविभाज्यत्वचिन्तेति न कश्चिद्विरोधः 'न भर्ता नैव तनयो न पिता' इत्यादिवचनस्य फलमाह स एव—

> यदि ह्येकतरो ह्येषां स्त्रीधनं भक्षयेद्बलात्।
> सवृद्धिकं प्रदाप्यस्स्याद्दण्डं चैव समाप्नुयात्॥
> तदेव यद्यनुज्ञाप्य भक्षयेत् प्रीतिपूर्वकम्।
> मूल्यमेव प्रदाप्यं स्याद्यद्यसौ धनवान् भवेत्॥

धनवान् भवेदित्यभिधानात् निर्धनो मूल्यमात्रमपि न दाप्य इत्यर्थः। अनुज्ञाप्य भक्षणेऽपि मूल्यदानाभिधानादेतदुक्तं भवति—स्त्रीधने भर्तुरस्वातन्त्र्यं न पुनः पारतन्त्र्यमात्रं। भार्यायास्तु विवाहसंस्कृतायाः भर्तुर्धने नित्यपरतन्त्रं स्वामित्वं संपद्यते। तेन भर्तुर्भार्यात्वमेकविधं न भवतीत्यवगन्तव्यं। अत एव स्त्रीधनभोगेऽप्यनर्हतां पत्युराह देवलः—

> वृत्तिराभरणं शुल्कं लाभश्च स्त्रीधनं भवेत्।

भोक्त्र्येतत्स्वयमेवेदं पतिर्नार्हत्यनापदि ॥
वृथा मोक्षे च भोगे च स्त्रियै दद्यात्सवृद्धिकम् ।

इति । वृत्तिर्वर्तनार्थं पित्रादिना दत्तं । शुल्कं कथितं । लभ्यत इति लाभः । एतदुक्तं भवति—गौरीव्रताद्यर्थं स्त्रिया यल्लभ्यते तदपि स्त्रीधनमिति । यद्वा लाभो—वृद्धिः पूर्वोक्तस्त्रीधनं परिकल्पितवृद्धिमूलत्वेन व्यवाह्रियते । सा च वृद्धिर्लाभशब्देनोच्यते । यद्यपि प्रयुक्तधनस्वामिन एव कल्पिता वृद्धिः; तथाऽपि धनप्रयोगे स्त्रीणामनधिकारात्पत्युरेव तदधिकारात् तथा शङ्का माभूदित्युपदिष्टं । स्वयमेवेत्येवकारोऽपत्यादीनां व्युदासार्थः । वृथा—आपदं विनेत्यर्थः । मोक्षस्त्यागः । अपदं विनेति वदन् अपदि तु पतिरेव स्त्रीधनं भोक्तुमर्हति नान्य इति दर्शयति । आपन्नाम कुटुम्बभरणार्थे द्रव्याभावः । तथा च याज्ञवल्क्यः—

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ सप्रतिरोधके ।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति ॥

धर्मकार्ये—नित्ये नैमित्तिके काम्ये च; क्वचिच्छान्तिके ग्रहयज्ञादौ । प्रतिरोधके—धनदानं विना निवारयितुमशक्यधनिकाद्यासेधादाविति चन्द्रिकाकारः । बन्दीग्रहणविग्रहादौ द्रव्यान्तराभाव इति विज्ञानेशः । अत्र मनुः विशेषमाह—

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात् किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥

इति । यथार्हतः—शीलोपयोगदारिद्र्यापेक्षयेत्यर्थः । तासां—भगिनीनां दुहितर इत्यर्थः । ननु भगिनीदुहितॄणां भ्रातृभगिनीसद्भावे मातामहीधने स्वामित्वाभावात्किमिति किञ्चित्प्रदीयत इति । सत्यं; प्रीतिपूर्वकं इत्युक्तत्वान्न दोषः । यथा पैतृके धने

कन्यानां दायार्हत्वाभावेऽपि वचनबलात् 'पतितास्स्युरादित्सव' इति निन्दास्मरणाच्च संस्कारोपयोगि प्रतिष्ठोपयोगि च द्रव्यं देयमिति प्रतीयते तथेहापीत्यर्थः। विष्णुस्तु विशेषमाह–'यौतकं मातुः कुमारीदाय एवेति' न सहोदराणामिति शेषः। यौतकमन्योन्यान्वितयोः वधूवरयोर्देयं यत्तद्धनं। युतयोरिति व्युत्पत्त्या यौतकं। गौतमस्तु विशेषमाह–'स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां चेति' सौदायिकादि स्त्रीधनं कुमारीणामप्रतिष्ठितानामनूढानां च दुहितॄणां स्वं भवतीत्यर्थः। अतश्च तद्धनं ताविव दुहितरो गृह्णीयुर्यथांऽशमित्यभिप्रायः। इयमपरार्कानुसाराद्गौतमवचनव्याख्या। विज्ञानेश्वरानुसारेण तु पूर्वमेव व्याख्यातं। भार्याया ऊर्ध्वं कन्याऽभावे भर्तुः भार्यारिक्थं भवेत्। तथा चाह याज्ञवल्क्यः—

अप्रजस्त्रीधनं भर्तुः ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि।
दुहितॄणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत्॥

अस्यार्थः—अप्रजास्त्रियाः पूर्वोक्तायाः ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्येषु चतुर्षु विवाहेषु भार्यात्वं प्राप्ताया अतीतायाः पूर्वोक्तं सौदायिकं धनं भर्तुर्भवति। तदभावे तत्प्रत्यासन्नानां सपिण्डानां भवति। शेषेषु आसुरगान्धर्वराक्षसपैशाचेषु विवाहेषु तत्—अप्रजस्त्रीधनं पितृगामि—माता च पिता च पितरौ तौ गच्छतीति पितृगामि। एकशेषनिर्दिष्टाया अपि मातुः प्राधान्यात्प्रथमं धनग्रहणं। पिता मात्रेत्येकशेषे मातुरेव प्राधान्यात्। तदभावे तत्प्रत्यासन्नानां धनग्रहणं। सर्वेष्वेव विवाहेषु प्रसूता अपत्यवती स्त्री चेद्दुहितॄणां तद्धनं भवति। अत्र दुहितृशब्देन दुहितृदुहितर उच्यन्ते। साक्षाद्दुहितॄणां 'मातुर्दुहितरश्शेषम्'

इत्यत्र उक्तत्वात्, अतः स्वमातृधनं मातरि वृत्तायां दुहितरो गृह्णन्ति। तत्र चोढानूढासमुदाये अनूढा गृह्णाति। तदभावे परिणीता। तत्रापि प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठिता गृह्णाति। एतद्विज्ञानेश्वरमतं भारुच्यपरार्कचन्द्रिकाकारादयो न मन्यन्ते। विज्ञानेश्वरेण स्वमतिमात्रपरिकल्पितत्वात्। अनेकाध्याहारपरिकल्पितत्वाच्च। गौतमवचने च 'स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां चेति सामान्येनाभिधानाच्चेति। एतच्च शुल्कव्यतिरेकेण। शुल्कं तु सोदर्याणामेव 'भगिनी शुल्कं सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः' इति गौतमवचनात्। मातुरूर्ध्वमित्यन्वयः। सर्वासां दुहितॄणां अभावे दुहितुर्दुहितरो गृह्णन्ति। 'दुहितॄणां प्रसूता चेत्' इत्यस्माद्वचनात्। तासां भिन्नमातृकाणां विषमाणां समवाये मातृद्वारेण भागकल्पना 'प्रतिमातृ स्वभाव' इति गौतमस्मरणात्। स्वभावः—स्वत्वं। प्रतिमातृ—मातरं मातरं मातृस्वत्वानुसारि तासां स्वत्वमित्यर्थः। अनपत्यहीनजातिस्त्रीधनं तु भिन्नोदराऽप्युत्तमजातिस्त्रीदुहिता गृह्णाति। तदभावे तदपत्यम्। तथा च मनुः—

स्त्रियास्तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथं चन।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत्॥

इति। ब्राह्मणीग्रहणं उत्तमजात्युपलक्षणमिति विज्ञानेशः। अतश्च अनपत्यवैश्याधनं क्षत्रियकन्या गृह्णाति। दुहितॄणां पुत्राणां च मातृधनसम्बन्धात्। तथा च मनुः—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥

इति। मातृकं रिक्थं सर्वे सहोदराः समं भजेरन्। सनाभयो

भगिन्यश्च समं भजेरन्निति संबन्धः। न पुनः सहोदरा भगिन्यश्च संभूय समं विभजेरन् इति। पूर्वोक्तक्रमप्रतिपादकवचनविरोधात्। विभागकर्तृत्वान्वयेनापि चशब्दोपपत्तेश्च। यथा देवदत्तः पचतु यज्ञदत्तश्चेति। समग्रहणमुद्धारानिवृत्त्यर्थं। सोदरग्रहणं भिन्नोदरनिवृत्त्यर्थं। अत एव विष्णुः 'भगिनीशुल्कं मातुः सोदराणामेवेति। अयमर्थः—भगिनीशुल्कात्मकं स्त्रीधनं मातुरेव। मातुरभावे सोदराणामेव न भिन्नोदराणामित्यर्थः। यत्तु गौतमसूत्रम्—'भगिनीशुल्कं सोदराणामूर्ध्वं मातुरिति' तत् मातुरूर्ध्वं सोदराणामित्यन्वयपरं। तथाऽऽह बोधायनः—

'स्त्रीधनं मातृगामि तदभावे सोदरभ्रातृगामीति' स्त्रीधनं-कन्याशुल्कं। अतश्च कन्याशुल्कविषयसोदरासोदरविभागे सोदराणामपि किञ्चिद्देयमित्यसहायव्याख्यानमसहायं। भगिनीशुल्कं सोदराणां 'ऊर्ध्वं मातुः' इत्यादिषु स्मृतिषु भगिनीशुल्करूपे सर्वस्मिन् धने सोदराणामेव स्वाम्यप्रतिपादनात्। पुत्राणामभावे पौत्राः पितामहधनहारिण' इति वचो भङ्ग्याऽऽह गौतमः—'ऋणप्रदातारश्च रिक्थभाजः ऋणं प्रतिकुर्युः' इति। 'पुत्रपौत्रैः ऋणं देयमिति' पौत्राणामपि पितामहर्णापाकरणे अधिकारात्। नन्वेवं 'मातामह्यां वृत्तायां तदौर्ध्वदैहिके दौहित्रस्यैवाधिकारात् पुत्रपौत्रद्रव्यसमुदायेनैव और्ध्वदैहिकक्रियां कुर्युरिति' विष्णुवचनविरोधस्स्यादिति चेन्मैवं। षोडशश्राद्धेष्वेव पुत्रपौत्रधनसंसर्गः; तत्प्रेतत्वनिवृत्तेरुभयाकाङ्क्षितत्वादिति भारुचिना विषयव्यवस्थायाः कृतत्वात्। पौत्राणामप्यभावे विभागक्रममाह याज्ञवल्क्यः—

अतीतायामप्रजासि बान्धवाः तदवाप्नुयुः।

अस्यार्थः — तत् पूर्वोक्तस्त्रीधनं अप्रजसि अनपत्यायां—दुहितृदौहित्रपुत्रपौत्ररहितायां स्त्रियामतीतायां बान्धवाः— भर्त्रादयो गृह्णन्तीति । यथाऽऽह मनुः—

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्धनम् ।
अतीतायामप्रजासि भर्तुरेव तदिष्यते ॥

इति । यत्तु कात्यायनेनोक्तं—

बन्धुदत्तं तु बन्धूनां ह्यभावे भर्तृगामि तत् ।

तदप्युक्तपञ्चविधेतरविवाहसंस्कृतस्त्रीधनविषयम् । 'अन्यथा शुल्कं शुल्कदातुरेव स्यात् । भगिनीशुल्कं सोदराणामूर्ध्वं मातुः' इति गौतमवचनाविरोधस्स्यात् । शुल्काख्यस्त्रीधनस्य दातारो वरादयः तेषां दातृत्वेऽपि तद्धनं न भवति । किन्तु स्वामिनां सोदर(र्य)भ्रातृणां, तेषां तन्मातुरभावे भवतीत्यर्थ । अत एव भगिनीशुल्कं नामार्षविवाहे गोमिथुनमेव नासुरादिविवाहे । तत्र तद्दातुरेव तद्धनविधानात् । यत्तु भारुचिव्याख्यानं तत्प्रौढिवादमात्रमित्यनुसन्धेयम् । यत्तु वैवाहिकं शुल्कं प्रकृत्य शङ्खनोक्तम्—

'स्वं च शुल्कं वोढेति' वोढा—वरः । स्वं स्वयमेव शुल्कं गृह्णीयादिति । तदपरिसमाप्ते विवाहे मृतायां वध्वां द्रष्टव्यं । विवाहसमाप्तिः—विवाहहोमपरिसमाप्तिः । अनेनैवाभिप्रायेण याज्ञवल्क्येनाप्युक्तं—

'मृतायां दत्तमादद्यात्' इति । दत्तं शुल्कमलङ्कारादिकं वा आदद्यात् वोढेति शेषः । वाग्दत्ता या संस्कारात्प्राक् म्रियते तद्विषयं वचनमित्याह । गौणमातृपरिगणनपूर्वकं तद्धनहर्तृनाह

बृहस्पतिः -

मातृष्वसा मातुलानी पितृव्यस्त्री पितृष्वसा ।
श्वश्रूः पूर्वजपत्नी च मातृतुल्याः प्रकीर्तिताः ॥
यदाऽऽसामौरसो न स्यात्सुतो दौहित्र एव वा ।
तत्सुतो वा धनं तासां स्वस्रीयाद्यास्समाप्नुयुः ॥

इति । स्वस्रीयो धनस्वामिनो भागिनेयः । स च स्वमातृष्वसुर्धनमाप्नुयात् । एवमाद्यशब्दपरिगृहीता यथाक्रमं स्वीयमातृतुल्याया धनं समाप्नुयुः । एवमेव सपत्नीसन्तानोऽप्युपमातृधनं तत्सन्तानतद्भ्रात्राद्यभावे समाप्नुयात् । आधिवेदनिके स्त्रीधने विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

अधिविन्नस्त्रियै दद्यादाधिवेदनिकं समम् ।
न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै दत्ते त्वर्धं प्रकीर्तितम् ॥

यस्या उपरि विवाहान्तरं सा अधिविन्ना स्त्री । तस्यै अधिविन्नस्त्रियै । आधिवेदनिकं अधिवेनानिमित्तं धनं अधिवेदनप्रयोजनकं 'प्रयोजनं' इति ठक् । यावदधिवेदनार्थं व्ययीकृतं तावद्दद्यात् ; यस्यै भर्त्रा श्वशुरेण वा स्त्रीधनं न दत्तं स्यात् । दत्ते स्त्रीधने आधिवेदनिकस्य द्रव्यस्यार्धं दद्यात् । यावत्पूर्वदत्तं आधिवेदनिकसमं भवति तावद्देयमित्यर्थः । अत्र स्त्रीधनस्य दुहित्रादिसंबन्धः प्रत्यासत्तितारतम्यन्यायनिबन्धनो न वाचनिकः । प्रत्यासत्तितारतम्यं च 'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रिया' इति विज्ञानेश्वरेण प्रतिपादितमित्युक्तं प्राक् । अत्र विवदन्ते वृद्धाः—स्त्रीधनं दायशब्दवाच्यं न वेति । 'तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रियः अदायादीः' इति श्रुतेः स्त्रीणां दायानर्हत्वात् । स्त्रीधनविभागो न दायधनविभागः किंतु तद्धनविभाग इति व्यवहारः ।

यत्तूक्तं सङ्ग्रहकारेण—

पितृद्वाराऽऽगतं द्रव्यं मातृद्वाराऽऽगतं च यत् ।
कथितं दायशब्देन तद्विभागोऽधुनोच्यते ॥

इति । तत्तु यथा पितृद्वाराऽऽगतं द्रव्यं दायशब्देन कथितं दायशब्दवाच्यं तद्वन्मातृद्वाराऽऽगतमपि दायशब्दवाच्यं । अतश्चैकशब्दस्यार्थद्वयाङ्गीकारे शक्तिगौरवं स्यादिति अन्यत्र वृत्त्यन्तरं स्वीकार्यं । अतः स्वमातृद्वाराऽऽगतं द्रव्यं दीयते ददातीति वा व्युत्पत्त्या गौणवृत्त्या दायशब्दार्थ इत्याहुर्भारुच्यपरार्कसोमेश्वराचार्यप्रभृतयः । विज्ञानेश्वरासहायमेधातिथिप्रभृतयस्तु 'तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया' इति श्रुतेर्निरिन्द्रियश्रवणमत्यन्तनिरिन्द्रियविषयं न भवति । अपि त्वल्पेन्द्रियपरं ।

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ॥

इत्यत्र अधिकतालपत्वप्रतीतेः । न केवलमत्यन्तनिरिन्द्रियत्वं स्त्रीणामिति दायार्हत्वं स्त्रीणामप्यस्ति । किं तु पितृपुत्रविभागे पुत्राणां प्राधान्यात्तत्रैव स्त्रीणां दायानर्हत्वाद्यत्किञ्चित्प्रीतिदानार्हत्वं स्त्रीणामप्यस्तीत्येवं पराश्रुतिः । अत एव सङ्ग्रहकारवचनं—पितृद्वाराऽऽगतं द्रव्यं मातृद्वाराऽऽगतं चेत्युभयं दायशब्दवाच्यमिति स्वरसोऽर्थः संपद्यत इति गतमपि स्पष्टार्थं पुनरुक्तम् ।

अथ द्व्यामुष्यायणस्य विभागे विशेषः कथ्यते ।

तस्य स्वरूपमाह याज्ञवल्क्यः—

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥

इति । अतश्च द्विपितृको द्व्यामुष्यायणः द्वयोरपि रिक्थहारी

पिण्डदाता च। परक्षेत्र इत्यस्यायमर्थः—परस्य क्षेत्रं भार्या। तस्याः परक्षेत्रत्वं वाग्दानमात्रेण। न तु परिणयनेन। परिणीतपरक्षेत्रे नियोगस्य निषिद्धत्वात्। तथा हि मनुः—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताऽभिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥

इति—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथं च न॥

इत्येवं नियोगमुपन्यस्य स्वयमेव निषेधति—

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन्विनियुञ्जाना धर्मं हन्युस्सनातनम्॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥
स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः॥
ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।
नियोजयत्यपत्यार्थे गर्हन्ते तं हि साधवः॥

इति। न हि विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः। नियोक्तॄणां निन्दाश्रवणात्। स्त्रीधर्मे व्यभिचारस्य बहुदोषश्रवणात्। संयमस्य प्रशस्ततरत्वाच्च। यथाऽऽह मनुरेव—

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलाशनैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥

इति—

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमति वर्तते ।
सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच्च हीयते ॥

इति पुत्रार्थं पुरुषान्तराश्रयणं निषेधति । तस्माद्विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प इति वक्तुमयुक्तम् । न च—'अपत्यलोभाद्या तु स्त्री' इति सति भर्तरीति वाच्यं ;

मृते भर्तरि म्रियेत शय्यां वा परिपालयेत् ।

इति विष्णुवचनात् । अत्र मृते भर्तरि जीवति यदा तत्परायणा भर्त्रेकपरतन्त्रा स्त्रीधर्मोक्तप्रकारेण म्रियेत ; मृते भर्तरि तत्परायणा स्त्रीधर्माव्युदासार्थं शय्यां वा परिपालयेदित्युक्तं । तत्प्रकारो वक्ष्यते । अतो वाग्दत्ताविषयमिति विज्ञानेशः । भारुच्यादयस्तु न सहन्ते—अपत्यलोभाद्या तु स्त्रीभर्तारमतिवर्तते ' इति वचनं जीवद्भर्तृकाविषयम्—

'नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।

इति सार्थवादकवचनं देवरादिव्यतिरिक्तान्यपरं । नियोक्तुर्निन्दाश्रवणं देवरादिव्यतिरिक्तेषु ये नियोक्तारस्तद्विषयं । स्त्रीणां व्यभिचारस्य बहुदोषश्रवणं नियोगव्यतिरिक्तव्यभिचारविषयं । अतश्च—

'अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः' ।

इति पशुधर्मदृष्टान्तोक्तैरैच्छिको व्यभिचारो देवरादिव्यतिरिक्तनियोगश्च निषिध्यते । देवरादिव्यतिरिक्तनियोगः पशुधर्मतुल्यः । अतश्च न शय्यापरिपालनपुत्रोत्पादनयोर्विकल्पः । किं तु पुत्रवत्या शय्यापरिपालनं दुहितृमत्या वा । तदभावे नियोगादप्यपत्योत्पादनमावश्यकं ।

प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ।

इति वचनात् । शय्यापरिपालनात्सन्ताननिर्वाह एव श्रेया- निसपरार्कभारुचिसोमेश्वरादीनां मतं । एतन्नियोजनं कलियुगे निषिद्धमपि युगान्तराभिप्रायेणोक्तं । अत्र याज्ञवल्क्यः—

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥
यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिस्मिताम् ।
मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥

यस्मै वाग्दत्ता कन्या स प्रतिग्रहमात्रेणैवास्याः पतिरित्यस्मादेव वचनादवगम्यते । तस्मिन् मृते देवरस्तस्य ज्येष्ठः कनिष्ठो वा निजः सोदरो विन्देत परिणयेत् । यथाविधि—शास्त्रमनतिक्रम्य परिणीयानेन विधानेन घृताभ्यङ्गवाङ्नियमादिना शुक्लवस्त्रां शुचि-स्मितां मनोवाक्कायसंयतां मिथो—रहसि आगर्भग्रहणात् सकृ-त्सकृदृतावृतौ एकैकं वारं गच्छेत् । अयं च वाचनिको विवाहः नियुक्ताभिगमनाङ्गघृताभ्यङ्गादिनियमवादिति मन्तव्यं । अतो न देवरस्य भार्यात्वमापादयति । अतस्तदुत्पन्नमपत्यं क्षेत्रस्वामिन एव भवति । न देवरस्य; संविदस्ति चेदुभयोरपि । एतद्वाग्दत्ता-विषयकनियोजनं विज्ञानयोगिमतानुसारेणोक्तं । भारुच्यादीनां तु मते विधवानियोजनमप्यस्ति वाग्दत्तानियोजनमप्यस्तीति ध्येयं । मुख्यगौणपुत्राणां स्वरूपमाह याज्ञवल्क्यः—

औरसो धर्मपत्नीजः तत्समः पुत्रिकासुतः ।
क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा ॥
गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजः स सुतः स्मृतः ।
कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः ॥

अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवस्सुतः ।
दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥
क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः कृत्रिमस्स्यात्स्वयं कृतः ।
दत्तात्मा तु स्वयं दत्तो गर्भे विन्नस्सहोढजः ॥
उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुतः ।

औरसः—उरसा जातः—स च धर्मपत्नीजः पुत्रो मुख्यः । तत्समः औरससमः पुत्रिकापुत्रः—

अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥

इति वसिष्ठवचनात् । पुत्रिकापुत्र इत्यत्र षष्ठीसमासो गम्यते । पुत्रिकैव पुत्रः—पुत्रिकापुत्र इति कर्मधारयोऽपि विवक्षितः । यथाऽऽह गौतमः—'तृतीयःपुत्रिकैवेति' तृतीयः पुत्रः पुत्रिकैवेत्यर्थः । क्षेत्रजः—क्षेत्रजातः—नियोगादुत्पन्नः । सगोत्रेणेतरेण वेत्युत्तरेणान्वयः । इतरेण—सपिण्डेन देवरेण वा । गूढजो गूढोत्पन्नः पितृगृहे प्रच्छन्नमुत्पन्न इत्यर्थः । सवर्णजत्वनिश्चये सतीति शेषः । एवं कानीनादावप्यूह्यम् ।

माता पिता वा दद्यातां यमाद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतियुक्तं च स ज्ञेयो दत्तकस्सुतः ॥

आपद्ग्रहाणादनापदि न देयः । दातुरयं प्रतिषेधः । तथा एकपुत्रो न देयः । 'न त्वेकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वेति' वसिष्ठस्मरणात् । अनेकपुत्रसद्भावेऽपि ज्येष्ठो न देयः ।

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।

इति । तस्यैव पुत्रकार्यकरणे मुख्यत्वात् । पुत्रप्रतिग्रहप्रकारमाह

वसिष्ठः—

'पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन् बन्धूनाहूय राजनि चावेद्य निवेशनमध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वा अदूरबान्धवमसन्निकृष्टं गृह्णीयात्'। इति। अदूरबान्धवमसन्निकृष्टं गृह्णीयादित्यनेन अत्यन्तदेशभाषादिविप्रकृष्टस्य प्रतिषेधः। असन्निकृष्टमित्यनेन ज्ञातिनिषेधः। क्रीतस्तु पुत्रः ताभ्यां—मातापितृभ्यां मात्रा पित्रा वा विक्रीतः। पूर्ववदेकं पुत्रं ज्येष्ठं च वर्जयित्वा आपादि सवर्ण इत्येव। यत्तु मनुनोक्तं—

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात्।
स क्रीतकस्सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा॥

इति। तत् गुणैः सदृशोऽसदृशोऽपि वेति व्याख्येयं; न जात्या। 'सजातीयेष्वयं प्रोक्तः' इत्युपसंहारात्। 'कृत्रिमस्यात्स्वयंकृतः' कृत्रिमस्तु पुत्रः स्वयं पुत्रार्थिना धनक्षेत्रादिप्रदर्शनादिप्रलोभनैः पुत्रीकृतो मातापितृविहीनः। तत्सद्भावे तत्परतन्त्रत्वात्। दत्तात्मा तु पुत्रो यो मातापितृविहीनः ताभ्यां त्यक्तो वा तवाहं पुत्रो भवामीति स्वयंदत्त उपनीतः। तेषां विभागप्रकारमाह याज्ञवल्क्यः—

पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परःपरः।

इति। एतेषां पूर्वोक्तानां पुत्राणां द्वादशानां पूर्वपूर्वस्याभावे उत्तरोत्तरः पिण्डदः अंशहरो—धनहरो वेदितव्यः। औरसस्य धनग्रहणे प्राप्ते मनुरपवादमाह—

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनु जायते।
समस्तत्र विभागस्स्यात् ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥

इति। तथा अन्येषामपि पूर्वस्मिन् सत्युत्तरेषां पुत्राणां चतुर्थांश-

भागित्वमुक्तं वसिष्ठेन—

'कस्मिंश्चित्प्रतिगृहीते औरस उत्पद्येत चतुर्थांशभागी स्याद्दत्तकः'।

इति। दत्तकग्रहणं क्रीतकृत्रिमादीनां प्रदर्शनार्थं। पुत्रीकरणा विशेषात्। तथा च कात्यायनः—

उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे चतुर्थांशहरास्सुताः।
असवर्णास्सवर्णासु ग्रासाच्छादनभाजनाः॥

इति। असवर्णाः—क्षेत्रजदत्तकादयः। ते चौरसे सति चतुर्थांशहराः। चतुर्थांशो नाम चतुर्थस्य योऽशः समत्वेन परिकल्प्यते तत्तुल्योऽशः—पञ्चमांश इत्यर्थः।

पञ्चमांशहरा दत्तकृत्रिमादिसुताः पुनः।

इति स्मृतेः। पुनरिति–पश्चादुत्पन्ने औरस इत्यर्थः। असवर्णाः–कानीनगूढोत्पन्नसहोढपौनर्भवाः। तेषां यद्यपि सवर्णत्वादिनिश्चये कानीनत्वादिव्यपदेशः; तथाऽपि सन्दिग्धेऽपि सवर्णत्वेऽसवर्णत्वव्यपदेशः। यदपि मनुनोक्तम्—

एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः।
शेषाणामानृशंस्यात्तु प्रदद्यात्तु प्रजीवनम्॥

इति। तदपि दत्तकादीनां औरसप्रतिकूलत्वे निर्गुणत्वे च वेदितव्यमिति विज्ञानेशः। सोमेश्वरस्तु–दत्तादिव्यतिरिक्तानां कानीनगूढोत्पन्नसहोढपौनर्भवानामेव जीवनदानामिति शेषशब्दार्थ इत्याह। भारुचिंस्तु—'एक एवौरसः पुत्रः' इत्यादि वचनात् एकपुत्रविषये दत्तादिस्वीकारोऽस्ति; तथा च दत्तपुत्रादिस्वीकारात्पूर्वं स्थितस्य पुत्रस्य दत्तादीनां प्रजीवनप्रदानं नान्ये-

षामित्याह। अयमेव वक्षः श्रेयान्। क्षेत्रजस्य विशेषो दर्शितो मनुना—

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात्।
औरसो विभजन् दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा॥

इति। द्वादशविधपुत्राणां मध्ये षण्णामेव दायभाक्त्वं। उत्तरेषामदायभाक्त्वं—

औरसः क्षेत्रजश्चैव पुत्री दत्तिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः॥

उभयविधस्य षट्कस्य बान्धवत्वं समानं। अतश्च समानगोत्रत्वेन च सपिण्डत्वेन चोदकप्रदानाधिकारित्वं वर्गद्वयस्यापि समानमेव। किंतु स्वपितृसमानोदकसपिण्डानां सन्निहितरिक्थहराभावे पूर्वषट्कस्यैव रिक्थहरत्वं नेतरषट्कस्येति ध्येयं। नन्वेवं—

'गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्तिमः सुतः।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतस्स्वधाम्॥

इति। मनुवचनाद्दत्तिमस्य स्वजनकगोत्रसापिण्ड्ययोः निवृत्तौ कथं 'दत्तिमोऽपि स्वजनयितुः स्वधां कुर्यादिति' विष्णुवचनमिति चेदुच्यते—तत्तु दत्तिमजनकस्य सन्तत्यभावे वेदितव्यं। उपरिष्टात्प्रपञ्चयते। अतश्चौरसव्यतिरिक्तानां पुत्रप्रतिनिधीनां सर्वेषां रिक्थहारित्वं पूर्वस्यपूर्वस्याभावे आविशिष्टं। औरसस्य तु 'एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य, वसुनः प्रभुः' इत्यनेनैव रिक्थभाक्त्वमुक्तं। यत्तु—

भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान् भवेत्।

सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥

इति । तदपि भ्रातृपुत्रस्य पुत्रीकरणसम्भवे अन्येषां पुत्रीकरणनिषेधार्थः न पुनः पुत्रत्वप्रतिपादानाय। तत्सुतो गोत्रजो बन्धुरित्यनेन विरोधात् । चन्द्रिकाकारस्तु प्रशंसार्थपरं वचनमित्याह । धारेश्वरदेवस्वामिनौ तु विज्ञानयोगिमतानुवर्तिनावेव । यथोक्तं देवस्वामिना—'उभयत्रापि नान्यः प्रतिनिधिः कार्यः' इति । अस्यार्थः—उभयत्रापि 'यद्येकपुत्रा बहवः' 'भ्रातॄणामेकजातानामिति' वचनद्वये भ्रातृसुते पुत्रप्रतिनिधितया कथञ्चित्कर्तुं शक्ये सति तदन्यो न प्रतिनिधिः । अनुलोमजानां तु मूर्धावसिक्तादीनां औरसेऽप्यन्तर्भावात्तेषामप्यभावे क्षेत्रजादीनां दाय हरत्वं बोद्धव्यं । शूद्रापुत्रस्त्वौरसोऽपि कृत्स्नं भागमन्याभावेऽपि न लभते । यदाह मनुः—

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत् ।
नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥

इति । सत्पुत्रो विद्यमानद्विजा(ति)पुत्रः । शूद्रधनविभागे विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोंऽशहरो भवेत् ।
मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिनम् ॥
अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहितॄणां सुताद्टते ।

दुहितृसुतसद्भावेऽप्यार्धभागिक एव दासीपुत्र इत्यर्थः । अत्र शूद्रग्रहणात् त्रैवार्णिकस्य दास्यामुत्पन्नः पितुरिच्छयाऽप्यंशं न लभते । नाप्यर्धं; कृत्स्नं दूरत एव । किंतु जीवनमात्रं लभते ॥

इतिश्रीप्रतापरुद्रदेवमहाराजविरचिते स्मृतिसङ्ग्रहे सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे अप्रतिबन्धदाय प्रकरणम्

## अथ अप्रतिबन्धदायः.

अथ विभक्तस्यापुत्रस्य स्वर्यातस्या संसृष्टिनो धनं को गृह्णीयादित्यत आह याज्ञवल्क्यः—

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।
तत्सुतो गोत्रजो बन्धुश्शिष्यस्सब्रह्मचारिणः ॥
एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ।
स्वर्यातस्यह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥

इति । अयं च पत्न्यादिषु स्वामितासंक्रमक्रमः प्रत्यासत्तितारतम्यरूपन्यायनिबन्धनो वाचनिकः। स्वस्वामिभावसम्बन्धस्य वाचनिकत्वाभावात् । तथाहि—स्वत्वं लौकिकं लौकिकक्रियाजन्यत्वात् व्रीह्यादिवत् । यूपाहवनीयाचार्यकादीनां लौकिकानां न लौकिकतक्षणादिक्रियामात्रजन्यता । किं तु मन्त्रादिनियमोपेततक्षणादिजन्यतेति न व्यभिचारः । यस्तु वैधदानप्रतियोगिनि प्रतिग्रहे मन्त्रनियमः स दानापूर्वोत्पत्त्यर्थो न स्वत्वोत्पत्त्यर्थः। अवैधदानप्रतियोगिन्यमन्त्रके प्रतिग्रहे स्वत्वोत्पत्तिदर्शनादिति प्रपञ्चितम् लिप्सासूत्रे । यत्तु विज्ञानयोगिना स्वत्वं लौकिकं लौकिकक्रियासाधनत्वात् व्रीह्यादिवदित्युक्तं; तदुद्ग्रन्थं स्थूलमिव प्रतिभाति । लिप्सासूत्रे हि गुरुणा लौकिकक्रियासाध्यत्वेनैव स्वत्वस्य लौकिकत्वमुक्तं । यथेष्टविनियोगार्हत्वं स्वत्वमिति स्वत्वलक्षणमित्युक्त्वा आर्जनात्स्वत्वं नाम कश्चन सम्बन्ध इत्यनेन ग्रन्थेन । अस्यार्थः—आर्जनं कर्तृकर्मणोस्सम्बन्धकरं सकर्मकत्वात् । न च ग्रामं त्यजतीत्यादौ व्यभिचार इति वाच्यं । न ह्यत्र पारमार्थिकस्संयोगादिसम्बन्धः साध्यते किंतु कर्तृकर्मगतः

कश्चिदतिशयोऽर्जनजन्मा साध्यते। स चौदासीन्यप्रच्युतिरूपत्वात् सम्बन्धरूप इति गीयते। ग्रामं त्यजतीत्यादावपि ग्रामतोऽतिशयो विभागरूपः क्रियागर्भोऽतिशयोऽस्त्येव। न च प्रतिग्रहादिजन्यो हस्तसंयोगादिरेव आतिशयोऽस्त्विति वाच्यं। व्यभिचारात्। जन्मादौ तदसंभवात्। न चाकर्मकत्वाज्जनिक्रियायां कर्मगतातिशयजनकत्वमिति वाच्यं। अर्जयति शब्दवाच्यत्वदशायां सकर्मकत्वात्। अयं भावः—जनिधातुः कर्तृगताक्रियार्थस्स्यात्। प्रागसतः क्रियाश्रयत्वायोगात्। लब्धसत्ताकस्य पुनर्जननाभावात्। अतो जनयितृक्रियायोगं जन्यस्य स्वातन्त्र्यविवक्षया जनिधातुराहेति गुरुमततत्वं। यथैकमेव ज्ञानं घटो भातीत्यत्राकर्मकं घटं जानीहीत्यत्र सकर्मकं। गुरुमते वित्तिभात्योरभेदः। यथोक्तं गुरुणा—'धीरेव हि भानमिति' स चार्जनजन्योऽतिशयः स्वत्वमित्युच्य इति मीमांसकरहस्यं। अतश्चोद्ग्रन्थता स्फुटैव। स्थूलत्वं च धनलाभशिष्योपास्त्यादिसाधने आचार्यनियोगे पशुवृष्ट्यादिसाधने चित्राकारीर्यादिनियोगे च व्यभिचारात्। न च यथाहवनीये लौकिकज्वलनरूपेण लौकिकपाकसाधनता नालौकिकसंस्कारनिचययुक्तरूपेणेत्यनैकान्तिकतापरिहारस्सुवचः तथाऽपूर्वेऽप्यनैकान्तिकतापत्तिपरिहारस्सुवच इति वाच्यं। तस्मिन् सर्वात्मनैवालौकिकेऽपूर्वे लौकिकालौकिकरूपभेदकल्पनस्याशक्यत्वात्। यत्तून्नीतं चित्रापूर्वकार्यतया शास्त्रैकसमधिगम्यं। न च तद्रूपेण पश्वादिसाधनं अपि तु कृतं सत् सिद्धतया; न च तद्रूपं शास्त्रैकसमधिगम्यं कार्यकारणानुमानवेद्यत्वात्; अतो यूपाहवनीयादितुल्यतया नानैकान्तिकतेति प्रतिपादयितुं शक्यत इति। तदसत्; यूपाहवनीयादौ लौकिके रूपे नियमवैय-

थ्र्यादलौकिक(त्व)मपि कल्पयितुं शक्यते। सर्वात्मनैवालौकिकरूप मध्ये लौकिक(त्व)रूपकल्पना हेत्वाभावान्न शक्येति। उत्पन्नस्यापूर्वस्य कार्यकारणानुमानवेद्य(त्व)रूपमपि नास्ति तदपेक्षाया अनुत्थानात्। उत्थितौ वा वेदवेद्यमपूर्वमुत्पन्नं पश्चादेः फलस्योत्पत्तेः इति वेदवेद्यत्वाकारोल्लेखेनैवानुमानमपूर्वांशं स्पृशतीति न काचित् क्षतिः। यथोक्तं गुरुणा नवमाद्ये निबन्धने–'वेदवेद्यत्वाकारस्य लौकिकत्वेऽपि वेदवेद्यं स्वरूपमलौकिकमेवेति' अस्यग्रन्थस्याभिप्रायमाह नाथः—लिङ्वाच्यमपूर्वमित्येवमाकारं ज्ञानं लिङ्पृष्ठभावेन लिङ्वेद्यत्वाकारोल्लेखेनैव वाऽपूर्वं स्पृशतीति नैतादृशज्ञानवेद्यत्वे वेदैकवेद्यतालक्षणापूर्वता विहतिः। न हि वेदवेद्यताकारोल्लेखेन जायमानस्य यूपाहवनीयादेर्वैदिकवेद्यताविहतिरिति स्थूलत्वं हेतोरिति सिद्धं। नान्वाचार्यकं लौकिकं अध्यापनकर्तर्याचार्यशब्दप्रयोगात्। अतो लिङ्वात्वमभिमतं दूरानिरस्तं स्यात्। यथोक्तं वृद्धैः—

लोके काप्यप्रयुक्तत्वाद्विधिसाध्ये प्रयोगतः।
अलौकिकार्थं यूपादिपदं कामं प्रसिध्यतु॥
नालौकिकार्थमाचार्यपदमेतद्व्यात्ययात्।
मुखं गुरुमत (स्यार्धं) स्याद्धं खडितं (किमु) किल पण्डितैः॥

मैवं,

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेत् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

इति। स्मृतिरभियुक्तश्रुतिस्मृतिप्रयुक्ताचार्यपदार्थसंशयनिवृत्त्यर्थं प्रणीतेति तावदास्थेयं। सा च न्यायतो विविच्यमाना यादृशेऽर्थे पर्यवस्यति तादृशे स्मृतेस्तात्पर्यं वाच्यं। तत्र यद्यपि-

'क्रिययोगश्शब्दार्थ' इति भाति। तथाऽपि न तस्याः क्रियामात्रपरत्वं। तथात्वे लक्षणान्व्याख्यानमात्रपरत्वं स्यात्। न चैतत्संभवति संशयनिवृत्त्यर्थं 'उपनीय तु यश्शिष्यं द्विजोऽध्यापयति श्रुतम्' इति लक्षणमवक्ष्यत्। तदनुपयोगिनी विध्युक्तिरयुक्ता सती वक्तुरनाप्ततामापादयेत। विधेयस्यैव तु लक्षणत्वे विवक्षिते विध्युक्तिरांजसीति विधिसिद्धमेवाध्यापनरूपमर्थं यस्त्वित्यादिना निर्दिश्य लक्षणं कृतमुपेयं। न च वाक्यभेदापत्तेरुभयविवक्षानुपपत्तिः। वक्तृतन्त्रे वाक्ये वाक्यभेदस्य चोदनासूत्रे अर्थपदं प्रयुञ्जानेन सूत्रकारेण दोषतया ख्यापितत्वात्। तुशब्द उपाध्यायलक्षणात् केवलाध्यापनाद्व्यावृत्तिप्रतिपादकः। नन्वध्यापनस्य विधेयत्वमेव नास्ति अन्यतः प्राप्तत्वादिति चेन्मैवं, अन्यतः प्राप्तिवादी प्रष्टव्यः। किमध्ययनविधितः प्राप्तिराहोस्विद्वृत्तित इति। नाद्यः अध्ययनविधेर्निराधिकारतया स्वविषयानुष्ठानेऽप्यशक्तत्वमुक्तं शास्त्रादौ गुरुणा तत्त एवावधार्यं। न द्वितीयः वृत्त्यर्थताऽप्यध्यापनस्याचार्यकद्वारिकैवेति नाचार्यकोत्पत्त्यर्थतया तद्विधिं विहन्तीति तेनान्यतः प्राप्त्यभावाद्विध्यभावेऽध्यापनस्याप्राप्तस्य लक्षणत्वेनाख्यानमयुक्तमित्यध्यापनस्य विधेयत्वसिद्धेः। यद्वा स्मृतेश्च लोकव्यवहारमात्रफलानर्हत्वादाचार्यपदार्थनिर्णयापेक्षवरदानविध्यनुष्ठानफलतैवोपेया। तत्र 'अचार्याय वरो देय' इति श्रौते वरदानविधौ आचार्यशब्दार्थः सम्प्रदानतयोपादिश्यते। नन्न सम्प्रदानावस्थायामध्यापनाक्रियायोग आचार्यशब्दार्थः। तस्यातीतत्वात्। नच स्वरूपमात्रमर्थः; तस्य विधिं विनाऽपि लाभे विध्यानर्थक्यात्। नच भूतपूर्वक्रियायोगावस्थालक्षणा श्रुतिस्मृतिप्रयुक्ता। आचार्यपदार्थतत्वनिर्णयार्थं

प्रयुक्ताया अभियुक्तश्रुतेर्जघन्यार्थप्रकाशनपरत्वस्वीकारस्यानुचितत्वात्। अनवगतस्य च तदुपलक्ष्यत्वानर्हत्वात्। पञ्जरस्थस्सिंह इत्यत्र पञ्जरोपलक्ष्यसिंहत्वाकारवदिह भूतक्रियायोगोपलक्षणस्याकारविशेषस्याभावात्। अतः क्रियायोगातिरिक्त सम्प्रदानावस्थानुवृत्त्यर्हं अदृष्टमाचार्यशब्दवाच्यमिति वरदानविधिबलादवगते तदुत्पादकक्रियापेक्षायां स्मृतेर्लक्षणभूतक्रियाविधिपरतत्वमाश्रियते। तथा च तदनुगुणामूलश्रुतिरुपनीयाध्यापयेदित्यनुमेया। नन्वाचार्यकरणविधिप्रयुक्तत्वमध्ययनस्य साधयितुमाचार्यत्वकामोऽध्यापयेदित्याधिकारविधि रूपवेदानुमानं साधयितव्यं। किमित्युपनीयाध्यापयेदित्याचार्यकस्य लिङर्थत्वेन विनियोगमात्रवेदानुमानमिति चेन्मैवं। वरदानविध्यनुप्रविष्टाचार्यलक्षणान्वाख्यानमात्रपरायाः स्मृतेस्तदपेक्षितालौकिकाचार्यपदार्थोत्पादकक्रियाविनियोगमात्रोपलक्षणता स्वीकार्या। न तद्विषयाधिकारविधिपरता गौरवापत्तेः। अपेक्षाभावाच्च। आचार्यत्वं नाम आचार्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं; त्वतलादेर्निष्कृष्टप्रवृत्तिनिमित्तवचनस्वभावत्वात्। तच्चाचार्यत्वं उपनयनाङ्काध्यापनसाध्यमदृष्टमिति तन्मात्रमेव विधिरनुजानातु न ततोऽतिरिक्तमिति वरदानविध्यपेक्षापूरणार्थं विनियोगक्रियाविधिपरत्व मात्रमपेक्षितं स्मृतेः। न ततोतिरिक्तमधिकारविषयापूर्वफलं। अतश्चापेक्षाभावो गौरवं च स्पष्टं। किं चाचार्यकस्य सुखदुःखनिवृत्त्योरन्यतरत्वाभावेन स्वर्गादितुल्यनैयोगिकफलत्वं कल्पयितुं न शक्यते। लिङ्वाच्यत्वे तु सुखदुःखनिवृत्त्योरन्यतरत्वाभावेऽपि वेदैकगम्यतृतीयप्रयोजनत्वमाचार्यस्य समस्तीति प्रत्यक्षवेदेऽपि तन्मात्रपरताऽध्याप्यानादिविधिसिद्धैवेति नानुमेये

काचिदनुपपत्तिः। नन्वेवं भवनाथेनोपनीयाध्यापनेनाचार्यकं भावयेदिति वचनव्यक्तिरुपन्यस्तेति चेत्। भवनाथस्यायमभिप्रायः—यद्यपि तददृष्टं क्रियाफलं लिङर्थ एवेत्युपनीयाध्यापयेदित्येवंरूपैव पारमार्थिकी वचनव्यक्तिः। तथाऽपि तस्यादृष्टस्याचार्यकपदाभिलप्यतया स्मृतिसिद्धत्वात्तेन च रूपेण वरदानादिलाभकरतयाऽध्यापकाभीष्टत्वात् काम्यतयैवार्थात्स्वविषयेऽध्यापने अधिकारापादकता। न नित्यादिनियोगवन्नियोगत्वेनैवेति प्रकटयितुमध्यापनस्यौपादानिककरणान्वयविवरणार्था वचनव्यक्तिः अध्यापनेनाचार्यकं भावयेदित्येवंरूपोपन्यस्ता। अत एवेदृशीं वचनव्यक्तिमुपन्यस्याह शा(रि)लिकानाथः—'अर्थादाचार्यीबुभूषोरधिकार' इति। आर्थिकमधिकारलाभं प्रकटयितुमेव तदनुगुणा वचनव्यक्तिरुपन्यस्तेत्यभिप्रायः। नन्वेवं वरदानविध्यपेक्षिताचार्यकोत्पत्त्यर्थक्रियाविनियोगपरत्वाद्वाक्यस्य एतद्विध्यनुवादता लिङः प्राप्नोतीत्याचार्यकस्य लिङ्वाच्यत्वमभिमतं न सिध्येत्। यद्यपि सन्निधिसमाम्नानाभावान्न ग्राहकावस्थविध्यनुवादता; तथाऽप्याधानवाक्यस्थलिङ्वत्प्रयोजकावस्थविध्यनुवादता स्यादेव। मैवं, आधानस्य हि संस्कारस्य ज्वलनगतत्वेन लिङ्वाच्यत्वासम्भवात् लिङः प्रयोजकापूर्वानुवादता स्वीकृता। अध्यापनजन्यस्य त्वाचार्यसंस्कारस्याध्यापयितृगतत्वेन लिङ्वाच्यत्वं संभवत्येवेति न लिङोऽनुवादकता स्वीकार्या।

नन्वेवमप्याचार्यकसंस्कारस्य साधिकारविद्ध्यनुप्रवेशित्वादृत्विक्संस्कारवल्लाभकरत्वेऽपि स्वयमधिकारापादकत्वासंभवात् नाध्यापनेऽपि प्रयोजकतेति अध्ययनप्रयोजकत्वमभिमतं दूरानिरस्तं

स्यात् । अन्यथा ऋत्विक्संस्कारस्यापि याजने यजनेऽपि प्रयोजकता स्यात् । मैवं ; साधिकारविध्यनुप्रवेशिनोऽप्याचार्यकस्य वरदानादिलाभकरतयाऽध्यापकाभीष्टस्य वस्तुवृत्त्या अध्यापनाधिकारपादकत्वेन प्रयोजकत्वसंभवात् । ऋत्विक्संस्कारस्य तु लाभकरत्वेऽपि यजमानाधिकाराधीनतत्कर्तृकवरणादिसंपाद्यतयाऽन्याधीनत्वेन स्वेच्छया सम्पादयितुमशक्यत्वात् न स्वातन्त्र्येणाधिकारापादकतेति न प्रयोजकतासम्भव इति भेदः । अतः परमार्थतो वचनव्यक्तिः उपनीयाध्यापयेदित्येवंरूपैव भवनाथस्याभिप्रेतेति मन्तव्यं । अतश्च लौकिकार्थक्रियासाधनत्वादिहेतोर्व्यभिचारासिद्धः । केचिदेवं परिहारन्ति—क्रिया आर्जनादिका साधनं यस्य स्वत्वस्य तल्लौकिकार्थक्रियासाधनमिति बहुव्रीहिः । लौकिकार्थक्रियासाध्यत्वादित्यर्थः । अतो नोद्ग्रन्थता न व्यभिचारश्च विज्ञानेश्वरमतेऽपीत्यनुसन्धेयमिति ; तदसत् । तत्पुरुषसमासं परित्यज्य जघन्यबहुव्रीहिसमासाश्रयणं पङ्कभिया पलायमानस्याशुचिपतनसमानमिति। एवं च स्वत्वस्य लौकिकत्वे सिद्धे " स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिकं लब्धं क्षत्रियस्य विजितं निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोरिति " गौतमीया धर्माः दृष्टार्था धनार्जनोपायाः । रिक्थादयस्तु पञ्च सर्वसाधारणाः । रिक्थं नाम रिक्थार्जनं–पित्रादिधने स्वामित्वापादकं पुत्रादिजन्मेति यावत् । तथा च पैतृकधनलाभहेतुत्वेनोक्तं गौतमेनैव—' उत्पत्त्यैवार्थं स्वामित्वं लभते इत्याचार्याः ' इति। उत्पत्त्यैव–मातृगर्भे शरीरोत्पत्त्यैवेत्यर्थः। अत एव विष्णुः–' जन्मना स्वत्वमापद्यत ' इति। पुत्रस्यैव न तु पुत्रिकाया इति भारुचिः । संविभागः— पुत्रादिधनाविशेषनिष्ठस्वामित्वसंपादको

विभाग इति चन्द्रिकाकारः। विज्ञानेश्वरस्तु अप्रतिबन्धो दायो रिक्थं सप्रतिबन्धो दायस्संविभाग इति। रिक्थशब्दस्य यद्यपि सप्रतिबन्धोऽपि दायोऽर्थः 'रिक्थग्राह ऋणं दाप्य' इति दर्शनात्। तथाऽप्यप्रतिबन्धो दायो विवक्ष्यते। अन्यथा विभागशब्दपौनरुक्त्यात्। विभागशब्देन तदुत्तरकालीनः सप्रतिबन्धो दायो लक्ष्यते। विभागस्य स्वत्वहेतुत्वाभावादित्याह। एतन्न सहन्ते भारुच्यादयः—अप्रतिबन्धे दाये संबन्धातिरिक्तं जन्मापेक्ष्यते; सप्रतिबन्धे दाये तु प्रतिबन्धाभावो न कारणं तुच्छत्वादिति। परिग्रहः—काननादिगतजलतृणकाष्ठादेरन्येनास्वीकृतस्य स्वीकारः। अधिगमो निध्यादिरुपलब्धः। एतेषु पुत्रादिः क्रेता संविभक्ता परिग्रहीताऽधिगन्ता वा यथाक्रमेण पित्रादिधनस्य क्रीतस्य संविभक्तांशस्य परिगृहीतस्याधिगतस्य च स्वामी भवति। तथा लब्धं प्रतिगृहीतं ब्राह्मणस्याधिकं प्रातिस्विकमार्जनं। एवं क्षत्रियस्य विजितं जयलब्धं। एवं वैश्यस्य निर्विष्टं कृष्यादिभृतिरूपेण यल्लब्धं। शूद्रस्यापि निर्विष्टं द्विज शुश्रूषादिना वृत्तिरूपेण यल्लब्धं प्रातिस्विकमित्यत्रमर्जननिबन्धनार्थाया गौतमस्मृतेरर्थो विज्ञेयः। अतश्चेयं धर्मस्मृतिः साधुशब्दनिबन्धनार्थव्याकरणादिस्मृतिवत् स्मृतेरर्थः।

अत्रेदं तत्वं—लोकप्रसिद्धानेव स्वत्वोपायान् प्रतिग्रहादीननूद्य ब्राह्मणादिवर्णोल्लेखेनादृष्टार्थतया नियन्तुं गौतमेन यत्नतो वचनमारब्धमिति। तथा च—

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम्।
तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जप्येन तपसैव च॥

इति। शास्त्रैकसमधिगम्ये स्वत्वे गर्हितेनासत्प्रतिग्रहवाणिज्या-

दिना लब्धस्य स्वत्वमेव नास्तीति तत्पुत्राणां तदविभाज्यमेव। यदा तु स्वत्वं लौकिकं तदा असत्प्रतिग्रहलब्धस्यापि स्वत्वात्तत्पुत्राणां तद्विभाज्यमेव। तस्योत्सर्गेण शुध्यन्तीति प्रायश्चित्तमार्जयितुरेव। तत्पुत्रादीनां तु दायत्वेन स्वत्वमिति न तेषां दोषसंबन्धः।

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥

इति स्मरणात्। स्वत्वस्य लौकिकत्वे क्वचिदेव परस्वत्वापत्तिः सङ्कल्पमात्रेण स्वत्वनिवृत्तिश्च। क्वचित्तु महापातकेनैव स्वत्वानिवृत्तिः न सङ्कल्पमात्रात्। अतश्च पितापुत्रसंबन्धो भर्तृभार्यासम्बन्धश्च महापातकादौ निवर्तत इति प्रपञ्चितं लिप्सासूत्रे।

ननु स्वत्वं लौकिकमस्तु स्वाम्यन्त्वलौकिकं। यथाऽऽह न्यायपूर्वकं सङ्ग्रहकारः—

वर्तते यस्य यद्धस्ते तस्य स्वामी स एव न।
अन्यस्वमन्यहस्तेषु चौर्यादेः किं न वर्तते।
तस्माच्छास्त्रत एव स्यात्स्वाम्यं नानुभवादपि ॥

इति। तस्माच्छास्त्रैकसमधिगम्यं स्वाम्यं न पुनर्मानान्तरगम्यमित्यर्थः। मैवं; यस्मात्स्वाम्यस्वत्वयोस्तुल्ययोगक्षेमयोरेकतरमधिकृत्य साधिते लौकिकत्वे द्वयोरपि "साधितमेवेत्यवगन्तव्यं। अतो यथाग्रन्थं लौकिकक्रियासाध्यत्वमेव अव्यभिचारात् स्वत्वस्य लौकिकत्वे हेतुरिति युक्तमुत्पश्यामः। तथा च स्वत्वस्य लौकिकत्वात् नैयायिक एव स्वाम्यसङ्क्रमक्रमो न वाचनिक इति सिद्धं। तदुक्तं विज्ञानयोगिना यत्तु—'पत्नी दुहितर' इत्यादिस्मरणं तदपि स्वामिसम्बन्धितया बहुषूपप्लव-

मानेषु व्यामोहनिवृत्तये प्रत्यासत्तितारतम्यन्यायनिबन्धनस्य स्वामितासङ्क्रमक्रमस्य निबन्धनमिति । ननु पत्नी दुहितरन्यायावलम्बनेन पत्न्याः पत्यंशहरत्वं स्यात् । तर्हि अविभक्तपत्नीनामपि 'शरीरार्धं स्मृता जाया' इत्यादिवक्ष्यमाणन्यायस्य तुल्यत्वात्पत्न्यंशहरत्वं स्यादिति चेन्मैवं । विभक्तपत्नीनां प्रत्येकानियतद्रव्यसद्भावात्तत्रैव पत्नीदुहितरन्यायः । अविभक्तपत्नीनां तु पत्युर्नियतद्रव्याभावात्समुदितद्रव्ये पत्यंशग्राहित्वस्याशक्यत्वात् पत्नीदुहितरन्यायो विभक्तविषय इति ध्येयं । ननु यद्येवं स्यात्तदा अविभक्तानां सर्वेषां भ्रातॄणां स्वयातानामंशग्राहित्वं तत्पत्नीनां न स्यात् । तथा स्मर्यते—'अविभक्तपत्नीनां तद्दायहरत्वमिति' सर्वेषां भ्रातॄणामभावे इति शेषः । अत्रोच्यते—अविभक्तपत्नीनां तद्दायहरत्वमिति । तत्पतिज्ञातिसद्भावेऽपि तत्सोदराभावेन सर्वेषां दायस्य प्रत्येकपर्यवसितत्वेन नियतत्वसिद्धेरविभक्तत्वेऽपि विभक्तवन्न्यायस्य सुप्रसरत्वात्पत्नीनामेवांशहरत्वं । तत्र दुहितृमत्पत्न्यदुहितृमत्पत्नीविवेको न कर्तव्य इति वैष्णवं मतं । 'पत्नीदुहितर इत्यादौ पत्नीदुहितरेत्यस्यैकदेशस्यानुकरणं । पत्नीदुहितरश्चेत्यत्र प्रत्यासत्तितारतम्यन्यायं सूचयति मनुः—

पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ।

इति । अत्र क्रमो न विवक्षितः वा शब्दप्रयोगात् । अस्य तात्पर्यार्थं सङ्ग्रहकार आह—

अ(वि)शेषात्मजहीनस्य मृतस्य धनिनो धनम् ।
केनेदानीं ग्रहीतव्यमित्येतदधुनोच्यते ॥

अस्यार्थः—मुख्यगौणपुत्रहीनस्य धनवतो मृतस्य धनमिदानीं तन्मरणानन्तरं केन हर्तव्यमित्याकांक्षायां पित्रादिना हर्तव्य-

मित्येतत् अधुना पित्राद्यपेक्षया बहुविधोपकारकासन्नजनाभावे मनुनोच्यते इति। अत एव पित्रादिभ्यो गौणपुत्राणामासन्नत्वं ज्ञात्वा सङ्ग्रहकारेण 'पिता हरेदपुत्रस्य' इत्यस्य अशेषात्मजहीनस्येति तात्पर्यमुक्तं तदनवद्यमेव। किं तु गौणपुत्राणां दृष्टादृष्टोपकारकत्वेन पित्राद्यपेक्षया अग्रेसरत्वात् तदपेक्षयाऽऽसन्नतरत्वं। तथा पत्न्या अपि दृष्टादृष्टोपकारेण श्रुतिस्मृत्यादिपर्यालोचनया पित्राद्यपेक्षया अग्रेसरत्वात् तदपेक्षयाऽऽसन्नतरत्वमस्ति। अतश्च पत्न्या अप्यभावे 'पिता हरेदपुत्रस्येत्येतन्मनुनोच्यत इत्येवं तात्पर्यं ऊह्यते। अत एव गौणपुत्राभावे दृष्टादृष्टोपकारकत्वलक्षणसम्बन्धेनान्यापेक्षया पत्न्याः प्रत्यासन्नत्वमभिधाय बृहस्पतिना तिष्ठत्स्वपि पित्रादिषु पत्न्या एव पतिधनभागित्वं दर्शितम्।

आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः।
शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा।
यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति।
जीवत्यर्धशरीरेऽपि कथमन्यस्समाप्नुयात्॥
कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृसनाभिषु।
असुतस्य प्रमीतस्य तत्पत्नी भागहारिणी॥

अत्र द्वितीयार्धेन शरीरार्धं स्मृतेत्यादिना दृष्टादृष्टोपकारसंपादने पित्रादिभ्यः पत्न्याः प्रत्यासन्नत्वमभिहितं। अत्रयत्रार्थस्तु—आम्नाये—वेदे। 'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी' इत्यादौ आत्मनो देहार्धस्येत्यर्थः। स्मृतितन्त्रे धर्मशास्त्रे।

पतत्यर्धशरीरेण यस्य भार्या सुरां पिबेत्।
पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥

इत्यादौ। लोकाचारे—लोकाचारानुमतार्थशास्त्र इत्यर्थः—

शरीरार्धमयीं जायां को विहास्यति पण्डितः।

इत्येवमादौ पुण्यापुण्यफले कर्माणि सहाधिकारात्। असुतस्य—मुख्यगौणसुतहीनस्य। पत्नी—यज्ञाधिकारापादकप्रशस्तब्राह्मादि-विवाहसंस्कृता 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति पाणिनिस्मृतेः। तेन क्रीता भार्या पत्नीपदेन व्यावर्तिता। तस्याः पत्नीत्वायोगात्। तथा च स्मृत्यन्तरं—

क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्न्यभिधीयते।
न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कवयो विदुः॥

पत्नीत्वाभावे केवलदृष्टोपकारकत्वमेव नादृष्टोपकारकत्वं स्त्रिया इति दर्शयितुं दासीं विदुरित्युक्तम्। अत्र केचित् विवाहसंस्कृता जाया पत्नीत्युच्यत इति चन्द्रिकाकारोक्तमित्युनुपपन्नं। विवाहसंस्कारस्य पत्नीत्वोपपादकत्वाभावात्। पत्नीत्वं नाम पतिभार्यासंबन्धव्यतिरेकेण न किञ्चिदस्ति। तच्चाऽर्यार्जकरूपक्रियागर्भस्सम्बन्धः। स च लौकिक एव। अत एव महापातकादौ भार्यात्वस्य निवृत्तिः। भूतपूर्वगत्या भार्याभिमानः। न च विवाहे मन्त्रानियमो भार्यात्वोत्पादकः; तस्य वैधदानसिद्धत्वादित्युक्तं लिप्सासूत्रे गुरुणेत्याहुः। तन्न, गुरुणा तु पत्नीगतं स्वत्वमेव लौकिकमित्युक्तं न पत्नीत्वं; स्वत्वपत्नीत्वयोर्भेदात्; यज्ञसंयोगात् पत्नी; स्वामिसम्बन्धात्स्वामिति। महापातकादौ भार्यात्वस्यापि वियोग इति गुरुग्रन्थस्यायमर्थः—भार्यात्वं नाम स्वत्वं; नतु पत्नीत्वं; अन्यथा प्रायश्चित्ते कृते पुनः पत्नीत्वं न स्यादित्युक्तं भारुचिना। अयमेवाभिप्रायः चन्द्रिकाकारादीनामिति सुष्ठूक्तं ब्राह्मादिविवाहे संस्कृता

जाया पत्नीत्युच्यत इति। अतश्च पत्युः पित्र्ये कर्मण्यपि भ्रात्राद्यपेक्षया अग्रेसरत्वं पत्न्या एवाह बृहस्पतिः—

पुत्राभावे तु पत्नी स्यात्पत्न्यभावे तु सोदरः।

इति। पिण्डदान इति शेषः। अत्र वृद्धमनुः—

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता।
पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं हरेत च॥

उत्तरार्धे पाठक्रमादर्थक्रमोऽवगन्तव्यः। पत्नी भर्त्रंशं पूर्वं लभते पश्चात्पिण्डं दद्यात्। न पुनस्तस्यां सत्यां भ्रात्रादिरित्यर्थः।

पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परःपरः।

इत्यत्राप्येवमेव व्याख्येयं। अंशहरणस्यैव पिण्डदाननिमित्तत्वेनोक्तत्वात्। शयनं पालयन्ती— सुसंयतेत्यर्थः। कृत्स्नमंशं लभेतेति कृत्स्नशब्दार्थमाह प्रजापतिः—

जङ्गमं स्थावरं हेम रौप्यधान्यरसाम्बरम्।
आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाण्मासिकादिकम्॥
पितृव्यगुरुदौहित्रान् भर्तृश्वशुरमातुलान्।
पूजयेत्कव्यपूर्ताभ्यां वृद्धानाथातिथींस्तथा॥

रूप्यं—त्रपुसीसादिकं। कव्यं—पित्रर्थसंकल्पितमन्नं। पूर्तं खातादि। एतदुक्तं भवति—स्थावरेण सहितं कृत्स्नमंशमादाय धनसाध्यस्त्र्यधिकारश्राद्धपूर्तादिकं पत्युरात्मनश्च श्रेयस्साधनं धर्मजातं पत्न्या गृहीतधनानुसारेण साध्यमिति। यत्तु बृहस्पतिनोक्तं—

यद्विभक्तधनं किञ्चिदाध्यादि विविधं स्मृतम्।
तज्जाया स्थावरं मुक्त्वा लभेत मृतभर्तृका॥

यत्किञ्चिदाध्यादि त्रिविधं स्थावरजङ्गमात्मकं भर्तृस्वामिकं स्मृतं तत्सर्वं विभक्तविषये पत्नी लभत इत्यर्थः। विभक्तग्रहणादविभक्तविषये तु सहवासिन एव भ्रात्रादयो मृतस्यापुत्रस्य धनं लभेरन्निति गम्यते। एतत् पूर्वमेव सयुक्तिकमुक्तमप्यत्र ज्ञापितं। तज्जाया स्थावरं मुक्त्वेत्येतत् दुहितृराहितपत्नीविषयं। पत्नीमात्रविषयत्वे—

जङ्गमं स्थावरं हेमकुप्यधान्यरसाम्बरं।
आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाण्मासिकादिकम्॥

इति पूर्वोक्तवचनाविरोधस्स्यादिति चन्द्रिकाकारः। अत्र चन्द्रिकाकारस्यायमाशयः—दुहितृरहितदुहितृसहितपत्न्योः सन्निपाते दुहितृसहिताया एव पत्न्याः स्थावरं; न दुहितृराहितायाः। दुहितृराहितायास्तु जङ्गमांशः; जङ्गमद्रव्ये यथांऽशस्वीकारः। यदा दुहितृरहितैव पत्नी स्यात्तदा तस्या एव स्थावरं जङ्गमं च नान्यस्याः दुहितृसहितायाः मात्रादेः। तस्यास्तु पत्न्यपेक्षया बहिरङ्गत्वस्योक्तत्वादिति। न च तद्विरोधपरिहाराय विभक्तपत्न्यंशविषयं चेदं वचनमास्त्विति वाच्यं। यत एवं प्रकारां व्यवस्थां निराकर्तुमाह स एव—

वृत्तस्थापि कृतेऽप्यंशे न स्त्री स्थावरमर्हति।

इति। सन्तानवृत्तिभूतस्थावरार्हता सन्तानशालित्वायत्तेति तच्छून्या स्त्री वृत्तस्थापि विभक्तविषयेऽपि स्थावरं नार्हतीति वचनार्थः।

मृते भर्तरि भर्त्रंशं लभते कुलपालिका।
यावज्जीवं हि तत्स्वाम्यं दानाधमनविक्रये॥

आधमनमाधिः। स्त्रीणां तु विभक्तदशायामपि भरणमेव। संभोगार्थमानीता स्त्रीत्युच्यते।

क्रयक्रीता तु या नारी संभोगार्थं सुतार्थिना।
गृहीता वाऽन्यदीया वा सैव स्त्री परिकीर्त्यते॥

अन्यदीया—परकान्ता 'योषिद्ग्राह ऋणं दाप्य' इत्यत्र योषिच्छब्दार्थतया निरूपिता। तस्याः स्त्रिया नांशभागित्वमित्याह कात्यायनः—

स्वर्याते स्वामिनि स्त्री तु ग्रासाच्छादनभागिनी।
अविभक्तधनांशं तु प्राप्नोत्यामरणान्तिकम्॥

उत्तरार्धः पत्नीविषयः। अविभक्तायाः पत्न्या अप्यंशोऽस्ति। यथाऽऽह स एव—

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता।
भुञ्जीतामरणं क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः॥

एतच्च भरणाक्षमेषु श्वशुरादिषु विज्ञेयम्। यथाऽऽह बृहस्पतिः—

प्रदद्याद्वत्सरे पिण्डं क्षेत्रांशं वा यदृच्छया।

इति। जीवनमात्रसाधनं द्रव्यं पिण्डशब्दार्थः। जीवनमात्रसाधनस्य द्रव्यस्य स्वल्पामियत्तामाह नारदः—

आढकांस्तु चतुस्त्रिंशच्चत्वारिंशत्पणांस्तथा।
प्रतिसंवत्सरं साध्वी लभेत मृतभर्तृका॥

वत्सरेवत्सरे इति प्रतिवत्सरं। आढकोऽष्टोनद्विशतप्रसृतिपरिमितधान्यचयः। पणः कार्षापणः व्यावहारिकनिष्काशीतिभाग इत्यपरे। स्त्रीभ्यो यद्दत्तं तत्परिपालनीयं इत्याह कात्यायनः—

स्थावराज्जीवनं स्त्रीभ्यो यद्दत्तं श्वशुरेण तु।
न तच्छक्यमपाकर्तुं उत्तरैः श्वशुरे मृते॥

श्वशुरग्रहणं भरणकारिणामुपलक्षणार्थं । स्थावरग्रहणं च धनग्रहणस्योपलक्षणार्थं । तेन धनमपि जीवनार्थं स्त्रीभ्यो यद्दत्तं तन्नापाकर्तुमितरैरशक्यमित्यवगन्तव्यं । तदपवादमाह कात्यायनः—

भोक्तुमर्हति कृप्तांशं गुरुशुश्रूषणे रता ।
न कुर्याद्यदि शुश्रूषां चेलपिण्डे नियोजयेत् ॥

कृप्तांशमपहृत्येति शेषः । अत्र यावज्जीवभरणवृत्तिमाह विष्णुः—

'प्रतिसंवत्सरं चत्वारिंशत्पणाश्चतुर्विंशदाढकाः । अथवा यावज्जीवं शतं कार्षापणास्तदर्धं वा' इति । अकार्यकारिणीनामपि कृप्तांशहरणं कार्यमित्याह स एव—

निर्मर्यादानां कृप्तांशहरणं कार्यम् ।

इति । निर्मर्यादाः—व्यभिचारिण्यः । अत एवाह नारदः—

भरणं चास्य कुर्वीरन् स्त्रीणामाजीवनक्षयात् ।
रक्षन्ति शय्यां भर्तुश्चेदाच्छिद्युरितरासु तत् ॥

इतरासु—व्यभिचारिणीषु । तत् भरणं । यत्तु मनुनोक्तम्—

एवमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।
वस्त्रान्नमासां देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥

इति । तद्भर्तृकर्तृकविषयं । एवं स्त्रीणां यद्भरणप्रतिपादकं वचनजातं तदविभक्तपत्नीविषयं च वेदितव्यं । यच्च—

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता ।
भुञ्जीतामरणं क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः ॥

इति ।

स्थावरं जङ्गमं चैव कुप्यधान्यरसाम्बरम् ।
मृते भर्तरि भर्त्रंशं लभते कुलपालिका ॥
यावज्जीवं तु तत्स्वाम्यं दानाधमनाविक्रये ।

इति वचनद्वयं दुहितृरहितपत्नीविषयं वेदितव्यं । 'दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुरिति । यावज्जीवं हि तत्स्वाम्यम्' इति स्मरणद्वय-सामर्थ्यात् । यद्यपि सन्तानहीनाया उपरमे ज्ञातीनामेव धनं; तथाऽपि दुहितृसहितायाः पत्न्या उपरमे तद्दुहितृदौहित्रादी-नामेव तद्धनप्राप्तिः । तद्वदत्रापि दुहितृरहितपत्न्या उपरमे दुहित्रादीनामभावे तत्पित्रादीनां धनप्राप्तिर्माभूदिति दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुरित्यवगन्तव्यं । तस्मादपुत्रस्य विभक्तस्य स्वर्या-तस्य संसृष्टिनो भर्तुर्धर्मपत्नी सकलं स्थावरं जङ्गमं च गृह्णाती-त्येवम्परं पत्नीदुहितरश्चेत्यादिवचनजाते पत्नीग्रहणमिति स्थितम् ।

तत्र पत्न्यभावे दुहितर इति बहुवचनं समानजातीयानाम-समानजातीयानां समविषमांशप्राप्त्यर्थमिति लक्ष्मीधरः । तथा च कात्यायनः—

पत्नी भर्तुर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी ।
तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तथा ॥

इति । बृहस्पतिरपि—

भर्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता ।
अङ्गादङ्गात्संभवन्ती पुत्रवद्दुहिता नृणाम् ॥
तस्मात्पितुः धनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः ।

इति । अत्र ऊढानूढासमवाये अनूढैव गृह्णाति; तदभावे ऊढा दुहिता 'यद्यनूढा भवेत्तथेति' विशेषस्मरणात् । तथा प्रति-ष्ठिताप्रतिष्ठितासमवाये अप्रतिष्ठितैव; तदभावे प्रतिष्ठिता । 'स्त्री-धनं दुहितॄणां अप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां चेति' गौतमवचनस्य पितृधनेऽपि समानत्वात् । चकारः पुत्रतुल्यन्यायप्रतिपादन-पर इत्याहुः ।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रवद्दुहिता समा ।

तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥

इति । आत्मनि—आत्मतुल्ये—पुत्रसमायां इत्यर्थः । नन्वेवमयं न्यायः गौणपुत्रपत्न्योरभावे दुहितर इति न प्रसरति ; किंतु औरसाभावमात्रे दुहितेत्येतावन्मात्रसाधकत्वात् । सत्यं, किन्त्वेवमेव गौणपुत्रपत्न्योरभावे दुहितेत्यत्र क्रमन्याय ऊहनीय इत्यभिप्रायेणोक्तं । अत एव नारदेन—अनयोरप्यभावे दुहितेति क्रमानुसारन्यायः स्वयमूहितो मन्दानुग्रहाय प्रदर्शितः—

पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात् ।

इति । अयमर्थः—

पुत्रश्च दुहिता चोभौ तुल्यसन्तानकारकौ ।

उभौ स्वपितृश्रेयस्करावित्यर्थः । तथाहि—पौत्रदौहित्रयोः पुत्रदौहित्रसन्तानयोः स्वरूपतस्तुल्यत्वाभावात्कार्यतोऽत्र तुल्यत्वमभिहितं । नच ऋणापाकरणरिक्थग्रहणलक्षणकार्यतस्तुल्यत्वं संभवति । 'पुत्रपौत्रैः ऋणं देयमिति' तथा—पितामहद्रव्यमधिकृत्य—

तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः' ।

इति स्मरणाच्च पौत्रस्याधिक्यप्रतीतेः । तेन दृष्टकार्यतस्तुल्यत्वमभिप्रेतं तच्च श्राद्धदातृत्वम् ।

'पूर्वेषां तु स्वधाकारे पौत्रा दौहित्रका मताः' ।

इति विष्णुस्मरणात् । एवं च दुहितुः सन्तानमुखेनादृष्टोपकारसम्बन्धेन आसन्नता ; पत्न्यास्तु साक्षादग्निहोत्रादिजन्यादृष्टोपकारसहकारित्वेन दुहितुस्सकाशात्प्रत्यासन्नतरत्वं । अतश्च पुत्राभावे दुहितेत्यत्र पुत्रग्रहणं पत्न्या अपि प्रदर्शनार्थं मन्तव्यम् ।

नन्वेवं स्वयमेव पिता श्राद्धदाने दृष्टोपकारक इति दुहित्रपेक्षया आसन्नतरत्वात्पत्न्यभावे दुहितुः कथं धनग्रहणमिति चेन्मैवं।

तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्।

इत्यनेनैवोक्तत्वात्। तथाहि यद्यपि दृष्टोपकारसम्बन्धेन पितुस्सकाशाद्व्यवहिता; तथा शरीरसंबन्धेनाव्यवहितेत्युभयथा दुहितैवाग्रेसरी। एवं तर्हि दुहित्रभावे 'पिता हरेत्' इत्यस्यावसरस्स्यात्, मैवं। अधुनाऽपि न तस्यावसरस्स्यात्। दुहित्रभावे दौहित्रस्य तत्कोटित्वेन पित्राद्यपेक्षयाऽऽसन्नत्वात्।

अपुत्रपौत्रसन्ताने दौहित्रा धनमाप्नुयुः।
पूर्वेषां तु स्वधाकारे पौत्रा दौहित्रका मताः॥

इति विष्णुस्मरणाच्च। अत्र धारेश्वरदेवस्वामिदेवरातश्रीकरादयो दुहितृगामिधनमिति विधायकं वचनजातं पुत्रिकाविषयमेवेत्याहुः। तन्मतं दूषयति चन्द्रिकाकारः। तथा च चन्द्रिकाकारग्रन्थः—धारेश्वरदेवस्वामिदेवरातमतं प्रतितन्त्रसिद्धान्तानभिज्ञानोन्मादकल्पितं निरस्तं वेदितव्यमिति। प्रतितन्त्रसिद्धान्तः—स्वसिद्धान्तः। विज्ञानयोगीश्वरेणाऽपि दूषितं। यथा मिताक्षराग्रन्थः—न चैतत्पुत्रिकाविषयं; 'तत्समः पुत्रिकासुतः' इति पुत्रिकायास्तत्सुतस्य च औरससमत्वेन पुत्रप्रकरणेऽभिधानादिति। धारेश्वरादीनामयमभिसन्धिः—गौणपुत्राणामौरसेन सह दशविधत्वमेव। पुत्रिकासुतस्य स्वयंकृतसुतस्य स्वमतिकल्पितत्वात्पुत्रत्वं नास्ति। किंतु दायभाक्त्वमात्रं। अतश्चैव पुत्रिकैव सुतः पुत्रिकासुत इति पुत्रिकायाःसुताः पुत्रिकासुत इति समासद्वयाङ्गीकारेऽपि पुत्रिकायास्सुतस्य पौत्रतुल्यत्वं पुत्रिकारूपसुतस्य तु

पुत्रतुल्यतया पत्न्या अप्यन्तरङ्गतया पूर्वं पुत्रिकाया धनप्राप्तिः। पुत्रवत्तदनन्तरं पत्न्या इति न्यायप्रतिपादनार्थं पत्नी दुहितरश्चेति चकारः। दुहितर इति बहुवचनं अपुत्रिका दुहितृपुत्रिकाकरणदुहितृपुत्रिकासुतजननीरूपदुहितॄणामुपसङ्ग्रहार्थं। अतश्च—

अशेषात्मजहीनस्य मृतस्य धनिनो धनम्।

इत्यादि सङ्ग्रहकारादिवचनेष्वशेषात्मजपदेन पुत्रिकाया अनुपसङ्ग्रहात्तदर्थं पुत्रिकासुत इति वचने तु औरसादर्धधनभाक्त्वमपि सिद्धमिति। अतश्च त्रिविधानां पुत्रिकाणां मध्ये पुत्रिकाकरणदुहितुःसमुदितद्रव्यस्यार्धं। इतरयोस्तु दुहित्रोरर्धमिति। एतच्च धारेश्वरादीनामभिमतमिति योग्यमित्युल्लिखितं। तन्न सङ्गच्छते—पुत्रिकायास्सुत इति पुत्रिकैव सुत इत्यत्र सुतशब्दस्य दायभाक्त्वमात्रेण गौणार्थता न युज्यते। पितुरौर्ध्वदैहिकादिपुत्रकृत्ये औरसाभावे तस्यैवाधिकारस्मरणात्। गौणसुतत्वं नाम अनौरसत्वमिति। अतश्च पुत्रसमानयोगक्षेमतया पूर्वमेव दायग्रहणस्य प्रतिपादनादित्यलमतिविस्तरेण। केचित्तु पत्नीदुहितरश्चैवेत्येवकारेण पत्न्या यज्ञसंयोगवत्या दुहितर एव; न स्त्रियाः। चकारात्पत्न्या अपीत्याहुः। तन्न; तथा च सति धनस्य दुहितृगामित्वानन्तरं पत्न्यभिगामित्वं स्यात्तथा च पूर्वोक्तनयविरोधस्स्यादिति। अत्र चशब्दाद्दुहित्रभावे दौहित्रो धनभाक् तत्कोटित्वात्। तथाऽऽह विष्णुः—

अपुत्रपौत्रसन्ताने दौहित्रा धनमाप्नुयुः।
पूर्वेषां तु स्वधाकारे पौत्रा दौहित्रका मताः॥

इति। मनुरपि—

अकृता वा कृता वाऽपि यं विन्देत्सदृशं सुतम्।

पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं धनं हरेत् ॥

इति। तदभावे पितरौ—मातापितरौ धनभाजौ। मातृशब्दस्य द्वन्द्वे पूर्वं निपाताद्वन्द्वबाधकत्वादेकशेषस्य। विग्रहवाक्यस्थमातृशब्दस्य पूर्वस्मरणात् पाठक्रमादेवार्थक्रमावगमात्। धनसम्बन्धेऽपि क्रमापेक्षायां प्रतीतिक्रमानुरोधेनैव प्रथमं माता धनभाक्। तदभावे पितेति गम्यते। किञ्च पिता पुत्रान्तरेष्वपि साधारणः। माता तु न साधारणा इति प्रत्यासत्त्यतिशयः—

अनन्तरं सपिण्डाद्यः तस्यतस्य धनं हरेत्।

इति वचनान्मातुरेव प्रथमं धनग्रहणं। मातापित्रोर्मातुरेव प्रत्यासत्त्यतिशयाद्धनग्रहणं युक्तं। तदभावे पिता धनभागिति विज्ञानेश्वरमतं। चन्द्रिकाकारेण तु पितुरेव प्रथमं धनग्रहणाधिकारः प्रतिपाद्यते। तदभावे पितृगामि तदभावे मातृगामीति विष्णुस्मृतेः। चन्द्रिकाकारमताद्विज्ञानयोगिमतमेव सम्यक्। न्यायमूलतया प्रतिपादनात्। अनेन श्रीकरोक्तं पित्रोर्विभज्य धनग्रहणं निरस्तं वेदितव्यं।

पित्रभावे भ्रातरो धनभाजः। यथाऽऽह मनुः—

पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा।

इति। यत्पुनर्धारेश्वरेणोक्तं—

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता धनं हरेत् ॥

इति मनुवचनात् जीवत्यपि पितरि मातरि च वृत्तायां पितुरेव तु माता पितामही धनं हरेत्। न पिता; यतः पितृगृहीतं धनं विजातीयेष्वपि पुत्रेषु गच्छति। पितामहीगृहीतं तु सजातीयेष्वेव गच्छतीति पितामह्येव गृह्णातीति। एतद्विज्ञानयोगी न

मन्यते। विजातीयपुत्राणामपि धनग्रहणस्योक्तत्वात् ‘ चतुस्त्रिद्व्येकभागास्स्युः’ इत्यादिना । भ्रातृष्वपि सोदराः प्रथमं गृह्णीयुः । भिन्नोदराणां मात्रा विप्रकर्षात् । सोदराणामभावे भिन्नोदरा धनभाजः । भ्रातृणामभावे तत्पुत्राः पितृक्रमेण धनभाजः । पितृतो भागकल्पनेति वचनात् । भ्रातृपुत्राणामभावे गोत्रजा धनभाजः पितामही सपिण्डाः समानोदकाश्च । तत्र पितामही प्रथमं धनभाक् ।

मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता धनं हरेत् ।

इति मात्रनन्तरं पितामह्या धनग्रहणे प्राप्ते पित्रादीनां भ्रातृसुतपर्यन्तानां बद्धक्रमत्वेन मध्ये अनुप्रवेशाभावात् पितुर्माता धनं हरेदित्यस्य वचनस्य धनग्रहणाधिकारप्राप्तिमात्रापरत्वादुत्कर्षे तत्सुतानन्तरं पितामही गृह्णाति अविरोधादिति विज्ञानयोगिमतं । एतन्न सहते चन्द्रिकाकारः ।

मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता धनं हरेत् ।

इति क्रमस्योक्तेः अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि तदभावे मातापितरौ गृह्णीयातां; तदभावे पितुर्माता भ्रातरस्सपिण्डा इति विष्णुस्मृतेश्च मात्रानन्तरं पितामह्या धन भाक्त्वमिति । अत्र विज्ञानयोगिमतमेव सम्यगित्याहुः । पितामह्याश्चाभावे समानगोत्रजाः सपिण्डाः पितामहादयो धनभाजः । भिन्नगोत्राणां सपिण्डानां बन्धुशब्देन ग्रहणात् । तत्र पितृसन्तानाभावे पितामहः पितृव्यास्तत्पुत्राश्च क्रमेण धनभाजः । पितामहसन्तानाभावे तत्प्रपितामाही पितामहः तत्पुत्राः तत्सूनवश्चेति । एवमासप्तमात्सगोत्राणां सपिण्डानां धनग्रहणं वेदितव्यम् ।

अनन्तरस्सपिण्डाद्यस्तस्यतस्य धनं हरेत् ।

इति स्मरणात् तेषामभावे समानोदका धनभाजः। ते च सपिण्डानामुपरि सप्त वेदितव्याः। जन्मनामज्ञानावधिका वा। यदाऽऽह मनुः—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु निवर्तेत चतुर्दशात्॥
जन्मनामस्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते।

इति। अनेन सङ्ग्रहकारोक्तक्रमः—

तासां दुहित्रभावेऽपि माता धनमवाप्नुयात्।
विद्यमानेऽपि पितरि सपत्नीसुतसन्ततौ॥
तादृग्भ्रातुरभावेऽपि पितुर्माता हरेद्धनम्।
विद्यमानेऽपि पितरि क्षत्रियासुतसन्ततौ॥
पितामह्या अभावेऽपि पिता धनमवाप्नुयात्।

इति निरस्तो वेदितव्यः। धारेश्वरोत्प्रेक्षितन्यायमूलत्वादस्य क्रमस्य विश्वरूपादिभिरेवाध्याहारादीनवलम्ब्य दूषितत्वान्नास्माभिर्दूष्यते। पूर्वोक्तन्यायविरोधाच्च। यत्तु तेनैवोक्तं—

सोदर्यास्सन्त्यसोदर्या भ्रातरो द्विविधा यदि।
विद्यमानेऽप्यसोदर्ये सोदर्या एव भागिनः॥

इति; तत्सम्यङ्न्यायमूलत्वादादरणीयं। बान्धवास्त्वासन्नतरक्रमेणैव स्मृत्यन्तरे दर्शिताः—

आत्मपितृष्वसुः पुत्रा आत्ममातृष्वसुस्सुताः।
आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया आत्मबान्धवाः॥
पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुस्सुताः।
पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः॥
मातुः पितृष्वसुः पुत्राः मातुर्मातृष्वसुस्सुताः।
मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः॥

इति। एतेषां गोत्रजाभावे धनसम्बन्धः। तत्र चान्तरङ्गत्वात्प्रथममात्मबान्धवा धनभाजः। तदभावे पितृबान्धवाः। तदभावे मातृबान्धवा इति क्रमो वेदितव्यः। न चात्र पितुः सकाशान्मातुरेवाभ्यर्हितत्वात्तद्बान्धवानां पितृबान्धवेभ्यः पूर्वमेव धनभाक्त्वमिति वाच्यम्।

पितुस्सकाशादन्येभ्यो येभ्यो माता गरीयसी।

इति स्मरणान्मातुरेवाभ्यर्हितत्वं न मातृबान्धवानामिति। पितृबान्धवेभ्यः पश्चादेव मातृबान्धवानां धनभाक्त्वमिति युक्तमुत्पश्यामः। तदभावे आचार्यः।

उपनीय तु यश्शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

इति अनेन योनिसम्बन्धवद्विद्यासंबन्धोऽपि धनभाक्त्वहेतुरिति सूचितं। तदभावे शिष्यः। शिष्येऽपि विद्यासम्बन्धस्य विद्यमानत्वात्। अत एवाहापस्तम्बः—'पुत्राभावे यस्सपिण्डः प्रत्यासन्नः तदभावे अचार्यः तदभावेऽन्तेवासीति'। अनेनास्मिन्वचने पुत्राभावे प्रत्यासन्न इत्यनेन योनिसम्बन्धो धनभाक्त्वे हेतुः तदभावे आचार्य इत्यादिना विद्यासम्बन्धो धनभाक्त्वे निमित्तमिति। शिष्याभावे सब्रह्मचारी धनभाक्। येन सहैकस्मादाचार्यादुपनयनाध्ययनतदर्थज्ञानप्राप्तिः सः सब्रह्मचारी भ्रातृतुल्यः। तदभावे ब्राह्मणद्रव्यं यः कश्चिच्छ्रोत्रियो गृह्णीयात् 'श्रोत्रिया 'ब्राह्मणस्यानपत्यस्य रिक्थं भजेरन्निति' गौतमस्मरणादिति विज्ञानेशः। भारुच्यादयस्तु सब्रह्मचारिणां भ्रातृतुल्यतया तत्पुत्राणां तत्पत्न्यादीनामभावे श्रोत्रियब्राह्मणगामित्वमाहुः। असहायादयस्तु योनिसम्बन्धानन्तरं विद्यासम्बन्धादाचार्यगामि त्वेतद्धनं।

तदभावे आचार्यपुत्रगामि तदभावे तत्पत्नीगामि तदभावे सब्रह्मचारिगामि तदभावे सच्छ्रोत्रियब्राह्मणगामि तदभावे श्रोत्रियमात्रगामि तदभावे ब्राह्मणमात्रगामीत्याहुः। यथाऽऽह मनुः—

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः।
त्रैविद्याश्शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते॥

इति। न कदाचिदपि ब्राह्मणद्रव्यं राजा गृह्णीयात्।

नाहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्मृतेः।

इति मनुवचनात्। नारदेनाप्युक्तम्—

ब्राह्मणार्थस्य तन्नाशे दायादश्चेन्न कश्चन।
ब्राह्मणायैव दातव्यमेनस्वी स्यान्नृपोऽन्यथा॥

इति। यत्तु मनुनोक्तम्—

इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः।

इति। शूद्रव्यतिरिक्तवर्णानां क्षत्रियवैश्यानामेव धनं सब्रह्मचारिपर्यन्तानामभावे राजा तद्धनं हरेत् न ब्राह्मण इत्यर्थः। शूद्रस्य तु भ्रातृपर्यन्ताभावे राजगामि धनम्।

शूद्रस्यैकोदराभावे राजा तद्धनमाप्नुयात्।

इति। एवं योनिसम्बन्धविद्यासन्तत्योः प्राधान्येन योनिसन्ततेः दायग्रहणमुक्त्वा विद्यासम्बन्धसन्ततेः दायक्रममाह। याज्ञवल्क्यः—

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः।
क्रमेणाचार्यसच्छिष्या धर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः॥

वानप्रस्थस्य—यतेः ब्रह्मचारिणश्च क्रमेण प्रतिलोमक्रमेण आचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः रिक्थस्य—धनस्य भागिनः। ब्रह्मचारी द्विविधः—उपकुर्वाणश्च नैष्ठिकश्च। उपकुर्वाणस्य धनं

मात्रादय एव गृह्णन्ति । नैष्ठिकस्य धनमाचार्य इति । तत्र विद्यासम्बन्धस्यैव योनिसम्बन्धाद्गरीयस्त्वात् । यतेस्तु धनं सच्छिष्या गृह्णन्ति । यतिश्चतुर्विधः–कुटीचक बहूदक हंस परमहंस भेदात् । कुटीचक बहूदक हंसानां आचार्याभावे शिष्यस्य धनग्रहः । परमहंसस्य तु आचार्याभावात् शिष्य एव गृह्णाति । वानप्रस्थस्य धनं धर्मभ्रात्रेकतीर्थी गृह्णाति । एकतीर्थी–एकाश्रमी । धर्मभ्राता प्रतिपन्नो भ्राता एकगुरुशिष्यतया भ्रातृत्वेन स्वीकृत इत्यर्थः । धर्मभ्राता चासावेकतीर्थी च इति विशेषणसमास इति विज्ञानेशः । 'अनंशास्त्वाश्रमान्तरगता' इति वसिष्ठस्मरणं तु इच्छया रिक्थसम्बन्धो नास्तीत्येवम्परं ।

अह्नो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा ।
अर्थस्य निचयं कुर्यात् कृतमाश्वयुजे त्यजेत् ॥

इति वानप्रस्थमधिकृत्योक्तेः—

कौपीनाच्छादनार्थं च वासांसि बिभृयात्तदा ।
योगसम्भारभेदांश्च गृह्णीयात्पादुके तथा ॥

इति यतिमधिकृत्योक्तेः । नैष्ठिकस्यापि शरीरयात्रार्थं वस्त्रादिसम्बन्धोऽस्त्येवेत्येतद्विभागकथनं युक्तमेवेत्यवगन्तव्यम् । अत्राह भगवान् लक्ष्मीधरः—अशेषात्मजहीनस्य मृतस्यासंसृष्टिनो धनं प्रथमं पत्न्यभिगामि तदभावे दुहितृगामि तदभावे चकाराद्दौहित्रगामि तदभावे मातापितरौ हरेयातां तदभावे भ्रातृगामि तदभावे बन्धवो यथाक्रमं गृह्णीयुरिति । प्रथमं रिक्थस्यात्मवर्गे पत्न्यादौ सङ्क्रमस्तदनन्तरं पितृवर्गे पितापितृव्यतत्पुत्रादौ सङ्क्रमस्तदनन्तरं पितामहवर्गे आसप्तमं सङ्क्रमः तदनन्तरं समानोदकेषु तदभावे आत्मबन्धुषु तदभावे पितृबन्धुषु

तदभावे मातृबन्धुषु श्रोत्रियान्तेषु सङ्क्रम इति। एवं स्थिते पत्नचन न्तरं दुहितृगामि धनं तद्दुहितॄणां सापत्यानपत्यतामनपेक्ष्यैव संक्रामति। तथा च 'दुहितर' इति वचनं सार्थकं भवति। अत एव भ्रातर इति बहुवचनमपि सापत्यानपत्यभ्रातृत्वविवेकमनपेक्ष्यैव प्रयुक्तं। अत एव पत्नीत्येकवचनं। सापत्यानपत्यपत्नीद्वयसन्निपाते सापत्यायाः स्थावरं नानपत्यायाः। अत एव तत्सुत इत्यत्रापि भ्रातृसुतानां सापत्यानपत्यानां सन्निपाते सापत्यस्यैव रिक्थग्रहणं। एवमुत्तरत्रापि। सब्रह्मचारिणां इति बहुवचनं तु एकवासिनामिव अनेकवासिनामप्यादरार्थं। तच्च दुहितृस्वाम्यतिरिक्तं सप्रतिबन्धमपि दौहित्रसद्भावे दुहितृगामित्वावस्थायां अप्रतिबन्धदायतामापद्यते। चकारेणानुक्तसमुच्चयार्थेन समुच्चितदौहित्रस्यापि समकालमेव स्वत्वप्राप्तिरिति ज्ञापयत्येवकारः। 'तथैव भ्रातरस्तथेति' तथा शब्दः तत्सुतपदेनान्वीयमानो यथा शब्दसम्बन्धोऽन्वेति यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्। तथाचायमन्वयः— पितृगामित्वानन्तरं दायस्य भ्रातृशब्दवाच्यानां तत्सुतानामप्रतिबन्धेनैव दायाधिकारः। तथा तत्पुत्रसद्भावेऽप्यप्रतिबन्ध एव दाय इति। यत्तु विज्ञानयोगिनोक्तं—पितराविसत्र एकशेषमहिम्ना पूर्वं मातृगामि धनं तदभावे पितृगामीति। तन्न, बहुवचनवद्विवचनास्यापि समप्राधान्यस्य द्योतकत्वात्तयोस्तद्रिक्थे तुल्यमेव स्वाम्यं। किन्तु 'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्र' इति वचनात् बीजग्रहणानुविधायिनं अंशं गृह्णीयादिति वैष्णववचनानुरोधेन तादृगंशग्रहणस्य न्याय्यत्वादिति सोमशेखरः। तन्न। तथा सति पितृवर्गे भ्रातृपुत्रान्ते मातुलादिषु मात्रवयवानुवृत्तेस्तत्रैव दायग्रहणं स्यान्न प्रपितामहवर्गे। यथाऽऽह भारुचिः—विष्णुवचनव्याख्यानावसरे—

"बीजशब्दः पिण्डवाची"

इति। अत्र निर्वाप्यपिण्डान्वय एव विवक्षितः। मातुः पित्रा [1]सापिण्ड्यात्। उभयग्रहणात्पितुरेव प्राधान्यं तदभावे मातुरेवेति। अयमेवाशयः चन्द्रिकाकारोदाहृतवैष्णववचनस्यापी ध्येयम्। अत्रेदं तत्वं—यथा पितृद्रव्ये पुत्राणां दायस्वीकारोऽप्रतिबन्धः। पुत्रः पुत्रत्वेनैव पितृद्रव्यस्वामी दुहित्रादिस्थलेऽपि पुत्रसन्ततिसद्भावे तत्स्वामित्वं तत्पुत्रत्वेनैव। अत उक्तं तत्सुता इति। नन्वत्र तच्छब्देनापुत्रभ्रातैव परामृश्यते। न तु भ्रातृमात्रमिति तत्पुत्रस्याप्रतिबन्धदायार्हता नास्तीति प्रतिभातीति चेन्मैवं। भ्रातृशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वादपुत्रस्य भ्रातेति गम्यते भ्रातृपदेन। न तु तत्पदेन अपुत्रसम्बधविशेषणविशिष्टभ्रातृपरामर्शः तावत्पर्यन्तं शब्दतात्पर्याभावात्। नचात्र रिक्थग्राहितयाऽपि तद्भ्रातृसुतानां तत्कृतमृणमपाकरणीयं स्यात्तथात्वे 'रिक्थग्राही ऋणं दाप्य' इति सामान्येन स्मरणं व्याहन्येत। न च तथाऽङ्गीकारः। सर्वलोकसिद्धत्वात्तदृणापाकरणस्येति वाच्यं। भूतपूर्वगत्या तदीयरिक्थग्राहित्वात्तेषां तदृणमपाकरणीयं। अत्रेदमुपतिष्ठते वैष्णवं वचनं—"दौहित्रान्तानामपाये मातापितरौ हरेयाताम्" इति। "पत्नीदुहितरश्चैवेति" याज्ञवल्कीयवचनगतचकारानुकृष्टानां दौहित्रान्तानामभावे मातापितरौ पिण्डानुरोधेन धनं हरेयातां। दौहित्रसङ्क्रान्त्यनन्तरं तत्पुत्रगाम्येव धनं न मातापितृगामि। अत्रेदं तत्वं—सप्रतिबन्धस्थलेऽपि पुत्रसन्ततिसद्भावेऽपि, अप्रतिबन्ध एव दाय इति चकारैवकाराभ्यां याज्ञवल्कीयवचनतात्पर्यमवधार्यं। 'रिक्थग्राही ऋणं

[1] सापिण्ड्यादुभयोग्रहणं। मातुरेवप्राधान्यं तदभावे मातुरेवेति।

दाप्य' इति वचनबलाद्दासत्वं रिक्थग्राहित्वमवलम्ब्य तदृण-संशोधनं न्याय्यं। स्वाम्यं त्वप्रतिबन्धमेव। अतश्च दौहित्र-स्याप्रतिबन्धो दायग्रहः न दुहितुः। यदि दुहितुरपि स्यात् दौहित्रसङ्क्रान्तरिक्थं तदभावे मातापितृगामि स्यात्। तच्च सर्व-विद्वद्संमतं। सन्ततिहीनाया दुहितुः पुत्रिकारूपसन्ततिहीनाया वा रिक्थसङ्क्रान्तौ तन्मृत्यनन्तरं तद्दुहितॄर्वा तज्ज्ञातीन्वा रिक्थं प्राप्नुयात्। तच्च न्याय्यं न भवति। तथा च स्मर्यते—

अपुत्रायाश्च दुहितुः पितृरिक्थं हरन्ति ते।
पितृभ्रातृसुताद्याश्च गोत्रजा नैव बान्धवाः॥

इति। बान्धवा-मातुलादयः पैतृष्वसेयादयश्च। तथा च विष्णुः—अनपत्यरिक्थं न बान्धवगामीति। अयमर्थः—अनपत्यानां स्त्रीणामनपत्यस्य वा रिक्थं सप्रतिबन्धो दायः सगोत्रान् ज्ञातीनेव सङ्क्रामति। न त्वनपत्यानां पुत्रिकासन्ततियुक्तानां वा दुहितॄणां ज्ञातीन् तेषां सगोत्रत्वाभावादिति। अत एव पत्नीविषये हारीतः—

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता।
भुञ्जीतामरणात् क्षन्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः॥

इति। अत्रापुत्राया इति स्मृतेरनपत्यारिक्थं न बान्धवगामीति स्मृतेरपुत्रानपत्यशब्दयोः एकार्थत्वाङ्गीकाराद्दुहितुरपि पुत्रिका-सन्ततिसहितायास्तद्दुहित्रनन्तरं तत्पुत्रिकागामि न भवति धन-मिति। अत एवाह स एव—न पुत्रिकागामि न बान्धवगामि किन्त्वपुत्रस्य रिक्थिनो ज्ञातयो धनं हरेयुरिति। अत्र केचिदाहुः—पत्नीदुहितरश्चैवेत्यत्र चकारेणानुकृष्टो दौहित्रः। एवकारेणावधार-णार्थेनावधारितः। अतश्च दौहित्रगाम्यपि 'धनं दौहित्राभावे

मातापितृगाम्येव न तत्पुत्रगामीति। तन्न सहन्ते वृद्धाः—दौहित्रगामि धनं दौहित्राभावे तत्पुत्रगाम्येवेति त्रैविद्यवृद्धव्यवहारसिद्धं। अतश्च दुहितृगामि सत् दौहित्रमेव सङ्क्रान्तं तत्सुतसम्भवे तमेव कटाक्षीकरोति तद्रिक्थं। इयांस्तु विशेषः—दौहित्रान्तानामभावे दौहित्रपुत्रं न सङ्क्रामति; किंतु ततोऽप्यन्तरङ्गत्वात् मातापितरावेवावलम्बते रिक्थं।

नन्वेवं दुहित्रभावे तत्सङ्क्रान्त्यभावाद्दौहित्रसङ्क्रान्तेर्मातापितृसंक्रान्तेरासन्नत्वाद्दुहित्रनन्तरं मातापितरावेवावलम्बतामिति चेत्, मैवं। दौहित्रस्य मातापितृतोऽपि प्रत्यासत्तिरस्ति।

अपुत्रपौत्रसन्ताने दौहित्रा धनमाप्नुयुः।
पूर्वेषां तु स्वधाकारे पौत्रा दौहित्रका मताः॥

इति। विष्णुवचनम्।

अकृता वा कृता वाऽपि यं विन्देत्सदृशं सुतम्।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं धनं हरेत्॥

इति मनुवचनं। अत्राकृता वेति दृष्टान्तार्थं। कृतायाः पुत्रिकायाः सुतस्य पुत्रत्वेन अर्धांशभागित्वादप्रतिबन्धदायार्हत्वस्योक्तेः। यथाऽऽकृतायाः पुत्रेण मातामहः पौत्री तथा कृताया अपि पुत्रेणेति। अनेन—

कुर्यान्मातामहश्राद्धं नियमात्पुत्रिकासुतः।

इत्यपि परास्तं। पुत्रिकासुतस्य पुत्रमध्ये पाठा(त्पत्नी)त्पौत्र एव पुत्रिकासुतशब्दवाच्य इति। अनयोर्मानववैष्णवयोः वचनयोः तात्पर्यवर्णने विवदन्ते वृद्धाः। दौहित्रस्य मातामहश्राद्धं सकारणमेव; पितृश्राद्धवन्निष्कारणं न भवतीति। तथाहि—यत आददीत स तस्मै श्राद्धं कुर्यादिति विष्णुस्मरणात्।

श्राद्धं मातामहानां तु अवश्यं धनहारिणा।
दौहित्रेणार्थनिष्कृत्यै कर्तव्यं विधिवत्सदा ॥

इति व्यासस्मरणात् धनग्रहणनिबन्धनं दौहित्रस्य मातामह-श्राद्धकरणमिति। यत्तु पुलस्त्येनोक्तं—

मातुः पितरमारभ्य त्रयो मातामहाः स्मृताः।
तेषां तु पितृवच्छ्राद्धं कुर्युर्दुहितृसूनवः ॥

इति। तत्तु पितृश्राद्धेनानुशिष्टमातामहश्राद्धविषयमित्यवगन्तव्यम्। यथोक्तं पितामहेन—

पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामाहा अपि।
अविशेषेण कर्तव्यं विशेषान्नरकं व्रजेत् ॥

इति। व्यासोऽपि—

पितुर्मातामहांश्चैव द्विजः श्राद्धेन तर्पयेत्।
अनृणः स्यात्पितृणां तु यज्वनां लोकमृच्छति ॥

इति। स्कान्दे पुराणेऽपि—

कृत्वा तु पैतृकं श्राद्धं पितृप्रभृतिषु त्रिषु।
कुर्यान्मातामहानां च तथैवानृण्यकारणात् ॥

इति। यत्तूक्तं—

कुर्यान्मातामहानां तु नियमात्पुत्रिकासुतः।
उभयोरथ सम्बन्धात्कुर्यात्स उभयोः क्रियाः ॥

अत्र केचित्—द्विविधो हि पुत्रिकापुत्रः एको मातामहसम्बन्धः अपरः पितृमातामहसम्बन्धः। मातामहसम्बन्धेन मातामहश्राद्धं कर्तव्यं। उभयसम्बन्धेनोभयोः क्रियाः कार्या इति। अयमाशयः—पुत्रिकायाः सुत इति षष्ठीसमासाश्रयणात् तस्य मातामह-शब्दवाच्यत्वात्। .... पुत्रिकासुत इति कर्मधारयसमासाश्रयणेतु

अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भविष्यति ।

इति परिभाषावशात् पुत्रिकापुत्रस्य (?) मातामहसंबन्धः । इतरस्य तूभयसम्बन्धित्वमिति । अत्रोच्यते—दौहित्रस्य मातामहश्राद्धे पुत्रवदधिकार इत्याह विष्णुः—दौहित्रस्य मातामहश्राद्धं निष्कारणमिति । कारणं—रिक्थग्रहणात्मकं । दौहित्रस्य मातामहश्राद्धे नित्यवदधिकार इत्यर्थः । अत्र भारुचिः—निष्कारणमिति वदता विष्णुना भङ्ग्यन्तरेण समनन्तरकर्तॄणां पुत्रादीनां विद्यमानत्वे दौहित्रस्य कर्तृत्वमङ्क्रान्तिः । अत्रादिशब्देन पत्नी विवक्षिता; यत्राग्निविद्यामाध्यकर्मसु स्त्रीणामधिकारस्तत्रापि

पत्न्यत्र दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च ।

इत्येवमादिवचनबलात्तत्र तासामधिकारः ॥

तथा च गौतमः—नित्यवदधिकारो दौहित्राणां मातामहश्राद्धे इति । नित्यवदिति स्वार्थे वतिः । अतश्च—

अकृता वा कृता वाऽपि यं विन्देत्सदृशं सुतम् ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥

इति पत्नीशब्दवाच्यभार्यापुत्रिकासुतविषयं पुत्रिकाकरणपुत्रिकासुतविषयं च वेदितव्यं । नन्वेवमकृता वा कृता वेत्यादि वचनं पुत्रिकाकरणविषयं कृतेतिपदेन; अकृतेति पदेन तु गान्धर्वादिविवाहोढापुत्रिकाविषयं । 'पौत्री मातामहस्तेनेति' वचनसामर्थ्यात् पौत्रत्वमुभयोरेव पुत्रिकायाः पुत्रत्वात् तत्पुत्रस्य दौहित्रत्वात् । गान्धर्वविवाहे मातामहसापिण्ड्यसगोत्रत्वयोरनिवृत्तेः तत्र पौत्रत्वमिति तयोरेव मातामहश्राद्धे नित्यवदधिकारः न दौहित्रमात्रस्येति चेन्मैवं । 'दद्यात्पिण्डं हरेद्धनमिति' धनहरणस्य पत्नीमूलकत्वात्पत्नीपदेन यज्ञसंयोगप्रतिपादकेन गान्धर्वादिविवाहोढापर्युदासात्

तत्पौत्राणां दूरत एव पत्नीमूलकधनग्रहणमिति । किं च पौत्रीति सामर्थ्यात् गान्धर्वादिविवाहोढापुत्रिकापुत्रेऽपि नास्ति दौहित्रत्वात्तस्य किन्तूपचार एव । अतः पूर्वोक्तमेव सम्यक् । नन्वेवं " यो यत आददीत स तस्मै श्राद्धं कुर्यादिति " वैष्णववचनं; दौहित्रस्य मातामहश्राद्धं निष्कारणमिति च वैष्णमेव ; उभयोर्विरोध इति चेन्मैवं । अत्र भगवतो भारुचेर्मतमवतिष्ठते—यः श्राद्धाधिकारी यतो यस्मात्सकाशाद्धनमादद्यात्तेन मिळितेन द्रव्येण तस्मै तदर्थं तत्प्रतिनिधिर्भूत्वा कुर्यादिति । अयमाशयः–बहुपुत्रस्थले बहुदौहित्रस्थले पितुर्मातामहस्य वा और्ध्वदैहिकक्रियाणां मध्ये नवश्राद्धषोडशश्राद्धानां निष्पादने न बहूनामधिकारः किंत्वेकस्यैवेति प्रकरणसामर्थ्यादुक्तं भारुचिनेति ध्येयम् । सोमेश्वरस्तु—वचनस्याभिधानशक्त्या प्रकरणं बाधित्वा यो यत आददीत स तस्मै श्राद्धं कुर्यादिति वचनं पुत्रदौहित्रव्यतिरिक्तरिक्थग्राहविषयमित्याह । एतच्च समनन्तरमेवोक्तं विष्णुना—उद्धृतद्रव्यादेकेनैव शक्तेन श्राद्धषोडशकं कार्यमिति । षोडशश्राद्धग्रहणं नवश्राद्धानामुपलक्षकं । तथा च गौतमः–" समुदितद्रव्येण नवश्राद्धं षोडशश्राद्धं च कुर्यादिति " चकारः पन्थापरिव्ययणं समुच्चिनोति । समुदितशब्देन ज्ञायते–एकस्यैवाधिकारो नान्येषामिति । विष्णुवचने शक्तपदं सामर्थ्यमधिकारं च गमयति । तथाचायमर्थः—एकशब्दो मुख्यवाची मुख्यो ज्येष्ठोऽधिकृतश्चेत्स एव अधिकारी । अन्यथा समनन्तरन्यायासिद्धार्थः । शक्तो दृढाङ्गः । एकः दौहित्राणां मध्ये स एवाधिकारीति । अस्मिन् प्रकरणे पठितत्वात् यो यत आददीतेति वचनमेतदनुरोधेन व्याख्यातं भारुचिना । न्यायनिष्ठेन भगवता सोमेश्वरेण न्यायतः प्रकरणमुल्लङ्घितमिति ध्येयं । अतश्च यानि रिक्थग्राहकर्तृकपराणि—

'श्राद्धं मातामहानां तु अवश्यं धनहारिणा'।
इत्यादीनि; तानि षोडशश्राद्धविषयाणीति ध्येयम्।

श्राद्धं मातामहानां तु अवश्यं धनहारिणा।
दौहित्रेणार्थनिष्कृत्यै कर्तव्यं विधिवत्सदा॥

इति। सोमेश्वरभारुचिमतावलम्बनेन अयमस्यार्थः—अर्थशब्देन प्रयोजनमुद्देश्यं—ऋणमिति यावत्। तस्य निष्कृत्यै—आनृण्याय बहुषूपप्लवमानेषु दौहित्रेषु एक एव शक्तो धनहारी धनं हृत्वा आहृतद्रव्येण षोडशश्राद्धं नवश्राद्धानि पन्थापरिव्ययणं कुर्यात्। पुत्रेष्वसन्निहितेषु अविद्यमानेषु पत्न्यामविद्यमानायां समनन्तरकर्तृषु विद्यमानेषु इतरस्य व्यवहितकर्तुरधिकारनिषेधात्। तथा च विष्णुः—

'सति कर्तर्यन्यस्य कर्तृत्वं समनन्तरकर्तर्यनन्तरकर्तृत्वं न स्मृतम्'

इति।

श्राद्ध इति शेषः। संस्कारकर्मणीति केचित्। तथा च व्यासः—

पितॄन्मातामहांश्चैव द्विजः श्राद्धेन तर्पयेत्।
अनृणस्स्यात्पितॄणां तु यज्ञलोकं समृच्छति॥

इति। अत्रानृण्यं 'त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इति प्रतीतं दौहित्रस्यापि पौत्रवन्मातामहप्रजारूपत्वेन सिद्धं नान्यथा। दुहितुस्त्वग्निविद्यासाध्यकर्मण्यनधिकारात् दौहित्रस्यैव तत्राधिकार इति दुहितृद्वारा दौहित्रस्य सम्पादनादानृण्यं मातामहस्य। अत एव पौत्रादौहित्रस्य व्यवधानं। अत एव पौत्रवद्दौहित्रस्य साक्षादप्रतिबन्धेन दायस्वीकारार्हता नास्ति; किन्तु दुहितृद्वारा। अतो दौहित्रोपी-

षत्कल्पः पौत्र एवेति तस्याप्यानृण्यं पुत्रवन्मातामहौर्ध्वदैहिकक्रियाकरणात्सेत्स्यतीति। अत एव श्रुतिः—

दुहिता पुत्रकल्पा च पौत्रा दौहित्रकाः स्मृताः।

इति। न चैषा पुत्रिकाकरणविषयेति शङ्कनीयं। कल्पप्प्रत्ययानन्वयात्। पुत्रिकाकरणे पुत्रिकैव पुत्र इति न पुत्रकल्पता पुत्रिकायाः। अत एवेषत्कल्पपुत्रः पुत्रिका ईषत्कल्पपुपौत्रो दौहित्र एवेति सिद्धं। यत्तु सन्नियोगशिष्टमातामहश्राद्धप्रतिपादकं वचनं—

पितरो यत्र पूज्यंते तत्र मातामहा अपि।
अविशेषेण कर्तव्यं विशेषान्नरकं व्रजेत्॥

इति। तत्तु जीवपुत्राजीवपुत्रमातामहद्वयसाधारणं। तथा च याज्ञवल्क्यः—

द्वौ दैवे प्राङ्मुखः पित्र्ये उदगेकैकमेव वा।
मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदैविकम्॥

इति।

कुर्यान्मातामहश्राद्धं नियमात्पुत्रिकासुनः।

इत्यादिवचनमेतद्वचना (नु) विरोध्येव। विज्ञानयोगिप्रभृतयस्तु सन्नियोगशिष्टं श्राद्धं मातामहोद्देश्यं पाक्षिकमित्याहु। अतश्च दौहित्रस्य मातापितृतोऽपि दृष्टादृष्टोपकारकतया प्रत्यासत्त्यतिशयात्तद्गाम्येव धनमिति सिद्धं। एतच्च लक्ष्मीधराचार्यकृतमतिगम्भीरं दिङ्मात्रमुदाहृतं।

अथ पत्नीदुहितृन्यायस्यापवादमाह विष्णुः—संसृष्टधनं न पत्न्यभिगामीति। अत्र भारुचिः—अविभागदशायामिव संसृष्टिदशायामपि धनं अनेकपुरुषस्वत्वसमावेशादेकपुरुषापायेन तत्स्वत्वनिवृत्तावपि पुरुषान्तरस्वत्वानां तथैवावस्थानात् को

गृह्णीयादित्यपेक्षाया अनुत्थानात्ताद्दगपेक्षोपनिपातिनः पत्नीदुहित्रन्यायस्य बाधकत्वेनान्यसंसृष्टिन्यायस्यावतार इति। अयं भावः—विभागोत्तरकालं पुनर्द्रव्याणि मिश्रीकृत्य संसारयात्रायामनुवर्तमानायां प्राप्नुवन्नुपचयोऽपचयो वा यथाजातोऽनुभाव्य इति संविदं कृत्वा संसर्गे प्रवृत्तेः पाक्षिकापचयभाराद्युपगमसाहसशालित्वं संसृष्टिन्याय इति। एवमनेन न्यायेन संसृष्टीनां पत्नी दुहित्रपेक्षया तत्क्रमपतितासंसृष्टिपित्राद्यपेक्षया च प्राबल्यमिति नैयायिकोऽयं संसृष्टीनां स्वत्वसंक्रमक्रमः। संसृष्टी नाम विभक्तद्रव्यं विभक्तेन द्रव्यान्तरेण पुनर्मिश्रीकृतं संसृष्टं तदस्यास्तीति संसृष्टी तस्यापुत्रस्य धनमितरः संसृष्टी गृह्णीयात्। न पत्न्यादिरित्यर्थः। संसृष्टित्वं न सर्वेषां अपि तु पितृभ्रातृपितृव्याणामेव। तथा च बृहस्पतिः—

विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संस्थितः।
पितृव्येणापि वा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते॥

इति। विष्णुरपि 'पितृव्यपितृभ्रातृभिरेव संसर्गो नान्यैः' इति। अत्र भारुचिः—वैकल्पिकोऽयं संसर्गविधिरिति। अयमर्थः—पितृव्येण वा पित्रा वा भ्रातृभिर्वा स्वरुच्या संसर्गः 'पितृव्येणाथ वा प्रीत्येति' प्रीतिपदस्मरणादिति। अत एव सम्भूय समुत्थानेऽप्येतस्यान्तर्भावो नास्ति। तत्र पत्नीदुहितरन्याय एवावतरति। सम्भूयकारिणां मध्ये मृतस्य पत्न्यादिरेव धनांशभागीति विष्णुस्मरणात्। अयमर्थः—'पितृव्यपितृभ्रातृभिरेव संसर्गो नान्यैरिति संसृष्टधनं न पत्न्यभिगामिति' विष्णुस्मरणं पत्नीदुहितरन्यायस्य बाधकं सान्नियामकं पित्रादिभिरेव संसर्गो नान्यैरिति सम्भूयकारिणामयं न्यायो नावतरतीति। अत्र

विशेषमाह विष्णुः—'संसृष्टीनां पिण्डकृदंशहारीति'। अत्र भारुचिः पिण्डदोऽशहरश्चैषामित्यत्र पिण्डदत्वमेवांशग्रहणे प्रयोजकमिति। अयं भावः—पिण्डदोऽशहरश्चैषामित्यत्र पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानित्यंशहरत्वमेव पिण्डदत्वप्रयोजकमिति सकलस्मृतिसिद्धं। तथाऽप्यसंसृष्टिस्थले पाक्षिकापचयभाराभ्युपगमसाहसशालित्वरूपन्यायस्य पिण्डदत्वरूपान्तरङ्गन्यायो बाधक इति प्रदर्शनमात्रपर इत्युक्तं। न तु वस्तुवृत्त्या पिण्डदत्वमंशग्रहणप्रयोजकमिति। अतोऽस्मिन् प्रकरणे संसृष्टिन्यायान्तरङ्गन्यायौ यथार्थं प्रवर्तेते। अतश्च क्वचित्संसृष्टिन्यायेन संसृष्टिन एव धनग्राहित्वं क्वचिदन्तरङ्गन्यायेनैवासंसृष्टिन एव धनग्राहित्वमुक्तं। एवं त्रैविध्येऽपि न पत्न्यादिर्धनग्राहीति प्रतिपदन्यायफलं सिद्धं। अतश्च संसृष्टिनोऽपुत्रस्यापितृकस्य धनं पितृव्यगाम्येवेति विष्णुवचनस्यार्थः। अत एवाह याज्ञवल्क्यः—

'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी' इति। यत्र पुनः पितृव्यसोदरौ संसृष्टौ तत्र संसृष्टिधनं सोदरगाम्येव। न पितृव्यगामीत्याह याज्ञवल्क्यः—'सोदरस्य तु सोदर' इति। सोदरस्य संसृष्टस्यधनं सोदर एव गृह्णीयात्। संसृष्टिपितृव्यादिस्तु संसृष्टोऽपि न गृह्णीयात्। तस्यैव तत्पिण्डदानाधिकारादिति वचनार्थः। संसृष्टिनो मरणानन्तरं जातस्य पुत्रस्यैवांशो दातव्यः न ग्रहीतव्य इत्याह याज्ञवल्क्यः—

दद्याच्चापहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च।

इति। यत्र पुनः भिन्नोदरा भ्रातरः केचन संसृष्टाः सोदरभ्रातरो न सन्ति पितृव्यादयोऽपि संसृष्टाः तत्र भिन्नोदरभ्रातृगाम्येव धनमित्याह याज्ञवल्क्यः—

अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यधनं हरेत् ।

इति । असंसृष्टीति शेषः । तथाहि विष्णुः—'भिन्नोदराणां संसृष्टिनो गृह्णीयुः' । अत्र भारुचिः–भिन्नोदराणामिति निर्धारणे षष्ठी। भिन्नोदराणां मध्ये संसृष्टिन एव धनं गृह्णीयुः । अयंभावः-यद्यपि भिन्नोदराणां संसृष्टिनामसंसृष्टीनां च तत्पिण्डदानेऽधिकारस्तुल्य एव ; पिण्डदाने ज्येष्ठकनिष्ठत्वादिविवेकानपेक्षया अधिकारस्य तुल्यत्वादित्युक्तेः। पिण्डदानाधिकाररूपान्तरङ्गन्यायतौल्येऽपि पाक्षिकापचयभाराभ्युपगमसाहसशालित्वरूपन्यायस्याधिकस्य विद्यमानत्वात्तत्रैव धनग्राहित्वमिति न काचिदनुपपत्तिः। ननु पित्रा भ्रात्रा पितृव्येण च संसृष्टधनं न पितृगामि नापि पितृव्यगामि अपि तु भ्रातृगाम्येवेत्युक्तं। एवं च सति वाचनिकस्वत्वसङ्क्रमस्स्यात्; स नैयायिक इति प्रागुक्तं निरुन्ध्यात् । अतस्संसृष्टिविषयेऽपि पित्राद्यपेक्षया भ्रातुः प्राथम्ये न्याय एव वक्तव्यः उच्यते—उक्तं तावद्विभक्तानां पुनः संसर्गप्रवृत्तिः पाक्षिकापचयभाराभ्युपगमसाहसपूर्विकेति। भ्रतॄणामेव च संसर्गप्रवृत्तिस्तादृशी न पितुः । पितापुत्रयोरसत्यापि संसर्गेऽन्यतरापचयनिबन्धनापचयसङ्क्रान्तेरवर्जनीयत्वेन कृताकृतप्रसङ्गित्वात् । श्रूयतेऽपि—

तथा पिता पुत्रं क्षित उपधावति ।
यथा पुत्रः पितरं क्षित उपधावति ॥

इति । अतो भ्रातॄणामेव संसर्गे प्रवृत्तिः पाक्षिकापचयभाराभ्युपगमसाहसपूर्विका न पितुरिति भ्रातृप्राथम्यं नैयायिकमेव । नन्वेवं पुत्राद्विभक्तस्य पितुः स्वभ्रातृभिस्संसृष्टस्य

मरणे तद्धनस्य भ्रातृगामित्वमेव स्यात् न पुत्रगामित्वमिति । मैवं, पत्नीदुहितरन्यायवत् संसृष्टन्यायस्यापुत्रविषयत्वात् । यथाऽऽह संसृष्टिप्रकरणे नारदः—

भ्रातृणामप्रजाः प्रेयात् कश्चिच्चेत्प्रव्रजेत वा ।

इति । देवलोऽपि—

ततो दायमपुत्रस्य विभजेरन् सहोदराः ।

इति । शङ्खोऽपि—

अपुत्रस्य स्वर्यातस्य भ्रातृगामि द्रव्यमिति ।

पुत्रो विद्यमानो विभक्तो न संसृष्टः इत्युक्तमिति चेत्, किमसंसृष्टः पुत्रो न पुत्रः; पुत्रस्य हि पुत्रत्वेनैव प्राबल्यं न संसृष्टत्वेन वा विभक्तत्वेन वा 'अङ्गादङ्गात्संभवसि' इति मन्त्रवर्णात्तस्यात्मतया निरूपितत्वात् धनस्वामिनो मृतस्यात्मभूते तस्मिन्वर्तमाने सत्यन्यस्य तद्धनग्राहित्वशङ्कानुदायात् । एवं च यथा विभक्तोऽपि पुत्रः पुत्रत्वेनैव पत्न्याद्यपेक्षया प्रबलः । तथैव संसृष्टोऽपि पुत्रः पुत्रत्वेनैव संसृष्टभ्रात्रपेक्षया प्रबल इति तद्ग्राम्येव धनं । ननु पितृव्यादिभिस्संसृष्टस्य पितुर्धनं पुत्रैकनियतमित्युक्ते किमर्थं संसर्गः पित्रा तद्भ्रात्रादीनामिति चेन्मैवं । जीवद्दशायामुपचयार्थमेव संसर्गविधानं न तु भाविमरणाभिसन्धिना । अतो मरणानन्तरं न्यायतो विविच्यमानं स्वत्वं यत्र पर्यवसितं स्यात्तदेव ग्राह्यमिति । मृते पितरि संसृष्टे तत्संसृष्टैः पितृव्यादिभिः संसृष्टिदशायां भुक्तावशिष्टं धनमपाकृतावशिष्टं ऋणं पुत्रैरेव विभक्तैरप्यसंसृष्टिभिरपि स्वीकार्यमिति न कश्चिद्विरोधः । अन्तरङ्गन्यायेनासंसृष्टिनामेव धनग्राहित्वमाह याज्ञवल्क्यः—

असंसृष्टयपि चादद्यात् ।

इति। अपिशब्देन 'सोदरस्य तु सोदर' इत्यत्र सोदरोऽनुकृष्यत इति भारुचिः। लक्ष्मीधरस्तु—अपिशब्देन 'संसृष्टो नान्यमातृज' इत्यन्यमातृजपदसामर्थ्यात् सोदर एव समुच्चीयत इत्याह। तदयमर्थः—संसृष्टिनो धनं असंसृष्टसोदर एव गृह्णीयात्। अन्यमातृजस्तु संसृष्टोऽपि न गृह्णीयात्। असंसृष्टिनस्सोदरस्य पाक्षिकापचयभाराभ्युपगमसाहसशालित्वाभावेऽपि पितृपिण्डदानाधिकारस्तस्यैवेति तदुक्तिः। अनेनैव न्यायेन एकोदराणामपि संसृष्टस्य मध्यमस्य मरणे कनिष्ठस्यासंसृष्टिनः तदौर्ध्वदैहिकाधिकारात् संसृष्टज्येष्ठस्य विद्यमानत्वेऽपि तस्य न मध्यमांशग्राहित्वमिति ध्येयं। अत्र केचिदाहुः—'असंसृष्ट्यपि चादद्यात्संसृष्ट' इति संसृष्टपदं सोदरवाचि संसृष्टधनवद्वाचीत्यर्थद्वयमाहुः। अवसिते तात्पर्ये संसृष्टपदमावृत्त्या वाक्यद्वयेऽप्यन्वितमस्तु वाक्यभेदे च विरूपार्थता न दोष इति विज्ञानयोगिनो मतमिति। ननु पित्रा संसृष्टानां पुत्राणां धनग्राहित्वं। असंसृष्टानां पुत्राणां पितृधनग्राहित्वं नास्ति। यथा अविभक्तजपुत्रस्य पितृधनग्राहित्वं; नान्येषां पुत्राणामिति। मैवं।

विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक्।
ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्॥

इति।

पुत्रैस्सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमार्जितम्।
विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः॥

इत्यादिवचनशतेभ्यः विभक्तजस्य पितृधनग्राहित्वं प्रतीयते। एतादृशं संसृष्टपुत्रस्य पितृधनप्रापकं वचनमेकमपि न प्रदृश्यते।

नन्वेवं विभक्तस्य पितृधनस्वामित्वं वाचनिकं स्यादिति पूर्वोक्तं विरुध्येत इति चेन्मैवं। अत्र विभागो वाचनिकः। 'विभागे धर्मवृद्धिस्स्यात्' इत्यादिवचनाद्धर्मवृद्धिकामानां विभागः कार्य इति विभागस्य वाचनिकत्वप्रतीतेः। अतो विभक्तजस्य स्वामित्वं नैयायिकं; तथाहि–विभक्तस्य पितृद्रव्यस्वीकारसमये इतरे विभक्ता भ्रातरः तद्द्रव्यं सममंशं स्वयमपि यदि गृह्णीयुः तदा विभक्तजस्याल्पीयानेव विभागस्स्यादिति विषमविभागस्स्यात्। तद्दोषपरिजिहीर्षया यदि ते सर्वे विभक्तजेन सार्धं पुनर्विभागं कुर्युस्तदा पूर्वविभागस्य पितृकृतस्यानर्थक्यं स्यात्। भ्रातरस्संसृष्टांशमवयुत्य संसृष्टिनो दत्वा पितृद्रव्यमेव गृह्णीयुरिति। अतो युक्तं संसृष्टिनामसंसृष्टिनां पुत्राणां पितृद्रव्ये तुल्यमेव स्वाम्यमिति। एतदेवाभिप्रेत्याह भारुचिः—संसृष्टानामसंसृष्टानां पुत्राणां पितृकृतर्णापाकरणं तुल्यतया न्याय्यमिति पित्रार्जितद्रव्यस्याधिक्ये लोभाद्विभागापेक्षायामप्यपचयभारसहिष्णुत्वाभावात्। अपचये सत्यप्रवृत्तेः विभागो नास्ति। किंतु विभक्तजस्यैव पितृद्रव्यमिति पितृधनग्रहणे मनुवचनं ज्ञापकमित्याहुः। यथाऽऽह मनुः—

संसृष्टास्तेन ये वा स्युर्विभजेत स तैस्सह।

अस्यार्थः—ये च विभक्ताः पित्रा सह, संसृष्टास्तैस्सार्धं पितुरूर्ध्वं विभक्तजो विभजेत्। असंसृष्टैस्तु भ्रातृभिस्सह विभक्तस्य न विभाग इति तात्पर्यार्थ इति। यत्तु मनुनैवोक्तं— संसृष्टिविभागं प्रक्रम्य—

एषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः।
म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते॥

सोदर्या विभजेयुः स्तं समेत्य सहितास्समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टाः भगिन्यश्च सनाभयः ॥

इति । तद्विज्ञानयोगी व्याचष्टे—येषां भ्रातॄणां संसृष्टानां मध्ये ज्येष्ठःकनिष्ठो मध्यमो वा अंशप्रदानतः—अंशप्रदाने । सार्वविभक्तिकस्तासिः ; विभागकाल इति यावत् । हीयेत स्वांशाद्भ्रश्येत आश्रमान्तरग्रहणेन वा ब्रह्महत्यादिना वा मरणेन वा तदा तस्य भागो न लुप्यते । अतः पृथगुद्धरणीयो न संसृष्टिनो गृह्णीयुरित्यर्थः । तस्योद्धृतस्य विनियोगमाह ‘ सोदर्या विभजेयुस्तमिति ’ तमुद्धृतं भागं सोदर्याः सहोदरा असंसृष्टा अपि समेत्य देशान्तरगा अपि समागम्य सहिताः सम्भूय समं—न्यूनाधिकविभाग(भाव)रहितं। ये च भ्रातरो भिन्नोदरास्संसृष्टास्ते च सनाभयो भगिन्यश्च गृह्णीयुरित्यर्थ इति । तदयमर्थः—भिन्नोदरसंसृष्टिनामपचयभारसहिष्णुत्वमंशग्रहणे निमित्तं । एकोदराणां तु पिण्डदानाधिकारनिबन्धनान्तरङ्गन्याय एवांशग्रहणे निमित्तं । उभयनिमित्तं संसृष्टस्यैकोदराभावे वेदितव्यं। भगिनीनां तु संसृष्टधनविभागसमये दायविभागसमय इव यत्किंचित्प्रीत्या देयं न तु विभागः ; तासां संसर्गाप्रसक्तेः । प्रसक्तानामेव विभागः । अतश्च भिन्नोदराणां संसृष्टानामसंसृष्टानामेकोदराणां समविभाग इति सिद्धम् ।

अपरार्कचन्द्रिकाकारादयस्तु—संसृष्टापुत्रद्रव्यं प्रथमतो भ्रातृगामि तदभावे पितृगामि तदभावे वृत्तस्थपत्न्यभिगामीति शङ्खोक्तवाचनिकक्रमेण पत्नीदुहितर इति नैयायिकक्रमो बाध्यते। अतः ‘सोदर्या विभजेयुस्तं’ इति वचनं क्रमपरमित्याहुः । तन्न, शङ्खोक्तक्रमस्य नैयायिकत्वं प्रतिपादितं प्राक् । शङ्खवचने पत्नीग्र-

हणात् संसृष्टधनविभागसमये पत्न्या अपि भगिनीनामिव यत्किंचिद्देयमिति ध्येयं । अतश्च भारुचिविज्ञानयोगिमतमेव सम्यक् ।

अथ सर्व (वर्ण) विभागशेषः किञ्चिदुच्यते ।

तथा च मनुः—

ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि ।
पश्चाद्दृश्येत यत्किंचित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥

कात्यायनस्तु विशेषमाह—

प्रच्छादितं च यत्नेन पुनरासाद्य तत्समम् ।
भजेरन् भ्रातृभिस्सार्धमभावे हि पितुस्सुताः ॥

पितुरभावे सर्वे सुता एव तदासादितं बिभजेरन्नित्यर्थः । यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

अन्योन्यापहृतं द्रव्यं विभक्ते यत्तु दृश्यते ।
तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरान्निति स्थितिः ॥

इति । अत्र समैरिति वदता उद्धारविभागो निषिद्धः । विभजेरन्निति वदता येन यद्दृश्यते तत्तेनैव न ग्राह्यमिति दर्शितं। अनेन वचनेनैव समुदितद्रव्यापहारे दायादानां न दोष इति ज्ञायत इति भारुच्यपरार्कसोमेश्वरादय आहुः । विज्ञानेश्वरस्तु—ननु मनुना समुदितद्रव्यापहारे ज्येष्ठस्यैव दोषो न कनीयसां दोष इति दर्शितं ।

यो ज्येष्ठो हि निकुर्वीत लोभाद्भ्रातॄन्यवीयसः ।
स ज्येष्ठस्स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥

इति। नैतत् ज्येष्ठमात्रविषयं सर्वेषां; यवीयसामपि । तथा च श्रुतिः— "यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते वैनं स यदि वैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयते" इति। भागिनं—भागार्हं भागान्नुदते भागा-

दपाकरोति भागं तस्मै न प्रयच्छति स भागान्मुक्तः एनं नेतारं चयते नाशयति दोषिणं करोति। यदि तं न नाशयति। अथास्य पुत्रं पौत्रं वा नाशयतीति ज्येष्ठविशेषमन्तरेणैव साधारणद्रव्यापहारे दोषश्श्रुत इत्याह । अत्र भारुच्यादिमतमेव सम्यक् । मनुस्मृतिश्रुत्योर्भागमात्रप्रदानाविषयत्वादवलुप्ताविभागाविषयत्वादिति । यत्तूक्तं कात्यायनेन—

विभक्तेनैव यत्प्राप्तं धनं तस्यैव तद्भवेत् ।
हृतं लब्धं च यन्नष्टं प्रागुक्तं च पुनर्भजेत् ॥

मिथोऽपहृतमित्यादिना प्रागुक्तस्यापि पुनरुपादानं दार्ढ्यार्थं । तथा च दुर्विभक्तं मिथोऽपहृतमन्योन्यापहृतं नष्टं दुर्लब्धं च समतां नयेदित्यर्थः ।

अन्योन्यापहृतं द्रव्यं दुर्विभक्तं च यद्भवेत् ।
पश्चात्प्राप्तं विभज्येत समभागेन तद्भृगुः ॥

इति। दुर्विभक्तं शास्त्रोक्तप्रकारमन्तरेण विषमतया विभक्तं । नष्टं तु निक्षेपादिना नष्टं पश्चाल्लब्धं । दुर्ल(भं)ब्धं तु असाध्यजनस्थितं ऋणादिकं। एवमन्यापहृतदुर्विभक्तनष्टमिथोपहृतदुर्लब्धानां विभागानन्तरं जायमानानां भ्रातृभिस्समांशेनैव विभागः कर्तव्य इति शास्त्रमर्यादा । अथ विभागसन्देहे निर्णयप्रकारमाह नारदः—

साक्षित्वं प्रातिभाव्यं च दानं ग्रहणमेव च ।
विभक्ता भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः परस्परम् ॥

बृहस्पतिः—

पृथगायव्ययधनाः कुसीदश्च परस्परम् ।

वणिक्पथं च ये कुर्युः विभक्तास्ते न संशयः ॥

इति । विष्णुरपि—क्रयविक्रयदानग्रहणप्रातिभाव्यसाक्षित्वस-म्भूयकारित्वनिध्याधानादिकं परस्परकृतं विभागहेतुरिति । अयं क्रयविक्रयाधिकारहेतुः । अतश्च साक्षित्वप्रातिभाव्यदानग्रहणा-दीनि परस्परमेव न कार्याणि । भ्रातॄणां मध्ये इतराभ्यनुज्ञया एकस्य विभक्तपितृव्यादिकं प्रति प्रातिभाव्यादेः विहितत्वात् । तथा च स्मृतिः—

इतरेणानुजानानः प्रातिभाव्यं हरेत्परः ।

इति । अनेनाभिप्रायेणाह याज्ञवल्क्यः—

भ्रातॄणामथ दम्पत्योः पितुः पुत्रस्य चैव हि ।
प्रातिभाव्यमृणं साध्यमविभक्तेन तु स्मृतम् ॥

इति । परस्परमिति शेषः । अत एवाह स एव—

विभागनिह्नवे ज्ञातिबन्धुसाक्ष्यभिलेख्यकैः ।
विभागभावना ज्ञेया गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः ।

विभागस्य निह्नवे अपलापे ज्ञातिभिः पितृसम्बन्धिभिः विभक्त-पितृव्यादिभिः बन्धुभिः मातृसम्बन्धिभिः मातुलादिभिः पूर्वो-क्तलक्षणैः लेख्येन च विभागपत्रेण विभागभावना विभाग-निर्णयो ज्ञातव्यः । तथा च यौतकैः पृथक्कृतैः गृहक्षेत्रैश्च । च कारेण पृथक्पृथक् कृष्यादिप्रवर्तनं पृथक्पृथक् पञ्चमहायज्ञा-दिधर्मानुष्ठानं समुच्चीयते । तथा च नारदः—

विभागधर्मसन्देहे दायादानां विनिर्णयः ।
ज्ञातिभिर्भागलेख्येन पृथक्कार्यप्रवर्तना ॥

इति । अत्र लिखितसाक्ष्यादेः ज्ञापकहेतुत्वं विभागसन्देहे सिद्ध-स्यैव विभागस्य ज्ञापकत्वात् । कारकहेतूनां त्वविद्यमानस्यापि

विभागस्य निष्पादकत्वं पुरस्तान्निवेदयिष्यते । पृथक्क्षेत्रैश्च यौतकैरिति चकारसमुच्चितार्थस्तु दशवर्षपर्यन्तावस्थिताः कारका इति च पुरस्तान्निवेदयिष्यते। नन्वस्मिन् वचनद्वये लेख्यसाक्षिभ्यां तुल्यतया लिङ्गानां गमकत्वमुक्तं; तन्नसंगच्छते । लिङ्गानां तर्करूपेण प्रमाणानुग्राहकतया तद्वत्प्रमापकत्वायोगादिति चेन्मैवं, अस्मिन् विवादपदे लिङ्गानामपि प्रमापकत्वमेत्र न त्वितरसप्तदशविभागपदेष्विव लिङ्गानां प्रमाणानुग्राहकत्वं। तथाहि—विभागार्हेषु भ्रातृषु परस्परमृणप्रातिभाव्यसाक्ष्यदानप्रतिग्रहपितृदेवार्चनक्रियाः षोढा दर्शन उक्ताः हस्तादिलिङ्गतुल्या न भवन्ति । ततश्चैतानि 'नाविभक्ताः कथंचन' इति स्मृतिवशादविभक्तानां निषिद्धानि 'विभागनिह्नव' इत्यादिवचने साक्षिलिखितसमानयोगक्षेमतया लिङ्गान्युक्तानि भवन्ति । इतरेषु विवादपदेषु लिखितसाक्ष्यादीनामेव प्रमापकत्वात् इतरेषां तदनुग्राहकत्वं; अत्र तु न तथेति । किंचानेनैव वचनेन ज्ञायते—अस्मिन्विषये लिङ्गानामपि लेख्यसाक्षिभ्यामन्तरेणापि प्रमापकत्वमभ्युगतमिति । अत एव बृहस्पतिः—

साहसं स्थावरस्वाम्यं प्राग्विभागश्च रिक्थिनाम् ।
अनुमानेन विज्ञेयं न स्युर्यस्य च साक्षिणः ॥

न स्युरिति—लिखितसाक्षिणावन्तरेणेत्यर्थः । साक्षिग्रहणं प्रबलप्रमाणस्योपलक्षणं । अत एव लेख्यमपि सङ्गृहीतं । अत एवानन्तरमुक्तं तेनैव—

तेषामेताः क्रियाः लोके प्रवर्तन्ते स्वरिक्थिषु ।
विभक्तानवगच्छेयुः लेख्यमप्यन्तरेण तान् ॥

लेख्यग्रहणं साक्षिणामुपलक्षणं। केचिदाहुः—अत्र विभागनिह्नवे लेख्य(लिखित)साक्षिभ्यां तुल्यबलत्वं लिङ्गानामप्यवगन्तव्यं। अत एवार्हतद्व्याख्याने चन्द्रिकाकारः–प्रवर्तन्ते–व्यक्तास्समस्ता इति शेष इति। तन्न। परस्परकर्तृकसाक्षित्वप्रातिभाव्यादीनां ज्ञापकहेतुभ्यो विलक्षणत्वेनोक्तत्वात्। साक्षिग्रहणेनैव ज्ञात्या-दीनां तटस्थसाक्षिणामपि साक्षित्वेऽपि विभागनिर्णये तेषां प्राबल्यज्ञापनार्थं पृथग्ग्रहणमिति विज्ञानेशः। साक्षिग्रहणं कृतसाक्षिपरमिति केचित्। बृहस्पतिः—

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्।
एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद्गृहेगृहे॥

एवं च पृथक्पृथग्वैश्वदेवादिकार्यप्रवर्तनं अविभक्तेष्वविद्यमानं विभक्तत्वमवगमयतीति विभागसन्देहनिर्णययुक्तिर्युक्तेत्यनवद्य-मिति चन्द्रिकाकारः। अस्यायमाशयः—पितृदेवद्विजार्चनमित्यत्र पितृशब्देन प्रत्याब्दिकमुच्यते। अमावास्याश्राद्धादीनामविभ-क्तानां मध्ये इतराभ्यनुज्ञया इतरस्याधिकारात्। अत्र देवशब्देन तत्संनियोगशिष्टं वैश्वदेवश्राद्धमुच्यते। न तु देवयज्ञादिकं, तस्याविभक्तानामपि विहितत्वात्।

अविभक्तैश्च कर्तव्या वैश्वदेवादिकाः क्रियाः।

इति स्मरणादिति। एतच्च वैवाहिकाग्निर्येषां मते अलौकिकः। लौकिकत्वपक्षे तु विभागानन्तरमेव अग्निहोत्रवैश्वदेवादिकाः कार्या इति तेषां कारकहेतवो वैश्वदेवादिकाः। उभयेषां प्रत्याब्दिकं कारहेतुरिति। अत्र केचिदाहुः–चन्द्रिकाकारेण श्रेष्ठनिर्णायक-प्रमाणाभावे लिङ्गानां प्रवेश इत्युक्तं त(तु)च्च लिखितसाक्षिसद्भावे ताभ्यां निर्णय औत्सर्गिक इति तेषां प्राथम्य(प्राधान्य)मुक्तं।

न तु प्रमापकत्वे लिखितसाक्षिलिङ्गानां। विभागनिह्नवस्थले लिङ्गादितरप्राबल्यस्य स्मृत्याचारयोर्वेदानुमापकत्वे तुल्ये आचारमूलवेदानुमानात् स्मृतिमूलवेदानुमानस्य सुकरत्वत्वादित्यनुसन्धेयमिति। तन्न। चन्द्रिकाकारस्य लिङ्गशब्देन हेतुरभिप्रेतः। स च ज्ञापक एव। कारकहेतूनां लिखितादतिशयित्वान्न तुल्यतेति। अत्र कात्यायनः—

वसेयुर्दश वर्षाणि पृथक्धर्माः पृथक्क्रियाः।
भ्रातरस्तेऽपि विज्ञेया विभक्ताः पैतृकाद्धनात्॥

भ्रातृशब्दोऽत्र रिक्थसम्बन्ध्युपलक्षणार्थः। पैतृकग्रहणं दायग्रहणोपलक्षणार्थमिति चन्द्रिकाकारः। तन्न, स्वत्वानुत्पत्तेरिति वक्ष्यते। ननु कार्यानुषङ्गाद्वा अशक्त्या वा दशवर्षपर्यन्तं दायग्रहणाभावे व्यवहारासिद्ध एवेति पूर्वप्रकरणोक्तं विरुध्यादिति चेन्मैवं। परमार्थतो दायग्रहणाभावे।

पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी।
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी॥

इतिवत् छलानुसारेण विभक्ता एवेति चन्द्रिकाकारः। अत्र छलं स्वोपेक्षानिबन्धनं। नन्वेवं पश्यतोऽब्रुवतो भूमेरित्यत्र न व्यवहारहानिः स्वस्वरूपहानिः। अपि तु फलहानिरित्युक्तं विज्ञानयोगिना। तद्वदत्रापि फलहानिरेव न स्वरूपहानिः न व्यवहारहानिरिति चेन्मैवं। भूमेर्हानिरित्यत्र कर्मणि षष्ठीविधानाद्विंशतिवार्षिको भोगो भूमिं हन्यादिति वाक्यार्थस्य निष्पन्नत्वात्। दशवार्षिको भोगो धनं हन्यादिति स्वरूपहानिरेवोक्ता। ननु—

छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः।

इति तत्वानुसरणेनैव न्यायः कर्तव्य इति चेन्मैवं। अत्र छलमतत्वात्मकं विवक्षितं। न तु तत्वात्मकं। तत्वात्मकछलावलम्बनेन तु व्यवहारनिर्णयदर्शनात्। तथाहि—

भूतच्छलानुरोधेन द्विगतिस्समुदाहृतः।

इति व्यवहारस्य छलावलम्बनमप्येका गतिर्युक्ता। अन्यथा—

धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
चतुष्पाद्व्यवहारोऽयमुत्तरः पूर्वबाधकः॥

इति स्मृत्या उत्तरेषां व्यवहारचरित्रराजशासनानां धर्मबाधकत्वं छलानुसरणनिबन्धनं निरुन्ध्यात्। एतस्य छलानुसरणस्य तात्विकत्वे स्मृतिकारणामप्रामाणिकत्वं स्यात्। अत एव छलं निरस्य भूतेनेत्यत्र छलग्रहणमतत्वात्मकछलविषयमिति मन्तव्यं। अत एव चन्द्रिकाकारविज्ञानयोगिभ्यां—

निह्नवे भावितो दद्यादेकदेशविभावितः

इति वचनव्याख्यानावसरे छलानुसरणमत्र कार्यमित्युक्तं। विज्ञानयोगिनापि—

स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्।

इत्यत्र अवष्टम्भविषये दिव्यं नास्तीति वदता; पश्यतोऽब्रुवतो भूमेरित्यत्रापि तु फलहानिरिति वदता; छलानुसारेण निर्णयोऽङ्गीकृत इति दिङ्मात्रमुदाहृतं। तत्र केचिदाहुः—दशवर्षपर्यन्तं पृथक्क्रियाकरणं पृथग्धर्मानुष्ठानं च रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाद्यन्यतमत्वाभावात्स्वत्वहेतुत्वाभावात् पृथक्क्रियस्य पृथग्धर्मकस्य पुरुषस्य कथं स्वत्वापादकमिदिचेत् उच्यते—

विभक्ताःपैतृकाद्धनादिति वचनादवगम्यते स्वत्वं। तथा हि—

विभागो नाम—समुदायद्रव्यविषयाणामनेकस्वाम्यानामेकैकत्राव्यवस्थापनं इत्युक्तं प्राक्। तच्च वचनादवगम्यते। यथा—

आधिः प्रणश्येद्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते।

इत्यत्र वाचनिकस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापत्तिरित्युक्तं विज्ञानयोगिना। चन्द्रिकाकारेणापि छलानुसारेण विभागो नास्तीति वदता वाचनिकस्वत्वापत्तिरित्युक्तं। नन्वेवं चन्द्रिकाकारेण आधिः प्रणश्येद्विगुण इत्यत्र तिलविनिमयादिदृष्टान्तेन आधेर्विनिमयान्तमङ्गीकृत्य तस्य विनिमयस्य स्वत्वहेतुता लोकसिद्धेत्युक्तमिति एवमत्रापि लोकसिद्ध्याश्रयेण प्रकारान्तरेणौदासीन्यस्वोपेक्षानिबन्धनस्वीकारोऽपि स्वत्वहेतुर्भवत्विति वाच्यं। पश्यतोऽब्रुवतो भूमेरित्यनेनैव दत्तोत्तरत्वात्। किञ्च तत्रापि चन्द्रिकाकारस्य वाचनिकदानान्तत्वं वा विनिमयद्रव्यस्य क्रयमूल्यतया क्रयान्तत्वं वा स्वीकर्तव्यमित्युक्तं प्राक्। स्वत्वस्य वाचनिकत्वं नाम पारिभाषिकत्वमित्युक्तमाधिः प्रणश्येदित्यादिवचनव्याख्यानावसरे। तच्च पारिभाषिकत्वमत्र न वक्तुं शक्यते। दशवर्षपर्यन्तं तूष्णीमेवावस्थितत्वात्। परमार्थतोऽपि दायग्रहणाभाव इति चन्द्रिकाकारग्रन्थस्यायमर्थः—परमार्थतो वस्तुवृत्त्या। दायग्रहणं विभागः। तस्याभावेऽपि पैतृकाद्धनाद्भ्रातरो विभक्ता एवेति। अयमाशयः—यथेष्टविनियोगार्हत्वमेव स्वत्वं। तच्च जन्मनैव सिद्धं। कारकहेतूनां परस्परकर्तृकसाक्षित्वप्रातिभाव्यदानग्रहणक्रयविक्रयसम्भूयकारित्वनिध्यादीनां सद्भावे सत्येव विभागोत्पत्तिः। तेषां कारकत्वेनैव ज्ञापकत्वाभ्युपगमात्।

विभक्ता भ्रातर कुर्युः नाविभक्ताः परस्परम् ॥

इति अविभक्तानां निषिद्धास्सन्तो विभागं निष्पाद्य ज्ञापयन्ति। यथा द्वैतीयिकसाध्यानुबन्धाः शास्त्रभेदमुत्पाद्य भेदज्ञापका इति कारकहेतुत्वेनाभिमता मीमांसकैः तद्वदत्रापीति मन्तव्यं। अत्र जन्मनैव स्वत्वमुत्पन्नं भ्रातॄणां; तथाऽपि विभागकारकहेत्वभावाद्दशवर्षपर्यन्तमवष्टम्भहेतूनां विभागकारकत्वे सिद्धे स्वत्वस्यापि विभागस्सिद्धस्संस्फुरतीति चन्द्रिकाकारस्याभिमतियोग्यं मतमनूदितं। अतश्च तेषां लिङ्गानां सद्भावे संविभागोऽवश्यमस्तीत्यपिशब्दं प्रयुञ्जानस्य भाव इति।

यत्तु—चन्द्रिकाकारेणोक्तं—दशवर्षादर्वागित्यादिना ग्रन्थकलापेन—विभागसन्देहे दिव्यानवतारात् पुनर्विभागः कर्तव्य इति लिङ्गानां सामर्थ्यमसामर्थ्यं चोक्तं; तत्तु दशवर्षादर्वागपि लिङ्गानां साक्षिलिखितप्रमाणाभ्यां सामर्थ्यं तुल्यमेव; किं तु दशवर्षस्योपरि लिङ्गानां प्राबल्यात् लिखितसाक्षिसद्भावेऽपि तदपेक्षा नास्तीत्येवम्परं। दिव्यानवतारस्तु वाचनिकः। "सर्वाभावेऽपि पुनर्विभागः कर्तव्य" इति विष्णुस्मरणात्। सर्वेषां लिखितादिज्ञापकहेतूनां कारकहेतूनां चाभावे। विभागशब्दः पत्नीविभागवदसमर्थेषु भ्रातृषु दरिद्रेषु स्वरुच्या यत्किञ्चिद्दातव्यमित्येवम्परः इति सोमेश्वरादय आहुः। तन्न, सर्वाभावे दिव्यानवतारात् स्वरुचिपक्षस्यानवताराच्छुद्ध एव विभगः कर्तव्य इत्याह भारुचिः। अयमेव पक्षस्सम्यक्। केचित्तु सोमेश्वरादीनामभिसन्धिमेवमाहुः—व्यपगते विभागसंदेहे विभागस्य सिद्धत्वं भ्रातरः पोष्या इति यत्किञ्चिद्देयमित्याहुरिति सर्वमनवद्यं। एतच्चन्द्रिकाकाराभिमतियोग्यं मतद्वयमनूदितं।

वसेयुर्दशवर्षाणि पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः ।
विभक्ता भ्रातरस्तेऽपि विज्ञेयाः पैतृकाद्धनात् ॥

इत्यनेन द्रव्याभावेऽत्यन्तनिस्स्वानां धर्मविभागः कर्तव्यः । 'विभागे धर्मवृद्धिस्स्यात्' इत्यादि स्मृतिभ्यः । अतश्च पितृद्रव्याविरोधेन दशवर्षपर्यन्तं ये पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः ते विभक्ता एव । धर्मविभागस्य इतराभ्यनुज्ञामन्तरेणाप्येकेनैव स्वीकर्तुं शक्यत्वादित्युक्तं भारुचिना । एतादृशस्य विभागशब्दवाच्यत्वमप्यस्तीत्युक्तं प्रकरणादावेव । पितृद्रव्याविरोधेनार्जिते द्रव्ये दायादानामनधिकार इत्युक्तं । अतश्च पितृद्रव्याविरोधेनार्जितस्य सद्भावेऽपि तस्याविभाज्यत्वात् धर्मविभागात्मक एवात्र विभागोऽवतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम् । पैतृकाद्धनादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी ।

अत्रेदं भारुचेर्मततत्वं—" वसेयुर्दशवर्षाणि " इत्यत्र ल्यब्लोपे पञ्चम्याश्रयणात् पितृधनं विहाय ये दशवर्षपर्यन्तं धर्मविभागवन्तः तेषां तदूर्ध्वं मैत्रादिना यल्लब्धं तदेवाविभाज्यं दशवर्षमध्ये लब्धं मैत्रादिकं विभाज्यमेव । अविभागदशायां स्वयमार्जितं मैत्रादिकं विभाज्यमिति कैमुतिकन्यायसिद्धम् । यथाऽऽह विष्णुः—

अपित्र्यं गार्भं धार्मं मैत्रं वैद्यमाकस्मिकमादशाब्दं प्रविभाज्यमत ऊर्ध्वं सर्वमविभाज्यम् ।

इति । अत्राह भारुचिः—आपित्र्यं–अविद्यमानपितृद्रव्यं । एतत्त्रितयविशेषणं । गार्भं—स्त्रीधनं । धार्मं–इष्टापूर्तादिकं । मैत्रं–मित्रसकाशाल्लब्धं । वैद्यं–विद्यातो लब्धं । आकस्मिकं–अकस्माल्लब्धं निध्यादिकं । प्रतिग्रहादिना लब्धं । एतत्पञ्च-

विधद्रव्यमध्ये उत्तरत्रयं धर्मविभागाभावेऽविभक्तत्वात् विभाज्यं। दशवर्षपर्यन्तावस्थितिरूपधर्मविभागसद्भावेऽप्यविभाज्यमेव इति। अयमाशयः—आदशवर्षमिति धर्मविभागोपलक्षणमिति। न चैतद्वचनं—

सन्धिश्च परिवृत्तिश्च विभागश्च समा अपि।
आदशाहान्निवर्तन्ते विषमा नववत्सरात् ॥

इति विषमविभागस्य नववर्षपर्यन्तं निवृत्तिप्रतिपादकं भरद्वाजवचनानुसारेण नववर्षादुपरि विषमविभागो न परावर्तत इत्येवम्परमिति वाच्यम्। एतद्वचनस्य तत्परत्वाभावात्। तथाहि—एतद्वचनं विभागसन्देहं प्रक्रम्योक्तं। वचनसामर्थ्यं चापि तथैव प्रतिभाति।

वसेयुर्दशवर्षाणि पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः।
विभक्ता भ्रातरः . . . . . . . . . ॥

इति। पृथग्धर्मकत्वपृथक्क्रियत्वलक्षणविशेषणविशिष्टदशवर्षपर्यन्तं वसतिर्विभागहेतुः प्रतिपादितः। विषमविभागप्रतिपादनपरत्वे व्याहन्येत। विभक्ता भ्रातर इति लिङ्गसामर्थ्याल्लिङ्गी विभागो व्याहन्येत। विभागलिङ्गानां परस्वत्वापादकत्वायोगात्। छलानुसारेणापि व्यवहारस्य न्याय्यत्वादिति तत्र ल्यब्लोपे पञ्चम्येव समाश्रयणीयेति। तन्न; विभागलिङ्गानां कारकरूपहेतुत्वाद्विभागोत्पादने सामर्थ्यस्योक्तेः। स्वत्वस्यापि पुत्राणां जन्मनैव सिद्धत्वात्। तत्त्वात्मकछलानुसरणस्य न्याय्यत्वेनोदाहृतत्वात्।

तदयमत्र निष्कर्षः—विभागसंदेहे क्वचित् लिखितेन निर्णयः। क्वचित्साक्षिभिः क्वचित् ज्ञातिभिः क्वचिद्बन्धुभिः क्वचिन्मिश्रि-

तैर्निर्णयः कर्तव्यः, एतेषामभावे कारकहेतुभिर्निर्णयः । उभय सद्भावे कारकहेतुरौत्सर्गिक एव । ज्ञापकहेतुभिस्तु दशवर्षपर्यन्तं परिवर्तितैरेव निर्णयो नान्यैः । दशवर्षपर्यन्तावस्थितानां ज्ञापकहेतूनां कारकत्वात्मनाऽवस्थितैः कारकहेतुभिरेव निर्णय इत्यर्थादुक्तं । इयांस्तु विशेषः—स्वभावतः कारकहेतुभिः सद्य एव विभागसिद्धेस्तन्निर्णयः ; ज्ञापकहेतुरूपकारकाणां दशवर्षपर्यन्त इति । सर्वाभावे दिव्यानवतारात् शुद्धो विभागः कर्तव्यः । उक्तहेतुभिः विभागसिद्धावपि व्यवहर्तृभ्रातृभ्यो यत्किञ्चिद्देयमिति सर्वमनवद्यम् ॥

इतिश्री प्रतापरुद्रमहादेवमहाराजविरचिते स्मृतिसंग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे
दायभागाख्य पदस्य विलासः

## अथ साहसाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते.

---

पूर्वं त्रयोदशसु विवादपदेषु देयादेयविचारः कृतः। यथाऽऽह विष्णुः--

व्यवहारो द्विरुत्थानः।

इति। द्विप्रकारेण-देयमूलतया दण्डमूलतयोत्थानं। द्विरुत्थान इति व्यवहारस्य कारणद्वयं कथितं। तथा च गौतमसूत्रं-द्विरुत्थानो द्विगतिरिति। व्यवहार इत्यनुषज्यते। तत्र निबन्धन कारेण ऋणादानादिदायविभागान्तानां देयनिबन्धनता साहसादिपञ्चकस्य दण्डनिबन्धनत्वामिति द्विरुत्थानतेत्यर्थ इति। यद्यपि मन्वादिभिः--

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च।
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयौ विवादः स्वामिपालयोः।
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दाण्डवाचिके।
स्तेयंच साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च।
स्त्रीषु धर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारे विदुर्बुधाः॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण क्रमिकाणि व्यवहारपदान्युक्तानि। अत्र वाक्पारुष्य दण्डपारुष्य स्त्रीसंग्रहाणानन्तरं दायविभागः क्रमिकः

निबन्धनकारेण तु--त्रयोदशविवादपदं दाय इत्युक्तं । उभयोर्महान् विरोधः । स परिह्रियते--तथोक्तं नारदेन—

ऋणादानं ह्युपनिधिः संभूयोत्थानमेव च ।
दत्तस्य पुनरादानं अशुश्रूषाऽभ्युपेत्य च ।
वेतनस्यानपाकर्म तथैवास्वामिविक्रयः ।
विक्रीयासंप्रदानं च क्रीत्वानुशय एव च ।
समयस्यानपाकर्म विवादः क्षेत्रजस्तथा ।
स्त्रीपुंसयोश्च संबन्धो दायभागोऽथ साहसम् ।
वाक्पारुष्यं तथा प्रोक्तं दण्डपारुष्यमेव च ।
द्यूतं प्रकीर्णकं चैवं . . . . . . . .

इति । नारदवचनानुसारि निबन्धनकारवचनं । अतश्च तद्व्याख्येयस्यापि गौतमसूत्रस्य नारदवचनानुसारित्वमेव । एतदनुसारेणैवास्माभिरप्युक्ता विवादपदानां संगतिः । अतश्च ऋणादानादि दायविभागान्तानां देयनिबन्धनत्वेन प्रतिपादनं साहसादिपञ्चकस्य दण्डनिबन्धनत्वमिति सूचयितुं अथ साहसमित्यथशब्दः प्रयुक्तः । अतश्च देयप्रतिपादनानन्तरं दण्डप्रतिपादनस्यावसर इति संगतिः । अत्रापि वाक्पारुष्यदण्डपारुष्याणां परस्परं भेदाभावेऽपि दण्डाल्पत्वमहत्वार्थं पृथग्ग्रहणं । अतश्च प्रकरणत्रयस्यापि संगतिरुक्तैव । अनेन विज्ञानयोगिना यदुक्तं विवादपदानां परस्परं संगतिर्नास्तीति; तत्परास्तं वेदितव्यं । अत्र कात्यायनः—

सहसा यत्कृतं कर्म तत्साहसमुदाहृतम् ।

इति । एतदेवाह नारदः—

सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद्बलदर्पितैः ।

तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते ॥

इति । साधारणपरधनयोर्हरणं बलावष्टम्भेन क्रियमाणं साहसमित्यर्थः । अत एवाह याज्ञवल्क्यः—

सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसं स्मृतम् ॥

इति । एतच्चतुर्विधमित्याह विष्णुः—

परदाराभिमर्शं स्तेयमुभयं पारुष्यं पराहिंसा च ।

इति । बृहस्पतिस्तु—

मनुष्यहरणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम् ।
पारुष्यमुभयं चेति साहसं तु चतुर्विधम् ॥

इति वचनद्वयक्रमस्य प्रयोजनाभावादविवक्षितमिति मन्तव्यम् । यत्तु शङ्खलिखितोक्तं—

चौर्यपारुष्यहिंसाः साहसपदवाच्याः ।

इति । तत्र स्त्रीसंग्रहणस्य चौर्यानातिरेकात् स्त्रीसंग्रहणस्तेये चौर्यपदेन संगृहीते इति मन्तव्यम् ।

तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं प्रथमं मध्यमं तथा ।
उत्तमं चेति शास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक् ॥
फलमूलोदकादीनां क्षेत्रोपकरणस्य च ।
भङ्गाक्षेपोऽसमर्थाद्यै प्रथमं साहसं स्मृतम् ॥
वासः पश्वन्नपानानां गृहोपकरणस्य च ।
एतेनैव प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम् ॥
व्यापादो विषशस्त्राद्यैः परदाराभिमर्शनम् ।
प्राणोपरोधि यच्चान्यदुत्तमं साहसं स्मृतम् ।
तस्य दण्डक्रियापेक्षा प्रथमस्य दशापरः ।
मध्यमस्य तु शास्त्रज्ञैः दृष्टः पञ्चशतापरः ।

उत्तमे साहसे दण्डः सहस्रापर उच्यते ।
वधस्सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनं तु वा ।
तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे ।

अयमर्थः— अशीत्यधिकसहस्रदण्डो यत्रोक्तः स उत्तमसाहससंज्ञकः । चत्वारिंशदधिकपञ्चशतपरिमितो दण्डो मध्यमसाहससंज्ञकः । सप्तत्यधिकशतद्वयपरिमितो दण्डोऽधमसाहससंज्ञकः इति । तथा च याज्ञवल्क्यः—

साशीतिपणसाहस्रो दण्ड उत्तमसाहसः ।
तदर्धं मध्यमः प्रोक्तस्तदर्धमधमस्स्मृतः ॥

एतद्वचनं केचिदेवं व्याचक्षते—

साशीतिपणसाहस्रदण्ड उत्तमसाहसः ।

इति दण्डविधायकं वचनं न तु संज्ञाविधायकं । अस्मिन् मते दण्ड उत्तमसाहसे तदर्धं मध्यमसाहसे तदर्धमधमे इति सप्तम्यन्तानि पदानि । पणानां सहस्रं प्रमाणमस्येति साहस्रः । अशीत्या सह वर्तत इति साशीतिः । उत्तमसाहसे अशीत्यधिकपणसहस्रो दण्ड इत्यर्थः । उत्तमविषयसाहसं उत्तमसाहसं । मध्यमविषयसाहसं मध्यमसाहसं अधमविषयसाहसं अधमसाहसं । तस्यैव प्रथमसाहसमिति नामान्तरं । तथाचायमर्थः—

उत्तमपुरुषसंबन्धिनः क्षेत्रादेरपहारः तथा मध्यमपुरुषसंबन्धिनः तथा निकृष्टपुरुषसंबन्धिनः क्षेत्रादेरपहारः तथा उत्तमद्रव्यस्य अश्वसुवर्णमण्यादेरपहार मध्यमस्य महिषीव्रीहिगोधूमादेः निकृष्टस्य द्रव्यस्य मृन्मयघटादेरपहारः यथाक्रममुत्तममध्यमाधमसंज्ञको भवति । तदुत्तरत्र प्रोच्यते । 'दण्ड उत्तमसाहसः' इत्यादि सामानाधिकरण्यं शतेषु लक्षणया शब्दइत्याहुः ।

प्रथमस्य दशापर इति क्षुद्रद्रव्येषु दशापरमूल्येषु तन्मूल्यद्विगुणाष्टगुणषोडशगुणद्वात्रिंशद्गुणचतुष्षष्टिगुणपर्यन्तो दण्डः। क्षुद्रद्रव्ये शूद्रवैश्यक्षत्रिय ब्राह्मण तपस्विषु माषमूल्येन व्यवस्थानियमः। एवं शतापर इत्यत्राप्यूह्यम्। सहस्रमूल्ये तदङ्गच्छेदादि योज्यमिति।

अत्र शतादिसंख्यासंख्येयस्य साशीतिपणसाहस्र इत्यादिवद्विशेषानुपादानात्क्रियापेक्षया मृन्मयभाण्डादिषु तावत्संख्यकरणमूल्यकल्पनाया अनुचितत्वात् पणाष्टमो भागो माष एव काकणिका वा कल्प्यते। अष्टमाषपरिमितः पण एवास्मिन् व्यवहारकाण्डे स्वीकरणीय इति दिव्यमातृकायामुक्तं अत एवावधार्यम्।

अत्र विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा।
योज्या व्यस्तास्समस्ता वा ह्यपराधवशादिह॥

इति। अस्यार्थः—धिग्दण्डो धिगिति मनसा कुत्सनं। वाग्दण्डस्तु परुषवचनात्मकः। धनदण्डः प्रसिद्धः। वधदण्डः शरीरप्राणवियोजनपर्यन्तश्च एते चतुर्विधा दण्डाः व्यस्ताः एकैकशः समस्ताः द्वित्रिचतुरा वा अपराधानुसारेण योज्याः। तद्योजनक्रममाह मनुः—

धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥

इति। एवं प्रतिव्यक्ति दण्डविधानं विधातुमशक्यमिति सामान्यतस्तदुपायमाह याज्ञवल्क्यः—

ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि च।

वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥

अपराधं ज्ञात्वा तदनुसारेण दण्ड्येषु दण्डार्हेषु दण्डो योज्य इति।

यथाऽऽह विष्णुः-उत्तममध्यमाधमद्रव्याणां हरणे मूल्यानुसारतो दण्ड इति। अस्यार्थो मनुना स्पष्टीकृतः। यथा—

हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीपुंसा गजवाजिभिः।
देवब्राह्मणराज्ञां च द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम् ॥

इति। मध्यमद्रव्यं तु—

वासः कौशयवर्ज्जं च गोवर्ज्जं पशवस्तथा।
हिरण्यवर्ज्जं लोहं च मध्यमं व्रीहयस्तथा ॥

व्रीहिशब्दो यवगोधूमानामुपलक्षकः।

मृद्भाण्डासनखट्वास्थिदारुचर्मतृणादि यत्।
शिबिरान्नं कृतान्नं च क्षुद्रद्रव्यमुदाहृतम् ॥

इति। एवं त्रिषु द्रव्येषु प्रथममध्यमाधमसाहसवद्दण्डनीय इत्यौत्सर्गिकोऽर्थः। स एवाह मनुः—

साहसेषु य एवोक्तः त्रिषु दण्डो मनीषिभिः।
स एव दण्डःस्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात् ॥

इति। साहसस्तेययोर्दण्डैक्यादिकमेव पदं; तथाऽपि तन्मते पृथगभिधानाद्दण्डातिदेशो न विरुद्ध इति रहस्यं। विष्णुस्तु जातिप्रग्रहेणापि विशेषमाह।

उक्तो दण्डः शूद्राद्वैश्यक्षत्रियब्राह्मणानां विदुषां स्तेये द्विगुणोत्तराणि किल्बिषाणीति।

अयमर्थः—यस्मिन्नपहारे यो दण्डः उक्तः स शूद्रकर्तृके अपहार्यद्रव्यस्य अष्टगुण आपादनीयः। वैश्यकर्तृके अपहारे षोडश गुणः। क्षत्रियकर्तृके अपहारे द्वात्रिंशद्गुणः। ब्राह्मण-

कर्तृके अपहारे चतुष्षष्टिगुणो दण्ड आपादनीयः। एवं विट्छूद्रादिकर्तृकेऽपहारे दण्ड ऊहनीयः

ब्राह्मणे शतगुणो वा पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।

इति विष्णुस्मरणात्। निकृष्टेषु द्विगुणं कल्पयेत् "निकृष्टे द्विगुणं कल्पयेत्" इति तेनैवोक्तत्वात्। निकृष्टो जात्या आचारेण धनेन वेति निबन्धनकारः। न च दिव्यमातृकायां द्विगुणार्थे यथाभिहिता समयक्रिया वैश्यस्य त्रिगुणार्थे राजन्यस्य चतुर्गुणार्थे ब्राह्मणस्येति विष्णुवचने शूद्रवैश्यक्षत्रियब्राह्मणानामेकद्वित्रिचतुस्संख्यया दिव्यक्रियायां तारतम्यमुक्तः अत्रापि दण्डकल्पनमष्टमांशषोडशांशचतुर्विंशद्वात्रिंशकल्पनया भाव्यमिति वाच्यं। दण्डविधायकदिव्यविधायकशास्त्रयोर्वेदमूलत्वेन न्यायमूलत्वाभावात् वाचनिकमिदं तारतम्यं। अत्र विशेषमाह विष्णुः—'दशकुम्भीधान्यहरणे एकादशगुणं दाप्य' इति। विंशतिद्रोणकं कुम्भीखारीपर्याय इति चन्द्रिकाकारः। तद्द्विगुणापहारे एकादशगुणं तद्धनं दापयित्वा अङ्गच्छेदनवधरूपदण्डा योज्या यथायोगं। अत्र मनुः विशेषमाह—

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः।
रत्नानां चैव सर्वेषां हरणे वधमर्हति॥

कुलीनानां तु दण्डान्तरमाह स एव—

पुरुषं हरतो दण्ड उक्त उत्तमसाहसः।
स्त्र्यपराधे तु सर्वस्वं कन्यां तु हरतो वधः॥

इति। क्षुद्रद्रव्याणां तु माषान्यूनमूल्यानां मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः। यथाऽऽह नारदः—

काष्ठभाण्डतृणादीनां मृन्मयानां तथैव च।

वेणुवैणवभाण्डानां तथा स्नाय्वस्थिचर्मणाम् ॥
शाखानामार्द्रमूलानां हरणे फलमूलयोः ।
गोरसेक्षुविकाराणां तथा लवणतैलयोः ॥
पक्वान्नानां कृतान्नानां मत्स्यानामामिषस्य च ।
सर्वेषामल्पमूल्यानां मूल्यात्पञ्चगुणो दमः ।

इति । यदपि विष्णुवचनं 'क्षुद्रद्रव्यापहारे मूल्याद्विगुणो दम इति ; एतदल्पप्रयोजनशरावादिविषयमिति वेदितव्यम् ।

विष्णुस्तु विशेषमाह 'मणीनां प्राणकळञ्जापहारे हस्तच्छेदो वधः कुकूलारोहणम्' इति । प्राणो नाम चतुर्माषात्मकः परिमाणविशेषः । कळञ्जो नाम धरणं । यथाऽऽह विष्णुगुप्तः—

पञ्चगुञ्जलको माषः प्राणस्तेषु चतुर्गुणैः ।
कळञ्जो धरणं प्राहुः मणिमानविशारदाः ॥

इति । अत्र केचिच्चतुर्गुणैः इति पदसामर्थ्याद्विंशतिगुणात्मको माषो न भवति ; विधेयस्यैव प्राधान्यात् । प्रधानपरामर्शस्य न्याय्यत्वात् । षोडशमाषात्मकः प्राण इत्याहुः । एतदेव सम्यक् । तथा व्यवहारात् । कळञ्जस्तु प्राणद्वितयं 'कळञ्जः प्राणयुग्यकम्' इति लक्षणात् । लोकाचारतो व्यवस्था । एतत्सर्वं दण्डकथनं बलावष्टम्भे वेदितव्यं । साहसं प्रकृत्य मन्वादिभिरुक्तत्वात् । यत्तु मनुनोक्तं—

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं वञ्चयित्वाऽपकर्षणम् ॥

कृत्वाऽपह्नूयेत यदीति पाठान्तरम् । तथा च कात्यायनः—

सान्वयस्त्वपहारो यः प्रसह्य हरणं च यत् ।
साहसं च भवेदेवं स्तेयमुक्तं विनिह्नवे ॥

इति । एतच्च व्याख्यातृभिर्मेधातिथि असहाययज्ञपति प्रभृतिभिर्विज्ञानेश्वरप्रभृतिभिश्च व्याख्यातं । अन्वयवदन्वययुक्तं द्रव्यरक्षणराजाध्यक्षादिसमक्षं । प्रसभं बलावष्टम्भेन यत्परधनहरणादिकं क्रियते तत्साहसं । अन्यथा क्रियमाणं चौर्यपदाभिलप्यं स्तेयमित्येतावदेव लक्षणं । बलावष्टम्भेन राजाद्यसमक्षमपि साहसमेवेत्युक्तं प्राक् वक्ष्यते च । अतश्च मेधातिथ्यादिव्याख्यानं स्वमतिकल्पितमिति मन्तव्यं । अत एवाह बृहस्पतिः—

साम्प्रतं साहसस्तेयं श्रूयतां क्रोधलोभजम् ।

इति । साहसं स्तेयं साहसलक्षणस्तेयमिति चन्द्रिकाकारः । अत्र व्यासः—

ज्ञात्वा तु घातकं सम्यक्ससहायं सबान्धवम् ।
हन्याच्चित्रवधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥

इति । स्मृत्यन्तरेऽपि—

बन्दीग्रहांस्तथा राजकुञ्जराणां च हारिणः ।
प्रसह्य घातिनश्चैव शूलानारोपयेन्नरान् ॥

इति । बृहस्पतिरपि—

प्रकाशवधकार्येषु तथा चोपांशुघातकान् ।
ज्ञात्वा सम्यग्धनं हृत्वा हन्तव्या विविधैर्वधैः ॥

इति । अत्र विविधैर्वधैरुद्वेजनकरैरित्यनेन उद्वेजनकरणं विविधोपायानां विकल्पः । उपांशुघातज्ञानप्रकारमाह स एव—

घातः संदृश्यते यत्र घातकस्तु न दृश्यते ।
पूर्वमेवानुमानेन ज्ञातव्यस्स महीभृता ॥
विज्ञेयस्साधुसंसर्गैः चिह्नरोष्ठेन वा पुनः ।
एषोऽपि घातकानां तु तस्कराणां भवेदिति ॥

अत्र विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

ग्राहकैर्गृह्यते चोरो लोप्त्रेणाथ पदेन वा ।
पूर्वकर्मापराधे च तथाचाशुद्धवासकः ॥

अयमर्थः—यश्चोरोऽयमिति जनैर्विख्याप्यते असौ ग्राहकैः—राजपुरुषदण्डपाशकरादिभिः ग्रहीतव्यः । लोप्त्रं—गृहीतद्रव्यैकदेशः चिह्नं वा खनित्रादि । पदं चोरेण भूमौ प्रक्षिप्तपदचिह्नं प्राक् प्रख्यातचौर्यः पूर्वकर्मापराधी । अशुद्धवासक असहस्थानवासवान् । किञ्च—

अन्योऽपि शङ्कया ग्राह्यः जाति नामादिनिह्नवैः ।
द्यूतस्त्रीपानसक्ताश्च शुष्कभिन्नमुखस्वराः ॥
परद्रव्यगृहाणां च पृच्छका गूढचारिभिः ।
निराया व्ययवन्तश्च विनष्टद्रव्यविक्रयाः ॥

इत्यादिचोरग्रहणोपायाः मानवीयधर्मशास्त्रे प्रतिपादिताः । लोकप्रसिद्धत्वान्नेह प्रपञ्चयन्ते। एतैर्लिङ्गैरयमेव चोर इति निश्चित्याधः पातयितुं न शक्यते ॥ तथाह नारदः—

अन्यहस्तात्परिभ्रष्टमकामादुत्थितं तु वा ।
चोरैर्वापि प्रतिक्षिप्तं लोप्त्रं यत्नात्परीक्षयेत् ॥

इति । तथा—

असत्यास्सत्यसङ्काशास्तथ्याश्चातथ्यसन्निभाः ।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्माद्युक्तं परीक्षणम् ॥

इति । साक्ष्यादिमानुषप्रमाणैर्घटादिदिव्यप्रमाणैश्च चोरत्वसंदेहनिराकरणद्वारा चोरत्वं निर्णेतव्यमिति किमर्थं लोकसिद्धचोरग्रहणोपायप्रतिपादनाय स्वानुभवेनेत्युपरतं । अत्र स्तेयमात्रविषयमाह मनुः—

द्विविधांस्तस्करान्विन्द्यात्परद्रव्यापहारिणः ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥

बृहस्पतिरपि—

प्रकाशाश्चाप्रकाशाश्च तस्करा द्विविधाः स्मृताः ।
प्रज्ञासामर्थ्यमायाभिः प्रभिन्नास्ते सहस्रधा ॥

द्विविधस्यापि चोरस्य लक्षणमाह नारदः—

प्रकाशवञ्चकास्तत्र कूटमानतुलास्तथा ।
उत्कोचकास्सोपधिकाः कितवाः पण्ययोषितः ॥
प्रतिरूपकराश्चैव मङ्गळादेशवृत्तयः ॥

इति। मङ्गळादेशेन जीवन्तीति मङ्गळादेशवृत्तयः। यथाऽऽह व्यासः—

स्त्रीपुंसौ वञ्चयन्तीह मङ्गळादेशवृत्तयः ।
गृह्णन्ति छद्मना ह्यर्थमनार्यास्त्वार्यलिङ्गकाः ॥

इति । शेषं सुगमं । अत्र विष्णुः—

'एते दोषानुरूपत एव दण्ड्या इति' एते–प्रकाशतस्कराः। न पुनर्धनानुरूपत इत्यर्थः । कूटमानाः कूटतुलाः उत्कोचजीविनः कपटोपायाः कितवाः पण्ययोषितः प्रतिरूपकराः—मिथ्यानाणकादिकारिणः मङ्गळादेशवृत्तयश्चकारेण समुच्चिताः । नैगमाद्याश्च भूरिधना अपि धनदण्ड्या अपि तु दोषानुसारेणेति–अस्मिन् दोषे एतावान् दण्ड इति मूल्यकल्पनया विधीयत इत्यर्थः । प्रच्छन्नतस्कराणां स्वरूपमाह विष्णुः—

दोषानुविद्धाः प्रच्छन्नाः गूढतस्कराः ।

उत्क्षेपकस्सन्धिभेत्ता पशुस्त्रीग्रन्थिभेदकाः परस्परं दण्ड्याः । इति । दोषा–रात्रिः । अयमेवार्थः स्पष्टीकृतो नारदेन—

साधनाद्यन्विता रात्रौ विचरन्त्यविभाविताः ।
अविज्ञातनिवासाश्च ज्ञेयाः प्रच्छन्नतस्कराः ॥

इति । रात्राविति प्रायिकाभिप्रायं । दिवाप्यरण्यादावविभाव कानां सम्भवात् । तेषां भेदमाह स एव—

उत्क्षेपकः सन्धिभेत्ता पान्थमुड्ग्रन्थिभेदकः ।
स्त्रीपुंसोश्च पशुस्तेयी चोरो नवविधस्स्मृतः ॥

इति । उत्क्षेपको नाम धनिनामवधानाभावमवधार्य अन्तिकस्थं धनमुद्गृह्णन्निति । यद्वा नाणकादिसन्दर्शनार्थं दत्तं तत्क्षणादेव हस्तलाघवेनान्यथयति स इत्याह भारुचिः । सन्धिभेत्ता गृहसंचरणस्थाने दृष्टसन्धाववस्थाय भित्तिभेत्ता—सुरङ्गादिनिर्मातेति यावत् । पान्थमुट् पथिकानां कान्तारादौ धनं मुष्णातीति पान्थमुट्—पश्यतोहर इत्यर्थः । ग्रन्थिभेदकः परिधानादिग्रन्थिं भिनात्ति धनं ग्रहीतुं । शेषं सुगमं । तेषां मध्ये उत्क्षेपकग्रन्थिभेदकयोर्दण्डमाह याज्ञवल्क्यः—

उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसंदंशहीनकौ ।

करसन्दंशो नाम तर्जन्यङ्गुष्ठात्मकः परद्रव्यादानहेतुर्विवक्षितः । सन्धिभेत्तुर्दण्डमाह मनुः—

सन्धिं भित्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।
तेषां छित्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णशूले निवेशयेत् ॥

तानिति शेषः । व्यासस्तु विशेषमाह—

सन्धिं छित्वाऽनेकविधं धनं प्राप्नोति वै गृहात् ।
प्रदाप्य स्वामिने सर्वं तीक्ष्णशूले निवेशयेत् ॥

पश्यतोहरस्य दण्डमाह बृहस्पतिः—

तथा पान्थमुषो वृक्षे गळं बध्वाऽवलम्बयेत् ।

मनुस्तु विशेषमाह—

अङ्गुळी ग्रन्थिभेदस्य भेदयेत्प्रथमग्रहे ।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥

इति । अङ्गुळी–तर्जन्यङ्गुष्ठौ ।

प्रथमे ग्रन्थिभेदानामङ्गुल्यङ्गुष्ठयोर्वधः ।

इति बृहस्पतिस्मरणात् । स्त्रीपुंसस्तेनयोर्दण्डमाह व्यासः—

स्त्रीहर्ता लोहशयने दह्यते वा कटाग्निना ।
नरहर्ता हस्तपादौ छित्वा स्थाप्यश्चतुष्पथे ॥

गोस्तेनस्य दण्डमाह बृहस्पतिः—

गोहर्तुर्नासिकां छित्वा बध्वाम्बुनि निवेशयेत् ।

अश्वपशुस्तेनयोर्दण्डमाह व्यासः—

अश्वापहरणे पादौ कटिं छित्वा प्रमापयेत् ।
पशुहर्तुस्त्वग्रपादं तीक्ष्णशस्त्रेण कर्तयेत् ॥

अत्र नारदस्तु विशेषमाह—

महापशुं स्तेनयतो दण्ड उत्तमसाहसः ।
मध्यमं मध्यमपशौ पूर्वं शूद्रपशौ हृते ॥

मध्यमं मध्यमसाहसं। पूर्वं प्रथमसाहसं । सुवर्णादिस्तेये दण्डमाह मनुः—

सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च साहसाः ।
रत्नानां चैव सर्वेषां शतादभ्यधिके वधः ॥
पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ।
शतेष्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥

अङ्गभङ्गवधान्तदण्डविधानं सर्वं राजन्यवैश्यशूद्रादीनामेव न तु ब्राह्मणस्य । तथा च यमः—

न शारीरो ब्राह्मणस्य दण्डो भवति कर्हिचित् ।
तथाऽपराधं विप्रं तु विकर्माण्यपि कारयेत् ॥
अवध्या ब्राह्मणा गावो लोकेऽस्मिन् वैदिकी श्रुतिः ।

इति । विगर्हितं कर्म पश्वादिपालनमिति चन्द्रिकाकारः । कारागृहनिवास इति भारुच्यादयः । अत एवाह हारीतः—

द्विजातीनामवध्यत्वान्मुण्डनं वध इष्यते ।

इति । आततायिनोपि ब्राह्मणस्य वधो न विद्यत इति प्रतिपादितं प्रकरणादौ । यत्तु—विष्णुनोक्तं यत्र वधश्चोदितः तत्रेन्द्रियनिरोधः कर्तव्यः । तानीन्द्रियाणि दश । ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च वाक्पाणिपादपायूपस्थश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणात्मकानि । तेषां निरोधः कर्तनं इति केचित् । तन्न । पूर्ववचनविरोधात् । किन्तु निरोधनं नाम शृङ्खलादिबन्धः पाणिपादस्य । वाङ्निरोधो मुखबन्धः । यत्तु सुमन्तुनोक्तं—वधप्रतिनिधिः ब्राह्मणस्य चक्षुर्निरोध इति । निरोध—उत्पाटनं । नचास्य वचनस्य चक्षुरिति विशेषोपादानेन विशेषपरत्वात् पूर्ववचनस्यात्रोपसंहार इति वाच्यं । अत एवाहुः महापराधे ब्राह्मणस्य वधप्रतिनिधित्वेन शिरोमौण्ड्यं देशविप्रवासः कारागृहबन्धः नेत्रोत्पाटनमिति यथाक्रममपराधतारतम्येन योजनीयमिति भारुचिप्रभृतयः । चन्द्रिकाकारस्तु—

न शारीरो ब्राह्मणस्य दण्डो भवति कर्हिचित् ।

इति । कर्हिचित्पदसामर्थ्यात् अक्षिनिरोधो नामाक्षिनिबन्धनं अक्षिचर्मसेवनं न तूत्पाटनमित्याह । तदेव सम्यगिति वृद्धाः । महापराधे स्त्रिया अपि अङ्गच्छेदादिवधान्तो दण्डोऽस्तीत्याह याज्ञवल्क्यः—

विप्रदुष्टां स्त्रियं चैव पुरुषघ्नीमगर्भिणीम् ।
सेतुभेदकरीं चाप्सु शिलां बध्वा प्रवेशयेत् ॥

विप्रदुष्टां—विशेषेण प्रदुष्टां अतिदुष्टां भ्रूणघ्नीं गर्भपातिनीमिति यावत् । या च पुरुषस्य हन्त्री । किंच विषाग्निदां पतिगुरुनिजापत्यप्रमापणीम् ॥

विकर्णकरनासोष्ठीं कृत्वा गोभिः प्रमापयेत् ।

अत्राप्यगर्भिणीमित्यनुवर्तते इति विज्ञानेशः । गोभिरतिदुर्दान्तैः बलीवर्दैः प्रमापयेन्मारयेदित्यर्थः। अत्र चोरोपकारिणां दण्डमाह। याज्ञवल्क्यः—

भक्तावकाशाग्न्युदकमन्त्रोपकरणव्ययान् ।
दत्वा चोरस्य चाहन्तुर्जानतो दम उत्तमः ॥

अस्यार्थः—भक्तमन्नं अवकाशो निवासस्थानं । अग्निः करे शीतापनोदनाद्यर्थं । उदकं तृषितस्य । मन्त्रः चोरेण सहालोचनं अनेन चौर्यप्रकारोपदेशा लक्ष्यन्ते । उपकरणं चौर्यसाधनं सुरुङ्गादिनिर्माणार्थं खनित्रादिदानं । व्ययः पाथेयं । जानन्नपीत्यनेन अजानतां मध्यमसाहसमिति भारुचिः ।

शक्ताश्च य उपेक्षन्ते तेऽपि तद्दोषभागिनः ।

इति नारदस्मरणात् । चोरोपेक्षाद्युत्तमसाहस एव दण्ड इति गम्यते । तत्रापि ज्ञानत एव । अज्ञानतस्तु मध्यमसाहसमिति भारुचिः । अनेनैवाभिप्रायेणाह कात्यायनः—

आरम्भकस्सहायश्च तथा मार्गोपदेशकः ।
आश्रयः शस्त्रदाता च भक्तदाता विकर्मणाम् ॥
युद्धोपदेशकश्चैव तद्विनाशप्रदर्शकः ।
उपेक्षाकार्ययुक्तश्च दोषवक्तानुमोदकः ॥

यथाशक्त्यनुरूपं तु दण्डमेषां प्रकल्पयेत् ॥

इति । अत्र याज्ञवल्क्यस्तु विशेषमाह—

यस्साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम् ।
यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम् ॥

इति । दाप्य इत्यर्थः । अविज्ञातकर्तृके हनने हन्तृज्ञानोपायमाह याज्ञवल्क्यः—

अविज्ञातहतस्याशु कलहं सुतबान्धवाः ।
प्रष्टव्या योषितश्चास्य परपुंसि रताः पृथक् ॥

अज्ञातपुरुषेण घातितस्य सम्बन्धिनस्सुताः प्रत्यासन्नाश्च बान्धवाः केनास्य कलहो जात इति कलहमाशु प्रष्टव्याः । शेषं सुगमं । अत्र प्रतिप्रसवमाह मनुः—

द्विजोऽध्वगःक्षीणवृत्तिः द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।
आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥
चणकव्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः ।
अनिषिद्धैर्ग्रहीतव्या मुष्टिरेका पथि स्थितैः ॥

इति । स्त्रीसंग्रहे विशेषमाह संवर्तः—

नेच्छन्त्या यानि चिह्नानि बलात्कारकृतानि च ।
पुनःपुनः प्रसङ्गेषु नारीणां तानि शृण्वतः ॥
नखदन्तक्षता क्षामा सकचग्रहपीडिता ।
सद्यो विध्वंसिता नारी बलात्कारेण दूषिता ॥
उच्चैर्विक्रोशयन्ती च रुदती लोकसन्निधौ ।
तस्य नाम वदन्ती च यथाहं तेन दूषिता ॥
शोचेदेवंविधैर्लिङ्गैर्व्रणीकृतपयोधरा ।
छिन्नालङ्कारकेशैश्च मुकुळीकृतलोचना ॥

राज्ञा सभ्यैस्सभां नीत्वा स्वयमन्विष्य तत्क्षणात् ।
यद्ब्रूयात्सहजं वाक्यं तत्कर्तव्यं प्रयत्नतः ॥
विवादे साक्षिणामत्र न कुर्वीत परिग्रहम् ।
वर्तनादभिशस्तस्य न दिव्यं दातु मर्हति ॥

चिह्नैरेव अत्र राज्ञा निर्णेतव्यं । न दिव्यं न च साक्षिणः इति वदतश्चन्द्रिकाकारस्यायमाशयः—न च सर्वदा अस्मिन्विषये साक्षिदिव्ययोरनवतार इति । किन्तु राज्ञा सभ्यैश्च निर्णये कृते साक्षिदिव्ययोरपेक्षा नास्ति । तदा तयोरनवतारः । यदा तु कान्ता वृषस्यन्ती कपटस्वयंकृतकुचतटनखक्षताधरदन्तक्षतादिभिः विप्रलम्भयति तदा साक्षिदिव्ययोरवकाश इति ॥

विधवागमने विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

स्वच्छन्दाविधवागामी विक्रुष्टे नाभिधावकः ।
अकारणेन विक्रोष्टा चण्डालश्चोत्तमां स्पृशन् ॥
शूद्रप्रव्रजितानां च दैवे पित्र्ये च भोजकः ।
अयुक्तं शपथं कुर्वन् अयोग्यो योग्यकर्मकृत् ॥
वृषशूद्रपशूनां च पुंस्त्वस्य प्रतिघातकृत् ।
साधारणस्यापलापी दासीगर्भविनाशकृत् ॥
पितापुत्रस्वसृभ्रातृदम्पत्याचार्यशिष्यकाः ।
एषामपतितान्योन्यत्यागी च शतदण्डभाक् ॥

नियोगं विना स्वेच्छया विधवां गच्छतीति स्वच्छन्दविधवागामी । स्वकुलैश्चोरादिभयाद्विक्रुष्टे आक्रोशे तन्निवारणसमर्थोऽपि नाभिधावतीति क्रुष्टे नाभिधावकः । अयुक्तं शपथं करोतीत्ययुक्तशपथकृत् । पुंस्त्वस्य प्रजाजननशक्तेः विनाशकः । वृक्षक्षुद्रपशूनामिति पाठे हिङ्ग्वाद्यौषधप्रयोगेण वृक्षादेः फल-

प्रसूनानां पातयितेति विज्ञानेशः । एते पणशतं दण्डार्हाः प्रत्येकमिति । यत्तु बृहस्पतिनोक्तम्—

सहसा कामयेद्यस्तु धनं तस्याखिलं हरेत् ।
उत्कृत्य लिङ्गवृषणौ भ्रामयेद्गर्दभेन तु ॥

तत्तु ब्राह्मणीं कामयमानस्य ब्राह्मणेतरस्य विषये । कामयेत् परस्त्रियमिति शेषः । मनुस्तु विशेषमाह—

सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विनिवासयेत् ।

ब्राह्मणं पुनर्महत्यपराधेऽपि न घातयेत् । अपि तु ललाटेऽङ्कयित्वा स्वराष्ट्रान्निर्विवासयेत् । अङ्कनं च भगाकारेण कार्यं । तथा च वृद्धवसिष्ठः—

सुरापाने ध्वजाङ्कनं स्तेये च श्वपदाङ्कनं ।
ब्रह्महत्यायां गर्दभाङ्कनं गुरुतल्पगमने भगाङ्कनम् ॥

इति । मनुस्तु विशेषमाह—

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।
स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥

अशिराः पुमान्—कबन्धः । शेषं सुगमं । राजपत्नीगमने विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

क्षेत्रवेश्मवनग्रामविवीतखलदाहकाः ।
राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तकटाग्निना ॥

कटैर्वीरणतृणमयैः घासनिर्मितैर्दामभिः वेष्टयित्वा दग्धव्या इत्यर्थः । क्षेत्रादेर्दाहकानां मरणदण्डप्रसङ्गात् विशेषार्थोऽयमारम्भः । नारदस्तु परदारगमनस्य त्रैविध्यमुक्त्वा दण्डविशेषमाह ।

त्रिविधं तत्समाख्यातं प्रथमं मध्यमोत्तमम् ।
अदेशकालसम्भाषं निर्जने च परस्त्रियाम् ॥

कटाक्षवीक्षणं हास्यं प्रथमं साहसं स्मृतम् ।
प्रेषणं गन्धमाल्यानां धूपभूषणवाससाम् ॥
प्रलोभनं चान्नपानैर्मध्यमं साहसं स्मृतम् ।
सहासनं विविक्ते तु परस्परमुपाश्रयः ॥
केशाकेशिग्रहश्चैव सम्यक्सङ्ग्रहणं स्मृतम् ।

अयमर्थः—अदेशे आरामादौ अकाले अन्धकारे निर्जने विजने सल्लापनं करोति सहैकमञ्चादौ चिरं अवतिष्ठते सोऽपि सङ्ग्रहणे प्रवृत्तः । एतच्च शङ्क्यमानपुरुषविषयं इतरस्य न दोषः । तथाऽऽह मनुः—

यस्त्वनाकारितः पूर्वं विभाषेताऽपि कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ।

इति । एतच्च कटाक्षवीक्षणादिव्यतिरिक्तसहैकमञ्चस्थितिमात्रविषयं ॥ तथाच विष्णुः—

संलोभनापाङ्गदर्शनविहसनसहैकत्रनिवासाः संग्रहगमकाः इति । तथा च गौतमः—परदाराभिमृष्टः स्तब्धश्चेद्ग्राह्य इति । स्तब्धः स्पर्शने क्षमते । तथा च मनुः—

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तदा ।
परस्परस्यानुमते सर्वं सङ्ग्रहणं स्मृतम् ॥

इति । विष्णुस्तु विशेषमाह—'मोहादियं मया भुक्तेति यो वदति स तु ग्राह्य' इति । मोहो दर्पादीनामुपलक्षकः । यथाऽऽह मनुः—

दर्पाद्वा यदि वा मोहात् श्लाघया वा स्वयं वदेत् ।
पूर्वं मयेयं भुक्तेति तच्च सङ्ग्रहणं स्मृतम् ॥

इति । तथा च गौतमः—'प्रतिषेधे पुमान् दण्ड्यः तदर्धं स्त्री' इति । अस्यार्थो विवृतो निबन्धनकारेण—पतिपित्रादिभिर्येन

सम्भाषणं निषेध्यं तत्र प्रवर्तमाना स्त्री शतपणं दण्ड्या। पुरुषोऽप्येवं निषिद्धस्सन् प्रवर्तमानो द्विशतं दण्ड्य इति।

विष्णुस्तु विशेषमाह—'प्रतिषिद्धे प्रवर्तमानयोः स्त्रीपुंसयोस्सङ्ग्रहणे वर्णानुसारेण दण्ड' इति। एतच्चावरोधस्त्रीविषयमिति भारुचिः। जातिव्यवस्थया दण्डमाह विष्णुः—'गुप्तपरदाराभिगमने साशीतिपणसाहस्रं' इति। एतच्च गुरुसखीभार्यादिव्यतिरिक्तविषयं द्रष्टव्यं। यथा—

माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा।
पितृव्यसखिशिष्यस्त्रीभगिनी तत्सखी स्नुषा॥
दुहिताऽऽचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता।
राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या॥
आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते।
शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते॥

इति नारदस्मृतेः—अत्र विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

सजातावुत्तमो दण्ड आनुलोम्ये तु मध्यमः।
प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनम्॥

इति। अयमर्थः—चतुर्णामपि वर्णानां बलात्कारेण सजातिगुप्तपरदाराभिमर्शने साशीतिपणसाहस्रं दण्डनीयः। यदा त्वानुलोम्येन हीनवर्णस्त्रियं गुप्तामभिगच्छति तदा मध्यमसाहसं दण्डनीयः। यदा पुनस्सवर्णामगुप्तामानुलोम्येन गुप्तां वा व्रजति। यथाऽऽह मनुः—

सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यस्स्यादिच्छन्त्या सह सङ्गतः॥
सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्।

शूद्रायां क्षत्रियविशोस्सहस्रं तु भवेद्दमः ॥

इति । ते क्षत्रियवैश्यजाये। प्रातिलोम्ये उत्कृष्टवर्णस्त्रीगमने क्षत्रियादेः पुरुषस्य वधः । एतच्च गुप्तादि विषयं । यथाऽऽह विष्णुः– राजन्यवैश्यौ ब्राह्मणीं गुप्तां सेवमानौ कटाग्निना दग्धव्यौ— इति । अगुप्तागमने विशेषमाह मनुः–

ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु सेवेतां वैश्यपार्थिवौ ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रकम् ॥

इति । शूद्रं प्रत्याह गौतमः—'अगुप्तामप्युत्कृष्टवर्णां शूद्रो गच्छेल्लिङ्गच्छेदनमर्हतीति'। अत्रापिशब्दो व्युत्क्रमेण सम्बन्धनीयः । लिङ्गच्छेदनमर्हतीति तेन सर्वस्वापहारसमुच्चयास्सिद्धः ।

वधस्सर्वस्वापहारो गुप्तां तु व्रजतोऽस्य च ।

इति । अस्य शूद्रस्येत्यर्थः ।

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमाविशेत् ।
गुप्तौ लिङ्गाङ्गसर्वस्वे अगुप्तौ द्रव्यमात्रकम् ॥

इति हारीतस्मृतेः । हीनवर्णं व्रजन्त्याः स्त्रियाः कर्णादिच्छेदनं कार्यं इति। यथाऽऽह विष्णुः—'आनुलोम्येन वा असवर्णं वा व्रजन्त्याः नासादेः कर्तनं वधदण्डो वा कल्प्यः'। अत्र भारुचिः—

आनुलोम्येन स्त्रिया नासादिकर्तनम् ।
असवर्णानुगमने वधदण्डः प्रकीर्तितः ॥

इति स्मृतिमाह । अयं च दण्डस्याप्युपदेशो राज्ञ एव। तस्यैव पालनेऽधिकारात्। न द्विजातिमात्रस्य। ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रं नाददीतेति शस्त्रग्रहणनिषेधात् ।

धिग्दण्डो वाग्दमश्चैव विप्रायत्तावुभाविमौ ।

इति निषेधाच्च । अत्र विशेषमाहतुः शङ्खलिखितौ—क्षत्रिय वैश्ययोरन्योन्यस्त्र्यभिगमने दण्ड्यावुभाविति । अत्र विज्ञानेशः—यथाक्रमं सहस्रशतपणात्मकौ दण्डौ वेदितव्यौ । यथाऽऽह-मनुः—

वैश्यश्चेत् क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥

इत्याह । भारुचिस्त्वन्यथा व्याचष्टे—वैश्यस्य भार्यायां यः क्षत्रियः व्रजति तस्यैव भार्य्यायां वैश्यो व्रजति चेच्छतपणात्मको दण्डो वेदितव्यः । तथा अन्यस्य यस्य कस्यचिद्वैश्यस्य भार्यायां क्षत्रियो गच्छति सहस्रपणान् दण्ड्यः । क्षत्रियायां वैश्यो गच्छन् सहस्रपणान् दण्ड्य इति । कन्यायां तु विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

अलङ्कृतां हरन् कन्यां ह्युत्तमं ह्यन्यथाऽधमम् ।
दण्डं दद्यात्सवर्णासु प्रातिलोम्ये वधःस्मृतः ॥

इति । विवाहाभिमुखीमलङ्कृतां सवर्णां कन्यां अपहरन् उत्तम-साहसं दण्डनीयः । तदभिमुखीमसवर्णां हरन् प्रथमसाहसं । उत्कृष्टवर्णजां कन्यां अपहरन् क्षत्रियादिः वध्यः । दण्डविधा-नादपहर्तुस्सकाशादाच्छिद्यान्यस्मै देयेति विज्ञानेशः । भारुच्याद-यस्तु राज्ञा दण्डनीय एव । किन्तु तस्य वरसम्पत्तिरस्ति चेत् तस्मै देयेति पैशाचविवाहस्य सद्भावादित्याह । धारेश्वरादयस्तु वरसम्पत्तिप्रतिपादनं ह्यर्थदण्डानन्तरं । सवर्णा चेत्तस्मै देये-त्याहुः ॥

अत्र विष्णुर्विशेषमाह 'अनुलोमासु कामतो न दोषः' इति। अयमर्थः—हीनवर्णां सानुरागां कन्यां योऽपहरति तस्य न दोषः । दोषाभावादेव दण्डाभाव इति दण्डापूपिकया

गम्यते । अयमेवासुरविवाह इत्याहुरसहायप्रभृतयः। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः ॥

इति । कन्यादूषणे दोषमाहतुः शङ्खलिखितौ—अनुलोमासु दूषणे तदङ्गच्छेदः । उत्तमासु वधः इति । कन्यास्विति शेषः । तदङ्गच्छेदनमिति येनाङ्गुळिप्रक्षेपेण योनिक्षतं कुर्वन् दूषयति तदङ्गच्छेदः कार्यः । बलात्कारेण करादिना कन्यां दूषयति तस्य करच्छेदः कर्तव्यः । अत्र विशेषमाह मनुः—

सकामां दूषयानस्तु नाङ्गुळिच्छेदमर्हति ।
द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥

इति । अङ्गुळिशब्दः करस्याप्युपलक्षकः । प्रसङ्गविनिवृत्तये इति अतिप्रसङ्गनिवारणार्थमित्यर्थः । सम्भोगनिवृत्त्यर्थमिति भारुचिः ॥

अत्रापि विशेषमाह गौतमः—'कन्यैव कन्यां दूषयति तदङ्गच्छेदो वा मौण्ड्यं वेति'। अत्र विशेषमाह मनुः—

कन्यैव कन्यायाः कुर्यात्तस्यास्तु द्विशतो दमः ।
या तु कन्यां प्रकुर्यात् स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ॥
अङ्गुळ्यादेरवच्छेदः करणोद्वहनं तथा ।

इति । कन्यां कुर्यादिति योनिक्षतवतीं कुर्यादित्यर्थः । एतच्च दण्डविधानं सवर्णासवर्णमध्यमहीनोत्तमादिकन्यासाधारणमिति भारुचिः । सानुरागादकामां गच्छतो हीनस्य क्षत्रियादेः वधः ॥

उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।

इति मनुस्मरणात् । यदा सवर्णां सकामामभिगच्छति तदा गोमिथुनं शुल्कं तत्पित्रे दद्यात् यदीच्छति पिता । यदि नेच्छति शुल्कं तमेव दण्डरूपेण राज्ञे दद्यात् । सवर्णामकामां तु गच्छतो

वध एवेति विज्ञानेशः। अत्र विष्णुस्तु विशेषमाह—'कन्यादूषको मिथ्यावादी द्विशतं तदर्धं वा इति। दण्ड्य इति शेषः। अयमर्थः—मिथ्याभिशंसनैर्द्विशतं दण्ड्यः। नित्यदूषणे शतं दण्ड्य इति। अपस्मारराजयक्ष्मादिदीर्घरोगकुत्सितरोगसंसृष्टमैथुनत्वादिदूषणानि। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

अपरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च।
अनिषेद्धा क्षमो यस्सन् सर्वे ते कार्यकारिणः।
गम्यास्वपि पुमान् दाप्यः पञ्चशत्यधिकं दमम्॥

गच्छन्निति शेषः। पुरुषान्तरोपभोगतो निरुद्धा अपरुद्धाः। पुरुषनियतपरिग्रहा भुजिष्या। एतयोर्विशेषणं गम्यास्वपीति। सर्वपुरुषसाधारणतया गम्यास्विवसनुवादः। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणःस्मृतः।
बहूनां यद्यकामा सा चतुर्विंशतितः पृथक्॥

अत्र विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

अन्त्याभिगमने त्वङ्क्यः कुदण्डेन प्रवासयेत्।
शूद्रस्तदान्त्य एव स्यादन्त्यस्याभिगमे वधः॥

अस्यार्थः—अन्त्या—चण्डाली तद्गमने त्रैवर्णिकान् प्रायश्चित्तानभिमुखान् 'सहस्रं त्वन्त्यजास्त्रियमिति' वचनात् पणसहस्रं दण्डयित्वा कुदण्डेन कुत्सितदण्डेन भगाकारेणाङ्कयित्वा स्वराष्ट्रान्निर्वासयेत्। प्रायश्चित्ताभिमुखस्य तु दण्डनमेव। . . . . . . शूद्रः पुनश्चण्डालीमभिगम्य चण्डाल एव भवति। अन्त्यजस्य चण्डालादेस्तूत्कृष्टजातिस्त्र्यभिगमने च स एवेति वचनार्थः।

अत्र विशेषमाह मनुः—

ब्रह्महा च सुरापश्च तस्करो गुरुतल्पगः ।
एते सर्वे पृथग्वध्या महापातकिनो नराः ॥

प्रतिषिद्धसुरायाः पाता सुरापः । तस्करो ब्राह्मणसुवर्णस्तेयी, ब्राह्मणसुवर्णापहरणं महापातकमित्यापस्तम्बस्मरणात् । एतच्च ब्राह्मणव्यतिरिक्तविषयं ।

महापातकयुक्तोऽपि न विप्रो वधमर्हति ।
निर्वासनाङ्कने मौण्ड्यं तच्च कुर्यान्नराधिपः ॥

दण्डे कृतेऽपि तेषां दोषोऽस्त्येव ।

कृतदण्डोऽप्यसंभाष्यो ज्ञेय उत्तमसाहसे ।

इति उत्तमसाहसानुकल्पत्वेनातिदुष्टतयाऽत्राप्यसम्भाष्यत्वं वेदितव्यं । अयमेवार्थः प्रपञ्चितो मनुना—

असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्या विवाहिनः ।
चरेयुः पृथिवीं सर्वां सर्वकर्मबहिष्कृताः ॥
ज्ञातिसम्बन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ।
निर्दया निर्णमस्काराः तन्मनोरनुशासनम् ॥

इति । यत्तु बोधायनोक्तं 'क्षत्रियादीनां ब्राह्मणवधे वधस्सर्वस्वहरणं चेति' तत्साहसरूपविषयं वेदितव्यं । अत्र विशेषमाह मनुः—

तटाकछेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।
स यदि प्रतिसंस्कुर्याद्दद्याच्चोत्तमसाहसम् ॥

कात्यायनस्तु विशेषमाह—

हरेद्भिन्द्याद्दहेद्वापि देवानां प्रतिमादिकम् ।
तद्गृहं चापि यो भिन्द्यात् प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥

प्रमाणेन तु कूटेन मुद्रया वाऽनुकूलया ।
कार्यं तु साधयेद्यो वै स दाप्योत्तमसाहसम् ॥

बृहस्पतिस्तु विशेषमाह—

मन्त्रौषधिबलात्किञ्चित्संभ्रान्तिं जनयन्ति ये ।
मूलकर्म च कुर्वन्ति निर्वास्यास्ते महीभुजा ॥

मूलिकादिभिर्वशीकरणकर्म । अत एवाह मनुः—

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्यात्संवननांस्तथा ॥

संवननोपजीविनः प्रकृतिदूषकान् निर्वासयेदिति । प्रकृतयस्तु स्वाम्यमात्यदुर्गकोशदण्डराष्ट्रमित्राणि प्रतिपादितान्येव प्रकरणादौ । संवननोपजीविनः वशीकरणकर्मोपजीविनः ॥

इतिश्री प्रतापरुद्रमहादेवमहाराजविरचिते स्मृति-
संग्रहे सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे
साहसाख्यस्य पदस्य विलासः

## अथ वाक्पारुष्याख्यस्य पदस्य विलासः.

तल्लक्षणमाह नारदः—

देशजातिकुलादीनामाक्रोशं व्यङ्ग्यसंयुतम् ।
यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥

पारुष्यं—रूक्षीकरणं । वाचा मनसो रूक्षीकरणं वाक्पारुष्यं । व्यङ्ग्यसंयुतं व्यङ्ग्यार्थयुक्तं प्रतिकूलार्थमुद्वेगार्थं । अयमर्थः— हिंसकाः प्राच्या इति देशाक्रोशः । विप्रास्त्वनाचारा इति जात्याक्रोशः । मैत्रीशून्या वैश्वामित्रा इति कुलाक्रोशः । आदि-ग्रहणात्स्वरूपाक्षेपोऽपि गृह्यते । यथार्हं विद्याशून्य इति व्यङ्ग्य-संयुतं भगिन्यादि गमनारोपः सुरापोऽसीत्यादिमहापातकाभि-योगश्च । तत्र दण्डविधिमाह बृहस्पतिः—

समजातिगुणानां तु वाक्पारुष्ये परस्परम् ।
विनयो विहितश्शास्त्रे पणा अर्धत्रयोदशाः ॥

जातिमात्रे साम्ये विशेषमाह मनुः—

समजातौ तु सर्वेषां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।

व्यतिक्रमो—वाग्व्यतिक्रमः वाक्पारुष्य मिति यावत् । वाग्व्य-तिरिक्तव्यतिक्रमस्य पौर्वापर्यादिविशेषाभावे द्वयोः समदोषयोः द्वादशपण एव दण्डो भवतीत्यर्थः । अत एव सुमन्तुः—

पारुष्यदोषादुभयोर्युगपत्संप्रवृत्तयोः ।
विशेषश्चेन्न दृश्येत विनयश्चेत्समस्तयोः ॥

विनयः—शिक्षा दमः । विशेषदर्शने तु तदनुसारेण विषम एव

दमस्स्यादित्यभिप्रायः । अत एव बृहस्पतिः—

समानयोस्समो दण्डो न्यूने स्याद्द्विगुणस्स्मृतः ।
उत्तमस्याधिकं प्रोक्तं वाक्पारुष्ये परस्परम् ॥

इति । अत्र विशेषमाह नारदः—

पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक् ।
पश्चाद्यस्योद्यसत्कारी पूर्वे तु विनयो गुरुः ॥

पूर्वक्षारिनिमित्तको विनयः पश्चात्क्षारणनिमित्तकविनयादभ्यधिको भवतीत्यर्थः ॥.

अत्र विशेषमाह विष्णुः—तुल्यकालं रूक्षयोस्सम एव दण्ड इति । अत्र याज्ञवल्क्यः—

सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैः न्यूनाङ्गेन्द्रियरोगिणाम् ।
क्षेपं करोति चेद्दण्ड्यः पणानर्धत्रयोदशान् ॥

न्यूनाङ्गाः कुण्यादयाः । न्यूनेन्द्रियाः काणादयः । रोगिणः कुष्ठादयः ।

दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरे ।

दण्डपणयनं–दण्डविधानमिति भारुचिः । दण्डप्रणयनं दण्डस्य प्रकर्षेण नयनमूहनमिति विज्ञानेशः । वर्णाश्च जातयश्च उत्तराश्चाधराश्च वर्णजात्युत्तराधराः । उत्तराधरवर्णे जात्यपेक्षया दण्डप्रणयनं कार्यमित्यर्थः । यथा मूर्धावसिक्तं ब्राह्मणाद्धीनं क्षत्रियादुत्कृष्टं च आक्रुश्य ब्राह्मणक्षत्रियाक्षेपनिमित्तात्पञ्चाशत्पणात्मकात्किञ्चिदधिकं पञ्चसप्तत्यात्मकं दण्डमर्हति । क्षत्रियोऽपि तमाक्रुश्य ब्राह्मणक्षेपनिमित्ताच्च तद्दण्डादूनं पञ्चसप्ततिमेव दण्डं । मूर्धावसिक्तोऽपि तावुभावाक्रुश्य तमेव दण्डमर्हति । मूर्धावसिक्ताम्बष्ठादयोऽपि परस्पराक्षेपे ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्षेप-

निमित्तकाद्यथाक्रमेण दण्डौ वेदितव्यौ। एव मन्यत्राप्यूहनीयः। अत्र विष्णुः—'प्रातिलोम्येन पारुष्ये द्विगुणो दम' इति। अयमर्थः—द्विगुणास्त्रिगुणा दमाः ब्राह्मणाक्षेपकारिणोः क्षत्रियवैश्ययोः पञ्चाशत्पणापेक्षया द्विगुणाश्शतं पणाः त्रिगुणाः सार्धशतं पणा दण्डो वेदितव्य इति॥

प्रातिलोम्यापराधेषु द्विगुणास्त्रिगुणा दमाः।
वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धभागिनः॥

इति। शूद्रविषये विशेषमाह मनुः—

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति॥

वधोऽत्र जिह्वाच्छेद इति विज्ञानेशः। एवं विट्छूद्रयोरपि क्षत्रियादनन्तरयोः तुल्यन्यायतया शतमर्धशतं च यथाक्रमेण क्षत्रियाक्रोशे वेदितव्यं। शूद्रस्य वैश्याक्रोशे शतं। एवं इतरदूह्यं। यदुक्तं मनुना—

पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने।
वैश्यस्य त्वर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः॥

इति। अत्र विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

बाहुग्रीवानेत्रसक्थिविनाशे वाचिके दमः।
शत्यस्तदर्धकः पादनासाकर्णकरादिषु॥

शत्यः–शतपरिमितो दण्डः। पादादि भङ्गं करिष्यामीति वाचिके विनाशे तदर्धिकः पञ्चाशत्पणिको दण्ड इत्यर्थः। तीव्राक्रोशे विशेषमाह स एव—

पतनीयकृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः।
उपपातकयुक्ते च दाप्यः प्रथमसाहसम्॥

उपपातकयुक्ते च गोघ्नोऽसीत्येवमादिके ।
त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः ॥
मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः ।

जातिपूगाः—जातिसंघाः । अत्र प्रतिप्रसवमाह बृहस्पतिः—

गुणहीनस्य पारुष्ये ब्राह्मणो नापराध्नुयात् ।
पतितं पतितेत्युक्त्वा चोरं चोरेति वा पुनः ॥
वचनात्तुल्यदोषस्स्यात् . . . . . . . ।

इति । वचनात्तुल्यवचनादित्यर्थः । यत्र अभियोगादौ पाणीत्यादिकं साधयेत् तत्र वचनाद्दोषो न स्यादित्यर्थः । एवं श्रुताभिजनदेशकर्मशरीरपितृमातृगुरुवृद्धाद्यधिक्षेपदर्शने च तन्निबन्धनोच्चावचदण्डविधायकाः स्मृतयो यद्यपि बह्वयः समुच्चयकारैस्समुच्चिताः; अस्माभिस्तु संप्रति तदनुष्ठानाभावात् ग्रन्थविस्तरतः किमर्थमित्युपरतं ॥

इति श्रीप्रतापरुद्रदेव महाराजविरचिते स्मृतिसंग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे वाक्पारुष्याख्यस्य पदस्य विलासः.

## अथ दण्डपारुष्याख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते.

यथाऽऽह नारदः—

परगात्रेष्वभिद्रोहो हस्तपादायुधादिभिः ।
भस्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते ॥

इति। अत्र मनुः—

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य सत्वतः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥

यथाऽऽह परिशिष्टकारः—

दुःखं व्रणं रक्तभङ्गं च्छेदनं भेदनं तथा ।
कुर्याद्यत्प्राणिनां तद्धि दण्डपारुष्यमुच्यते ॥

तस्य त्रैविध्यमाह मनुः—

अस्यापि दृष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक्रमात् ।
अपगोरणनिस्सङ्गपातक्षतजदर्शनैः ॥
हीनमध्योत्तमानां तु द्रव्याणां समतिक्रमात् ।
त्रीण्येव साहसान्याहुः तदकण्टकशोधनम् ॥

इति। निस्सङ्गपातनं निश्शङ्कप्रहरणं। तस्य दण्डमाह मनुः—

त्वक्छेदकश्शतं दाण्ड्यो लोहितस्य तदर्थकः ।
मांसच्छेत्ता तु षण्णिष्कान् प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥

मांसच्छेत्ता व्रणकर्तेति चन्द्रिकाकारः। यमोऽपि—

कर्णोष्ठघ्राणपादाक्षिजिह्वामुखकरस्य च ।
छेदने चोत्तमो दण्डः भेदने मध्यमो गुरुः ॥

बृहस्पतिरपि—

भस्मादिना प्र(क्षि)क्षेपणं ताडनं च करादिना ।
प्रथमं दण्डपारुष्यं दमः कार्योऽत्र माषकः ॥
इष्टकाफलकाद्यैश्च ताडने तु द्विमाषकः ।
कार्यः कृतानुरूपैस्तु लग्ने घाते दमो बुधैः ।
एष दण्डस्समेषूक्तः परस्त्रीष्वधिकेषु च ।
द्विगुणस्त्रिगुणो ज्ञेयः प्राधान्यापेक्षया बुधैः ॥

इति । तथा च याज्ञवल्क्यः—

भस्मपङ्करजस्स्पर्शे दण्डो दशगुणः स्मृतः ।
अमेध्यपार्ष्णिनिष्ठ्यूतस्पर्शने द्विगुणः स्मृतः ॥
समेष्वेवं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च ।

द्विगुणदमः विंशतिपणात्मकः । कात्यायनस्तु विशेषमाह—

छर्दिमूत्रपुरीषाद्यैरापाद्यस्स चतुर्गुणः ।
षड्गुणः कायमध्ये स्यान्मूर्ध्नि त्वष्टगुणः स्मृतः ॥

इति । स्पष्टोऽर्थः । अत्र कात्यायनस्तु वाक्पारुष्यदण्डप्रकार-मस्मिन् दण्डपारुष्येऽतिदिशति—

वाक्पारुष्ये यथा प्रोक्ता प्रातिलोम्यानुलोमतः ।
तथैव दण्डे पारुष्ये पात्या दण्डा यथाक्रमम् ॥

अत्र याज्ञवल्क्यः—

विप्रपीडाकरं छेद्यमङ्गमब्राह्मणस्य च ।
उद्गूर्णे प्रथमो दण्डस्संस्पर्शे तु तदर्धकः ॥

यथाऽऽह भृगुः—

येनकेनचिदङ्गेन हिंस्याच्छ्रेयांसमन्त्यजः ।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्यं तन्मनोरनुशासनम् ॥

द्विजातिमात्रापराधे शूद्रस्याङ्गच्छेदनविधानात् वैश्यस्यापि क्षत्रियापकारिणश्च अयमेव दण्डः तुल्यन्यायत्वादिति विज्ञानेशः। उद्गूर्णे वधार्थमुद्यते शस्त्रादिके। शूद्रस्य पुनरुद्गूरणेपि हस्तादिच्छेदनमेव।

पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति ।

इति मनुस्मरणात्। उद्गूरणार्थं शस्त्रादिस्पर्शने तु प्रथमसाहसार्धं सजातीयविषये याज्ञवल्क्यः—

उद्गूर्णे हस्तपादे तु परिविंशतिकौ दमौ ।
परस्परं तु सर्वेषां शस्त्रे मध्यमसाहसम् ॥

किञ्च—

पादकेशांशुकरोल्लुंछनेषु पणान् दश ।
पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्याने शतं दमः ॥

एतेषां समुच्चये शतं दण्ड्यः। एतदुक्तं—पादकेशवस्त्रकराणामन्यतमं गृहीत्वा यो झडित्याकर्षयसौ दशपणान् दण्ड्यः। अंशुकेनावेष्ट्य गाढमापीड्याकृष्य यः पादेन घट्टयति तं दशपणान् दण्डयेदिति ब्राह्मणविषयं। तथाच यमः—

पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ।
अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ॥
अवमूत्रयतो मेढ्रमवमेहयतो गुदम् ।
केशेषु गृह्णतो हस्तौ च्छेदयेदविचारयन् ॥

केशेष्वेकेन हस्तेन गृह्णतोऽप्युभयहस्तच्छेदनविधिर्द्विवचनाद्गम्यते—

शोणितेन विना दुःखं कुर्वन्काष्ठादिभिर्नरः ।
द्वात्रिंशतिपणान् दण्ड्यो द्विगुणं दंशनेऽन्त्यजः ॥

इति। व्यक्तार्थं—

करवद्दन्तभङ्गे च छेदने कर्णनासयोः ।

मध्ये दण्डो व्रणोद्भेदे मृतकल्पहते तथा ॥

किञ्च—

चेष्टाभेदनवाग्रोधनेत्रादिप्रतिरोधने ।
कन्धराबाहुसक्थ्नां च भङ्गे मध्यमसाहसम् ॥
एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्तोद्विगुणो दमः ।

अयमर्थः—यदा पुनर्बहवो मिळिताः एकस्य भङ्गादिकं कुर्वन्ति तदा यस्मिन्नपराधे योयो दण्ड उक्तः तत्रास्मात् द्विगुणो दण्डः प्रत्येकं वेदितव्य इति । अत्रोशना—

यत्र नोक्तो दमस्सर्वैरानन्त्यात्तु महात्मभिः ।
तत्र कार्यं प्रतिज्ञाय कर्तव्यं दण्डधारणम् ॥

आनन्त्यात् दण्डार्हव्यक्तीनामिति शेषः—

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ।
यथायथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथातथा ॥
अभिघाते तथा च्छेदे भेदे कुड्यावपातने ।
पणान् दाप्यः पञ्चदश विंशतिं तद्व्ययं तथा ॥

मुद्गरादिना कुड्याभिघाते विदारणे द्वैधीभावे च यथाक्रमं पञ्चदशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः । अपि च—

दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिपन् प्राणहरं तथा ।
षोडशाद्यः पणान् दाप्यो द्वितीयो मध्यमं दमम् ॥

अयमर्थः—परगृहे दुःखजनकं कण्टकादि द्रव्यं क्षिपन् षोडशपणान् प्राणहरं भुजङ्गविषादिकं क्षिपन् मध्यमसाहसं ।

किञ्च—

दुःखे च शोणितोत्पादे शाखाङ्गच्छेदने तथा ।
दण्डः क्षुद्रपशूनां च द्विगुणप्रभृतिः क्रमात् ॥

क्षुद्राणां पशूनां अजादिहरणप्रायाणां ताडने दुःखोत्पादने असृक्स्रावे शाखाङ्गच्छेदने; शाखाशब्देन शृङ्गादिकं लक्ष्यते; अङ्गानि प्रसिद्धानि यथाक्रमं द्विगुणश्चतुर्गुणष्षड्गुण इति। अपराधगुरुत्वात्।

प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे।
उपजीव्यद्रुमाणां च विंशतेर्द्विगुणो दमः॥

प्ररोहि शाखिनो वटादयः अत्र विंशति पणश्चत्वारिंशत्पणोऽशीति-पण इत्येवं त्रयो दण्डा यथाक्रमं शाखास्कन्धसर्वविदारणे भवन्ति। अप्ररोहिशाखिनामुपजीव्यद्रुमाणां मातुलुङ्गादीनां पूर्वोक्तस्थाने पूर्वोक्ता एव दण्डाः। अनुपजीव्यप्ररोहिशाखिषु वृक्षेषु दण्डः कल्प्यः।

किञ्च—

चैत्यश्मशानसीमासु अन्यस्थाने सुरालये।
जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृक्षेषु विश्रुते॥

स्पष्टार्थः। अत्र विशेषमाह मनुः—

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगे यथातथम्।
तथातथा दमः कार्यो हिंसायामतिचारणे॥

इति। अत्र विशेषमाह कत्यायनः—

देहेन्द्रियविनाशे तु यथा दण्डं प्रकल्पयेत्।
तथा तुष्टिकरं देयं समुत्थानं च पण्डितैः॥
समुत्थानव्ययं दाप्यः कलहाय कृतं च यत्।

इति बृहस्पतिस्मरणात्। अत्र प्रतिप्रसवमाह मनुः—

छिन्ने नस्ये युगे भग्ने तिर्यक्प्रतिमुखागते।
अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च॥

भे(छे)दने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च ।
आक्रन्देचाप्यवेहीति न दण्डो मनुरब्रवीत् ॥

शकटस्थेनावेहीत्याक्रन्दः अवेहीति प्लुतं दूरादाह्वानवाचकत्वात् । अपेहीति वा पाठः । अपसरेत्यर्थः । अवेहीत्याक्रन्द इत्यनेन अनाक्रन्दे दोष इत्यवगम्यते । तथाऽऽह स एव—

यत्रापि वर्तते युग्यं वैगुण्याद्व्र(त्प्रा)जकस्य तु ।
तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥

इति । व्रजकः—गन्ता ॥

इति श्रीप्रतापरुद्रमहाराजविरचिते स्मृतिसंग्रहे
सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे दण्ड-
पारुष्याख्यस्य पदस्य विलासः.

अथ द्यूतसमाह्वयाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते.

पूर्वप्रकरणे चौर्यप्रकरणं निरूपितं। द्यूतसमाह्वययोस्तुल्ययोगक्षेमतया चौर्यानन्तरं सङ्गतिः। अत्र मनुः—

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ।
तयोर्नित्यप्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान् भवेत् ॥

इति। तास्कर्यं तस्करत्वं। ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। यत्नवान् भूत्वा तान् निवारयेत्। तत्स्वरूपं नारदेनोक्तं—

अक्षवर्ध्रशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम्।
पणक्रीडा वयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम् ॥

अक्षाः पाचकाः। वर्ध्रः चर्मप्रतिका; काचनिर्मिता पात्रीति केचित्। शलाका दन्तादिमयी दीर्घचतुरश्रा। वृत्तेति केचित्। काचपात्र्यां वृत्तैरेव देवनात्। शेषं सुगमं। द्यूतसमाह्वययोर्भेदः प्रकरणादावुक्तः। यद्वा सङ्गत्यन्तरं पूर्वप्रकरणोक्तचौर्यविषये राज्ञामनुमतिर्नास्ति इहानुमतिरस्तीति तयोस्सङ्गतिः। तथा हि—

द्यूतं निषिद्धं मनुना सत्यशौचधनापहम्।
अभ्यनुज्ञातमन्यैस्तु राजभागसमन्वितम् ॥
सभिकाधिष्ठितं कार्यं तस्करज्ञानहेतुना।

इति—

अथवा कितवो राज्ञे दत्वा भागं यथोदितम्।
प्रकाशं देवनं कुर्यादेवं दोषो न विद्यते ॥

इति। समाह्वयं प्रस्तुत्याह बृहस्पतिः—

द्वन्द्वयुद्धेन यः कश्चिदवसादमवाप्नुयात्।
तत्स्वामिने पणो देयः यस्तत्र परिकल्पितः ॥

उभाभ्यामपि राज्ञे तत्पणचतुर्थांशो दातव्य इत्याह विष्णुः—'द्वन्द्वयुद्धे समाह्वये पणचतुर्थांशो राज्ञे दातव्य' इति। पणचतुर्थांश इत्यनेन उभाभ्यां दातव्यः कर इति प्रतीयत इत्याह भारुचिः। अत्र विशेषमाह विष्णुः—'मल्लमहिषमर्जं समाहूतं जयिने दद्यात्पराजितं पणं चापि दद्यात्' इति। अयमर्थः—समाहूतं समाह्वय इति इष्टमल्लमहिषान् वर्जयित्वा मेषकुक्कुटातिरिक्तादिकं मृतं वा हीनं वा जयिने दद्यात्। यदि न ददाति राज्ञा दातव्य इति। तत्र द्यूतसभाधिकारिणो वृत्तिमाह—'ग्लहवृद्धिं गृह्णीयात् सभिकः' इति। सभिकः—सभ्यः द्यूत इत्यनुवर्तते। वृद्धिपरिमाणमाह याज्ञवल्क्यः—

ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम्।
गृह्णीयाद्द्यूतकितवादितराद्दशकं शतम्॥

परस्परसम्प्रतिपत्त्या कितवपरिकल्पितः पणो ग्लह इत्युच्यते। तत्र ग्लहे तदाश्रया शतिका शतपरिमिता तदधिकप्रमाणा वेति विज्ञानेशः। सा वृद्धिर्यस्यासौ शतिकवृद्धिः। तस्माद्धूर्तकितवात्पञ्चकं शतमात्मवृद्ध्यर्थं सभिको गृह्णीयात्। इतरस्मात् जितद्रव्यस्य दशमं भागं गृह्णीयादिति यावत्। तस्य कर्तव्यमाह विष्णुः—'द्यूतं कारयेत्सभिको देयं च दद्यात्तत्कृतमिति। तथा च नारदः—

सभिकः कारयेद्द्यूतं देयं दद्याच्च तत्कृतम्।

इति। तत्र विशेषमाह याज्ञवल्क्यः—

स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम्।
जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी॥

इति। जितमुद्ग्राहयेज्जितसकाशादुद्धरेत्तज्जेत्रे दद्यात्। द्यूतकारिणां विश्वाससाधनं संकृत्सकृत्सत्यवाक्यं दद्यात्॥

अत्र विशेषमाह विष्णुः—

जितो यदि पणं सभिकाय न दद्यात् राज्ञा दाप्यः अदत्तः राजभागे प्रच्छन्ने द्यूते जितं पणं न दापयेदिति स्पष्टार्थः। जयपराजयविप्रतिपत्तौ निर्णय हेतुमाह याज्ञवल्क्यः—

द्रष्टारो व्यवहाराणां साक्षिणश्च त एव हि।

द्यूते व्यवहाराणां दष्टारस्तत्र त एव सभ्याः। त एव कितवा राज्ञा नियोक्तव्या न तु साक्षिप्रकरणोक्ताः। न तत्र स्त्रीबालवृद्धकितवेत्यादिनिषेधोऽस्ति। किञ्च—

द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात्।

अयमर्थः—एकमुखमेकप्रधानकं राजाध्यक्षाद्यधिष्ठितं कुर्यात्। प्रायशश्चौर्यार्जितधना एव कितवा भवन्ति। द्यूतधर्मं समाह्वयेऽतिदिशति याज्ञवल्क्यः—

एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिद्यूते समाह्वये।
ग्लहे शातकवृद्धेः . . . . . . . ॥

इत्यादि। कपटद्यूतमधिकृत्याह याज्ञवल्क्यः—

राज्ञा सचिह्नं निर्वास्याः कूटाक्षोपधिदेविनः।

इति। कूटैरक्षादिभिः। उपाधिर्नाम मतिवञ्चनहेतुना मणिमन्त्रौषधादिना ये दीव्यन्ति तान् सपद्येवाङ्कयित्वा राष्ट्रान्निर्वासयेत्। एतेषां चोरभेदात् श्वपदाङ्कनं। नारदस्तु विशेषमाह—

कूटाक्षदेविनः प्राप्तान् राजा राष्ट्राद्विवासयेत्।
कण्ठेऽक्षमालामासज्य स ह्येषां विनयःस्मृतः।

इति। अत्र विष्णुः विशेषमाह—

'गौञ्जिकचार्मिकादयः प्रतारका विवास्याः' इति। गौञ्जिकाश्चार्मिकाः चर्मणा व्यवहरन्ति।

अत्र भारुचिः। गौञ्जिकचार्मिकग्रहणेनोभयोश्चातुर्येणैकविषयत्वेन चौर्यमेवेति अयं गौञ्जिकादिव्यक्तिरेकैव कितवा। इतरस्तु वञ्चनीयकोटिरेवेति गौञ्जिकादयो न दण्ड्याः। अपि तु देशान्निर्वास्याः। अतश्च द्यूतं निषिद्धं मनुनेत्यादिवचनजातं कपटद्यूतविषयमिति मन्तव्यम् ॥

इति श्रीप्रतापरुद्रदेवमहाराजविरचिते स्मृतिसंग्रहे सरस्वतीविलासे व्यवहारकाण्डे द्यूतसमाह्वयाख्यस्य पदस्य विलासः.

अथ सप्तदशविवादपदशेषतया दण्डविधिरुच्यते.

---

याज्ञवल्क्यः—

सन्दिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः साधयेद्यश्च निष्पतेत् ।
न चाहूतो वदेत्किञ्चिद्धीनो दण्ड्यश्च स स्मृतः ॥
अपणश्चेद्विवादस्स्यात् तत्र हीनं तु दापयेत् ।
दण्डं च स्वपणं चैव धनिने धनमेव च ।
आध्यादीनां विहर्तारं धनिने दापयेद्धनम् ॥
दण्डं च तत्समं राज्ञे शक्त्यपेक्षमथापि वा ।
प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं नृपेण धनिने धनम् ॥
विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति ।
शौल्किके स्थानपाले वा निष्ठापह्नतमाहृतम् ॥
अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी हरेत्तत्परतो नृपः ।
प्रसन्नं साधयेन्नार्थं न वार्यो नृपतेर्भवेत् ॥
साक्ष्यमाने नृपं गच्छेद्दण्ड्योऽप्यन्यस्य तद्धनम् ।
राजा तु स्वामिनं विप्रं सान्त्वनेन प्रदापयेत् ॥
देशाचारेण चान्यांस्तु धृष्टान् संपीड्य दापयेत् ॥

याज्ञवल्क्यः—

भ्रष्टश्चेन्मार्गिते दत्ते दाप्यो दण्डं च तत्समम् ।
आजीवन् स्वेच्छया दण्ड्यो दाप्यस्तं चापि सोदयम् ।

मनुः—

अभावयन् दमं दाप्यो दूषणं साक्षिणां स्फुटम् ।
भाविते साक्षिणो वर्ज्याः साक्षिधर्मनिराकृताः ॥

दृश्यते यस्य सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणं ऋणं दाप्यो दमं च सः ॥
पृथक्पृथग्दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा ।
विवादद्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि ॥
चोरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥

याज्ञवल्क्यः—

अनृते तु पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ।
शेषाश्चेदनृतं ब्रूयुः नियुक्ता भूमिकर्मणि ॥
प्रत्येकं तु जघन्यास्ते विनेयाः पूर्वसाहसम् ।
मौनवृद्धादयस्त्वन्ये दण्डगता पृथक्पृथक् ॥
विनेयाः प्रथमेनैव साहसेनानृते स्थिताः ।
बहूनां तु गृहीतानां न सर्वे निर्णयं यदि ॥
कुर्युर्भयाद्वा लोभाद्वा दण्डस्तूत्तमसाहसम् ।

एतत् ज्ञानविषयं ।

कीर्तिते यदि भेदस्स्याद्दण्डयास्तूत्तमसाहसम् ।

एवमज्ञानादिनाऽनृतवचने साक्ष्यादीन् दण्डयित्वा पुनश्च सीमाविचारः प्रवर्तनीयः ।

अज्ञानोक्तान् दण्डयित्वा पुनस्सीमां विचारयेत् ।

इति—

मर्यादायाः प्रभेदे च सीमातिक्रमणे तथा ।
क्षेत्रस्य हरणे दण्डः अधमोत्तममध्यमाः ॥

नारदः—

माषं गां दण्डयेद्दण्डं द्वौ माषौ महिषीं तथा ।

तथाजाविकवत्सानां दण्डस्स्यादर्धमाषकः ।
भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्तात् द्विगुणो दमः ॥

अयमर्थः—यदि पशवः परक्षेत्रसस्यं भक्षयित्वा तत्रैव स्थिता वसन्तः शेरते तदा यथोक्तदण्डाद्द्विगुणो दण्ड्यो वेदितव्यः ।

सममेषां विवीतेऽपि खरोष्ट्रमहिषीसमम् ।

विवीतो नामावरुद्धस्तृणप्रचुरः ।

यावत्सस्यं विनाश्येत तावत्स्यात्क्षेत्रिणः फलम् ।
गोपस्ताड्यस्तु गोमी स्यात् पूर्वोक्तं दण्डमर्हति ॥

गोमी—गोस्वामी ।

पथि ग्रामे विवीतान्ते क्षेत्रे दोषो न विद्यते ।
अकामतः कामचारे चोरवद्दण्डमर्हति ॥

तत्र महोक्षहस्त्यश्वान्धबधिरकुब्जागन्तुकाः चतुष्पथे न दण्ड्या इति विष्णुः । 'यः समर्थो विसंवादे सर्वस्वहरणं दण्डस्तस्य पुरान्निर्वासः' इति । समर्थः—समयं पालयितुं शक्तोऽप्यग्र इति यावत् । याज्ञवल्क्यः—

अभक्ष्येण द्विजं दूष्य दण्ड उत्तमसाहसम् ।
मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं प्रथमं शूद्रमर्धिकम् ॥
कूटस्वर्णव्यवहारी कुमांसस्य च विक्रयी ।
त्र्यङ्गहीनस्तु कर्तव्यो दाप्यश्चोत्तमसाहसम् ॥

अयमर्थः—रसवेधाद्यापादितवर्णोत्कर्षैः 'कूटैः स्वर्णैः व्यवहारशीलः । कुमांसस्य कुत्सितमांसस्य श्वादिसम्बन्धस्य विक्रयशीलः । चशब्दात्कूटरजतादिव्यवहारी च सर्वे प्रत्येकं नासाकर्णकरैः त्रिभिरङ्गैर्हीनाः कार्याः । चशब्दात्त्र्यङ्गच्छेदनसमुच्चितं उत्तमसाहसदण्डं दाप्य इति विज्ञानेशः ।

यत्तु मनुनोक्तं—

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः ।
प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥

इति । तद्देवब्राह्मणराजस्वर्णविषयमिति विज्ञानेशः—

जारं चोरेत्यभिवदन् दाप्यः पञ्चशतं दमम् ।
उपजीव्यधनं मुञ्चन् तदेवाष्टगुणीकृतम् ॥

इति । याज्ञवल्क्यः—

मनुष्यमारणे क्षिप्रं चोरवत्किल्बिषी भवेत् ।
प्राणिहृत्सुमहत्स्वार्थं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥
क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।
पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥
गर्दभाजाविकानां तु दण्डस्स्यात्पञ्चमाषकः ।
माषकस्तु भवेद्दण्डः सस्रूकरनिपातितैः ॥

इति—

राज्ञः कोशापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद्विविधैर्दण्डैः अरीणां चोपकारकान् ॥

इति । अत्र विशेषमाह नारदः—

आयुधान्यायुधीयानां बाहादीन्वाह्यजीविनाम् ।
वेश्यास्त्रीणामलङ्कारान् वाद्यमातोद्यजीविनाम् ॥
यस्ययस्योपकरणं येन जीवन्ति कारुकाः ।
सवस्वहरणेऽप्येतन्न राजा हर्तुमर्हति ॥
मृताङ्गलग्नविक्रेतुः गुरोस्ताडयितुस्तथा ।
राजयानासनारोढुर्दण्ड उत्तमसाहसम् ॥

स्मृत्यन्तरमपि---

द्विजातिलिङ्गिनश्शूद्रान् घातयेन्मनुरब्रवीत् ।
हस्तेऽपलपमानं तु करणेन विभावितम् ॥
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ।

अत्र मेधातिथिना दशमांशदण्डदानासमर्थाधमर्णविषयमित्युक्तं ।

शारीरश्चार्थदण्डश्च दण्डस्तु द्विविधस्स्मृतः ।
शारीरस्ताडनादिस्तु मरणान्तः प्रकीर्तितः ॥
काकिण्यादिस्त्वर्थदण्डः सर्वस्वान्त उदाहृतः ।

इति—

शारीरो दशधा प्रोक्तः अर्थदण्डस्त्वनेकधा ॥

अत्र मनुः—

दश स्थानानि दण्डस्य मनुस्स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
उपस्थमुदरं जिह्वां हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥

इति । अयमर्थः—उपस्थं स्त्रीपुरुषयोर्लिङ्गं तन्निग्रहोऽगम्यागमने चौर्ये विदारणं जठरस्य—आहारनिवृत्तिरिति केचित् । वाक्पारुष्ये जिह्वाछेदनं । दण्डपारुष्ये हस्तयोः । तत्रैव पादग्रहणादौ पादयोः । गोप्यनिरीक्षणादौ चक्षुषोः । परस्त्रीस्तनानुलिप्तगन्धाघ्राणादौ नासिकायाः । राजमन्त्रश्रवणादौ कर्णयोः । धनापहरणे धनापहरणस्य महापातकादौ । अयं च विधिः क्षत्रियविट्छूद्राणां यत्र दण्डविशेषो नोक्तः तत्र ज्ञातव्यः । ब्राह्मणस्त्वक्षतो वध्य इत्युक्तं प्राक् । द्विविधो दण्ड इत्युपलक्षणार्थं । विधान्तरस्यापि स्मृतत्वात् ।

शिरसो मुण्डनं दण्डः तस्य निर्वासनं पुरात् ।
ललाटे गर्दभस्याङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च ॥

इति । तस्य ब्राह्मणस्येत्यर्थः ।

मौण्ड्यं प्राणान्तको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तको भवेत् ॥

इति मनुस्मरणात्—

हृतं प्रणष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात् ।
अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः स तु षण्णवतिं पणान् ॥
देशं कालं च भागं च ज्ञात्वा नष्टे बलाबलम् ।
द्रव्याणां कुशला ब्रूयुः यत्तद्दाप्यमसंशयम् ॥

शाणक्षमादौ द्रव्ये नष्टे—ह्रासमुपगते द्रव्याणां कुशलाः द्रव्यवृद्धिक्षयोदयाभिज्ञाः देशं कालमुपभोगं नष्टद्रव्यस्य सारासारतां परीक्ष्य यत्कल्पयन्ति तदसंशयं शिल्पिनो दातव्याः ।
अर्धप्रक्षेपणाद्विंशतं भागं शुल्कं नृपो हरेत् ।

व्यासिद्धं राजयोग्यं च विक्रीतं राजगामि तत् ।

व्यासिद्धमत्र न विक्रेयमिति प्रतिषिद्धं । राज्ञा राजयोग्यं च विक्रीतं माणिक्यादि प्रतिषिद्धमिति । तथा च नारदः—

मिथ्या वदन् परिमाणं शुल्कस्थानादपासरन् ।
दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च सव्याजक्रयविक्रयी ॥
तरीतेस्थजलं शुल्कं गृह्णन् दाप्यः पणान् दश ।
ब्राह्मणप्रातिवेश्यानामेतदेवा निमन्त्रणे ॥

अनिमन्त्रणे श्राद्धादाविति शेषः ॥

इति श्री प्रतापरुद्रदेवमहाराज विरचिते स्मृतिसंग्रहे
सरस्वती विलासे व्यवहारकाण्डे
सर्वशेषो दण्डीविधिः ॥

## अथ प्रकीर्णकाख्यस्य पदस्य विधिरुच्यते

पूर्वेषु सप्तदशसु प्रकरणेषु व्यवहारस्य चतुर्व्यापित्वं प्रतिपादितं। चतुर्व्यापित्वं नाम अर्थिप्रत्यर्थिसभ्यराजरूपानवयवान् चतुरो व्याप्नोतीति। अत्र प्रकीर्णकाख्ये राजैकानियतत्वमिति संगतिः—

एष वादिकृतः प्रोक्तो व्यवहारस्समासतः।
नृपाश्रयं प्रवक्ष्यामि व्यवहारं प्रकीर्णकम्॥

इति। एष इति सप्तदशविवादपदात्मकः। राजाश्रयत्वं नारद आह—

प्रकीर्णके पुनर्ज्ञेया व्यवहारा नृपाश्रयाः।
राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्कर्माकरणानि च॥
पुरप्रमाणसंभेदाः प्रकृतीनां तथैव च।
पाषण्डनैगमश्रेणीगणधर्मविपर्ययाः॥
पितापुत्रविवादश्च प्रायश्चित्तव्यतिक्रमाः।
प्रतिग्रहविलोपश्च लोप आश्रमिणामपि॥
धर्मसङ्करदोषश्च तद्वृत्तिनियमस्तथा।
न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णकम्॥

इति। एतद्वचनं नारदीयं। नारदोक्ताष्टादशविवादपदमध्यगत सप्तदशविवादेषु यन्नोक्तं तदेव प्रकीर्णकं कथितं। अस्मदीयस्मृतिनिबन्धस्तु सर्वस्मृतिसमुच्चय इति तदनुसारेण प्रतिपाद्ये तत्तदाकाङ्क्षावशात् तत्र तत्र विवादपदे राजैकानियता अपि व्यवहारा निर्णीताः। अत्र व्यवहारपदे प्रकीर्णकाख्ये मदीयग्रन्थानुसारेण

नारदीयानुसारेण च यत्पूर्वं नोक्तं तदेव कथ्यते। तथा हि—राज्ञामाज्ञाप्रतीघात इत्यस्यार्थः—राज्ञाऽस्मै ब्राह्मणाय क्षत्रियाय वा एतावद्द्रव्यं देयं इत्याज्ञायां दत्तायां यस्तु न करोति तेन द्रव्यं तस्मै दापयित्वा स तद्द्विगुणं दण्ड्य इति॥ तदाह विष्णुः—आज्ञाप्रतिघाते द्विगुणो दम इति। अयमर्थः—द्विगुण इति द्वैगुण्योक्त्यैवाज्ञप्तं द्रव्यं तस्मै दापयितव्यमिति ज्ञायत इति भारुचिः। तत्कर्मकरणानीत्यस्यार्थः—तस्य राज्ञः कर्म राज्यं तस्य करणं मुद्रिकामगृहीत्वेति शेषः। 'अनादिष्टस्सन्नध्यक्षतां व्रजति तदनुसारेण दण्ड्य इति' विष्णुस्मरणात्॥ पुरप्रमाणसंभेदाः—पुरं प्रसिद्धं प्रमाणानि साधनानि हस्त्यश्वरथपदातिप्रभृतीनि तेषां संभेदः शत्रूणां अवेदनं मर्मोद्घाटनमिति यावत्। प्रकृतीनां त्वमात्यानां परस्परपैशुन्यकथनेन भेदकरणं। तथा च संवर्तः—

अमात्यानां च पैशुन्ये पुरमानप्रभेदने।
मध्यमं चोत्तमं चैव दण्ड एष क्रमोदितः॥

इति। यथाक्रमं प्रकृतीनां पैशुन्ये मध्यमसाहसं पुरप्रमाणमर्मकथने उत्तमसाहसं दण्ड्यः। चकाराच्छारीरो दण्डो यथार्ह इति। अत्र पैशुन्यशब्दः भावे ष्यञन्तः। पिशुनस्य भावः पैशुन्यं।

पाषण्डनैगमश्रेणिगणधर्मविपर्यया इति। अस्यार्थः—पाषण्डिनां धर्माः पट्टणे अस्मिन् स्थले पाषण्डिनः स्थापयितव्याः नैगमा अपि श्रेणयोऽपि गणा अपीत्यादिप्रतिनियतस्थलावस्थानानि धर्माः तेषां विपर्ययो न तु कुङ्कुमवसन्तान्दोळिकादयस्तेषां समयानुपाकर्माख्ये प्रतिपादितत्वात्। तेषां विवादानां वादिप्रतिवादिसद्भावे चतुर्व्यापित्वसद्भावात् राजैक-

नियतत्वाभावाच्च । पितापुत्रविवादश्चेति–अयमर्थः—यः कश्चि-द्बन्दीकृतो वा देशान्तरगतो वा चिरकालमपि स्थित्वा समागत्यासौ मम पितासौ पुत्र इत्यादि ; पितृपुत्रग्रहणं पत्न्यादीनामुपलक्षकं । असौ मम पतिरियं पत्नीत्यादि ; अत्र साक्षिणो न सन्ति स्वयं तु न जानन्ति दिव्यादिकं नावतरति शपथादिभिः शोधयितुमनुचितमिति ; अतश्च राजैकनियतत्वात् राज्ञैव निर्णयः कार्य इति । पितापुत्रसंशये निर्णयप्रकारमाह विष्णुः—पुत्रसंशये माता तमङ्कमारोपयेद्विक्रुतिश्चेन्निर्णेतव्य इति । प्रक्रुतिः कामविकारः । तद्विंशतिवर्षीयमातृकपञ्चदशवर्षीयपुत्रविषयं । वृद्धमातृविषये तदभावान्निर्णयान्तरमाहतुः शङ्खलिखितौ—

स्वपन्तंपुत्रमाहूय ज्ञातव्यमिति । एकेनापि प्रकारेण निर्णयाभावे अभिषिक्तस्य राज्ञो हृदयमेव प्रमाणमित्याह विष्णुः—अत्र राज्ञो हृदयमेव प्रमाणमिति । अत एवाह काळिदासः ।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणस्य वृत्तयः ॥

इति । प्रायश्चित्तव्यतिक्रम इत्यस्यार्थः—प्रयाश्चत्तिकरणव्यतिक्रमः । तद्व्यतिक्रमे प्रायश्चित्तं कारयितव्यमिति प्रायाश्चित्तकरणस्य राजैकनियतत्वात् राज्ञैव प्रायश्चित्तं कार्यमिति । तथा च देवलः—

कृ ाणां दापको राजा निर्दिष्टो धर्मपालकः ।

इति । महापापेषु कृच्छ्राणां प्रायश्चित्तानां दापको राजा भवति । ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तेषु राजाज्ञां विना द्विजाद्यैः प्रायश्चित्तं न प्रवर्तयितव्यमित्यर्णवकारः । प्रतिग्रहविलोपश्चेति प्रतिग्रहशब्देन स्वाध्यायग्रहणं लक्ष्यते । परकृतोपसर्गात्त्रैविद्यवृद्धानामाक्रोशं वेदाध्ययनविषयं कृत्वा तत्परिपालनं कर्तव्यं । तस्य राजैकनिय-

तत्वात् । लोप आश्रमिणमिति अस्यार्थः—आश्रमिणां ब्रह्मचारिगृहिवानप्रस्थयतीनां तद्विशेषाणां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसानां एकतीर्थ्यादीनां लोपः तद्धर्मलोपः स च निर्ग्राह्यः । यतीनां मध्ये यस्तु भ्रष्टस्स तु राज्ञो दास इति पूर्वमेव प्रतिपादितत्वात् तदेतद्विषयं न भवतीत्यवगन्तव्यं । सर्वसङ्करदोषः स्पष्ट एव । तद्वृत्तिनियमस्सोऽपि स्पष्टः । न दृष्टं यच्च पूर्वेषु इति । अयमर्थः—यस्तु ग्रामेऽभिशस्तः प्रत्यर्थी नास्ति ग्रामीणास्तु अभिशाप इति वदन्ति तत्र राज्ञा निर्णयः कार्य इत्याद्यूह्यं । एते राजधर्माः प्रकरणादावेव वक्तव्याः तथाऽपि व्यवहारात्मकत्वात् व्यवहारपदानन्तरमेवोक्तमिति ध्येयं । अथवा सप्तदशविवादपदप्रकीर्णकपदयोः सङ्गत्यनन्तरं—पूर्वं पराजितस्यैव दण्डविधानमुक्तं । अत्र जयिनोऽपि दण्डविधानमिति अनयोः सङ्गतिः । यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

दुर्दृष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वैर्व्यवहारान्नृपेण तु ।
सभ्यास्सजयिनो दण्ड्या विवादद्विगुणं दमम् ॥

अप्राप्तजेतृदण्डविधिरूपत्वाद्वचनस्य सभ्यदण्डपरत्वं सभ्यानां दोषसद्भावे दण्डविधानं प्रकरणादौ उक्तमिति जयिनो दण्डविधानमत्र प्रतिपाद्यते. । अत्र यद्यपि भूतपूर्वगत्या जयिनो जयित्वं न पुनर्न्यायेन जितत्वादित्याशङ्क्य पूर्वत्र सप्तदशसु प्रकरणेषु यन्निर्णीतं तन्न परावर्त्यमित्युक्तं ।

सभ्यदोषात्तु यन्नष्टं देयं सभ्येन तत्तदा ।
कार्यं तु कारिणामेव निश्चितं न विचारयेत् ॥

इति स्मरणात् । अत्र तु सभ्यदोषसद्भावे पुनर्न्यायः कार्य इत्येवम्परं वचनमित्युक्तं व्याख्यातृभिः । अतश्च सङ्गतिश्चोक्तैव अस्मिन्प्रकरणे पुनर्न्यायः कार्य इति । अत एव याज्ञवल्क्यः—

यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः ।
तमायान्तं पुनर्जित्वा दापयेद्द्विगुणं दमम् ॥

अत्र नारदः—

स्त्रीषु रात्रौ बहिर्ग्रामादन्तर्वेश्मन्यरातिषु ।
व्यवहारः कृतोऽप्येषु पुनः कर्तव्यतामियात् ॥

राज्ञ इति शेषः । राजैकनियतत्वाद्व्यवहारस्य । तथा च याज्ञवल्क्यः—

बलोपाधिविनिर्वृत्तान्व्यवहारान्निवर्तयेत् ।

इति । अतः पश्चाद्व्यवहारानन्तरं प्रवर्तयेदित्यभिप्राय इति चन्द्रिकाकारः ॥

अत्रापि विशेषमाह मनुः—

मत्तोन्मत्तातिभीतैश्च बालेन स्थविरेण च ।
असम्बन्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति ॥

असम्बन्धोऽर्थिप्रत्यर्थिरहितः । तथा च मनुः—

तरीतं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥
असत्सदिति यः पक्षः सभ्यैरेवावधार्यते ।
तरीतस्सोऽनुशिष्टस्तु साक्षिवाक्यात्प्रणीयते ॥

तत्स्त्रीकृतत्वादिहेत्वभावविषयमित्यवगन्तव्यं । पुनर्न्याये निर्णयपूर्वं सभ्यैरन्यायेन यद्दण्डरूपेण द्रव्यमाहृतं तस्य विनियोगमाह याज्ञवल्क्यः—

राज्ञा न्यायेन यो दण्डो गृहीतो वरुणाय तम् ।
निवेद्य दत्वा विप्रेभ्यः स्वयं त्रिशद्गुणीकृतम् ॥

अन्यायेन यो दण्डः पूर्वेण राज्ञा लोभाद्देनः गृहीतः तत्त्रिगुणी-

कृतं वरुणायेति सङ्कल्प्य ब्राह्मणेभ्यः स्वयं दद्यात् । यस्माद-न्यायेनार्जितात्सकाशाद्दण्डरूपेण यावद्गृहीतं तावत्तस्मै प्रदेयमिति । अथवा सङ्गत्यन्तरं—

भूतच्छलानुरोधेन द्विगतिस्समुदाहृतः ।

इति व्यवहारस्य छलानुसरणं तत्वासरणं इति गतिद्वयमुक्तं । तत्र तत्वानुसरणेन सप्तदशविवादपदान्यनुक्रान्तानि । छलानुसरणेन प्रकीर्णकाख्यं विवादपदमनुक्रान्तमिति । तथा च बृहस्पतिः—

साक्षिसभ्यार्थसन्नानां दूषणे दर्शनं पुनः ।
स्ववाचैव जितानां तु नोक्तः पौनर्भवो विधिः ॥

इति । अत्र व्यवहारान्नृपः पश्येदिति विधिः स्वापराधेन व्यवहारस्य समाप्तत्वात् स्ववागनुसरणरूपच्छलमेवावलम्बते न तु प्रमाणान्तरगवेषणां विलम्बासहत्वाद्विधेः ।

अत्र विशेषमाह मनुः—

अमात्याः प्राड्विवाको वा यः कुर्यात्कार्यमन्यथा ।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान् सहस्रं च दण्डयेत् ॥

अतः पुनर्न्यायो राजैकनियत इति स्वयंनृपतिपदाभ्यां गम्यते । अत्र प्रतिप्रसवमाह कात्यायनः—

न क्षेत्रगृहदासानां दानाधमनविक्रयाः ।
अस्वतन्त्रकृताः सिद्धिं प्राप्नुयुर्नानुवर्णितम् ॥

अस्वतन्त्रकृतं परावर्त्यमेव नास्त्यत्र पुनर्न्याय इति भावः । अनु वर्णिताः स्वतन्त्रेणादिष्टाः । अस्वतन्त्रानाह नारदः—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः पुत्राः दासाद्याश्च परिग्रहाः ।

इति । परिग्रहा उपजीविनः । अत्र विशेषमाह कात्यायनः—

अस्वतन्त्रकृतं कार्यं तस्य स्वामी निवर्तयेत् ।

न वार्ता दिवदेतान्यो भीतोन्मत्तकृताद‍ृते ॥

भीतोन्मत्तकृतनिवर्तने राज्ञ एव अधिकारात् । भीतोन्मत्तादिस्वामिना निवर्तकेन सह न्यस्य विवादः नात्यन्तानुचित इत्यभिप्रायः । अनुवर्णितस्वरूपमाह । बृहस्पतिः—

यस्स्वामिनाऽभियुक्तस्तु धनायव्ययपालने ।
कुसीदकृषिवाणिज्ये निसृष्टार्थस्तु सःस्मृतः ॥
प्रमाणं तत्कृतं सर्वं लाभालाभव्ययोदयम् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा स्वामी तन्न विसंवदेत् ॥

इति । अत्र नारदः—

कृतान्यप्यप्रमाणानि कार्याण्याहुरनापदि ।

इति । स्त्रीग्रहणमस्वतन्त्रोपलक्षणार्थं ॥

एवंच आपादि तु अस्वतन्त्रकृतान्यपि प्रमाणानीत्यार्थिकार्थः प्रत्येतव्यः । अत्र अपवादमाह स एव—

विशेषतो गृहक्षेत्रे दानाधमनविक्रयाः ।

इति । गृहक्षेत्रयोः दानाधमनविक्रयास्तु आपद्यप्यस्वतन्त्रकृतास्तु न सिध्यन्तीत्यर्थः । अत्र कात्यायनः—

सिद्धिस्तु शास्त्रतत्त्वज्ञैः चिकित्सा समुदाहृता ।
प्रायश्चित्तं च दण्डं च ताभ्यां सा द्विविधा स्मृता ॥

इति । अत्र नारदः—

एवं पश्यन् सदा राजा व्यवहारान् समाहितः ।
वितत्येह यशो दीप्तः इन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥

बृहस्पतिरपि—

एवं सभ्यैर्दिवा राजा कुर्यान्निर्णयपालनम् ।
वितत्येह यशो लोके महेन्द्रसाचिव्यं भवेत् ॥

साक्षिलेख्यानुमानेन प्रकुर्यात्कार्यनिर्णयम् ।
वितत्येह यशो राजा ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥

मनुरपि—

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् सदा नयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं ब्रह्मलोके महीयते ॥

इति—

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थं धर्मेण पश्यति ।
प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥
प्रजारञ्जनशीलस्य नित्यं वृद्धोपजीविनः ।
आयुः प्रजा धनं कीर्तिः तस्य सिध्यन्त्यसंशयः ॥
अमी ननु मुनीश्वरा मनुवसिष्ठयोगीश्वरा
निबन्धनकृतोऽप्यमी रुचिकुलार्कयोगीश्वराः ।
गता विगतमत्सरा भवतु वा भवानीपतिः
स तुष्यतु परां मम स्मृतिनिबन्धवाग्वैखरीम् ॥

इति प्रकीर्णकाख्यस्य पदस्य विलासः

इति श्रीवीरगजपति गौडेश्वर नवकोटिकर्णाटकलुबुरिगेश्वर
जमुनापुराधीश्वरहुशनसाहि सुरत्राण शरणरक्षण श्री-
दुर्गावरपुत्र परमपवित्रचरित्र राजाधिराजराज-
परमेश्वर श्रीप्रतापरुद्रमहादेवमहाराज वि-
रचिते स्मृतिसंग्रहे सरस्वतीविलासे
व्यवहारकाण्डे अष्टादशविवाद-
पदनिर्णयो नाम
पञ्चमोल्लासः